पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के अतीत की झाँकी

सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली-११०००७

पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के

अतीत की झाँकी

पी० एन० सेमवाल

दर्जनो छोटी छोटी ठकुराइया इन बडे राज्यो के साथ जुडी थी, अट्ठारहवी सदी मे ये ठकुराइया मुख्यत बिलासपुर के साथ जुडी थी, परन्तु उस सदी के अन्तिम चरण मे कागडा के राजा ससारचन्द का अभ्युदय हुआ। ससारचन्द ने नालागढ के साथ मिलकर बिलासपुर को त्रस्त किया। परिणामत बिलासपुर की शक्ति क्षीण हुई और इन ठकुराइयो पर अधिकार सिरमौर के पास चला गया। पर इसका श्रेय मुख्यत गोरखा कमाण्डर अमरसिंह थापा को था जिसने १८०३ के लगभग तलवार के बल से इन सभी ठकुराइयो पर सिरमौर के अधीनस्थ होने की मोहर लगाई। इससे पूर्व का इनका इतिहास अतीत के अन्धकार में धूमिल है। ले० रॉस ने जो नेपाल युद्ध के बाद इन पहाडी राज्यो का सहायक पोलिटिकल एजेण्ट था और जिसका कार्यालय १८१५ मे सपाटू मे था, बारह बडी और अट्ठारह छोटी ठकुराइयो का उल्लेख किया है। इन ठकुराइयो के अलावा सतलुज और यमुना के मध्यवर्ती क्षेत्र मे तीन-चार बडे राज्य थे, सिरमौर, बिलासपुर, नालागढ और धुर उत्तर पूर्व म बुशैहर। बुशैहर मूलत कन्नौर क्षेत्र का राज्य था। सत्रहवी सदी के उत्तरार्द्ध और अट्ठारवी सदी म इसका विस्तार रामपुर और नावर-रोहड क्षेत्र मे हुआ और उत्तरी क्षेत्र मे यह एक बडा राज्य बन गया। अट्ठारहवी सदी मे बुशैहर ने सतलुज की निचली घाटी मे कोटखाई, कुमार सेन और कुल्लू तक के कुछ इलाको को हस्तगत किया। शिवालिक के उपगिरि क्षेत्र मे कहलूर, हडूर और सिरमौर बडे राज्य मुगलो की जानकारी मे थे। शेष ठकुराइया तो इन बडे राज्यो की परिशिष्ट मात्र थी। सन् १८१५ म सतलुज और यमुना क मध्यवर्ती क्षेत्र म अग्रेजी राज्य स्थापित हुआ और ये ठकुराइया भारत के मान चित्र पर उभर आई। शिमला की स्थापना और विकास से इनका महत्व और भी बढ गया। जून १८५० मे लॉर्ड डलहौजी चौदह दिन की विकट यात्रा के बाद शिमला से १४५ मील दूर कनौर के चीनी गाव मे पहुचा। वह वहा स्वास्थ्य-लाभ के लिये गया था। उसने वर्षा काल के तीन महीने वहा बिताये थे। तब चीनी गाव तक का मार्ग तग उबड-खाबड, कही ऊचे पहाडो पर जाता था तो कही नीची घाटियो मे उतरता था। उसकी इस यात्रा का परिणाम यह हुआ कि उसने शिमला से चीनी गाव तक के मार्ग, हिन्दोस्तान तिब्बत राज मार्ग के निर्माण का आदेश दिया। यह काम कर्नल कनैडी और मेजर ब्रिगज को सौंपा गया। तिब्बत के साथ ऊन, पशम आदि के व्यापार का प्रलोभन इस निर्माण कार्य मे निहित था। यद्यपि यह व्यापार बुशैहर के साथ सदियो पुराना था, पर इस सडक के बनने से एक विशेष सुविधा हो गई। और यह अज्ञात क्षेत्र नये प्रकाश मे आ गया।

सतलुज पार का क्षेत्र मुख्यत व्यास घाटी है। इसमे पुराना त्रिगर्त राज्य और इसके अधीनस्थ छोटे बडे कई राज्य थे। रावी की घाटी चम्बा राज्य था। परन्तु पुराने समय से ही यह त्रिगर्त क्षेत्र के अन्तर्गत माना जाता था। त्रिगर्त समुदाय मे ग्यारह राज्य थे, कागडा, गुलेर, जसवा, सीबा, नूरपुर, चम्बा, दातारपुर, सुकेत, मण्डी, कुटलैहड और कुल्लू। इसी प्रकार दुगर (जम्मू) समुदाय म भी ग्यारह राज्य थे, एक जम्मू का साम्राज्य था और दूसरा त्रिगर्त का। पर मुगलो की सत्ता स्थापित होने पर ये दोनो

समुदाय बडे साम्राज्य के अधीन हो गये। अक्वर के समय कई वार इन समुदायों के राजाओ मे से कइयो ने मुगल-सत्ता के विरुद्ध बगावत की। इस विद्रोह का परिणाम यह हुआ कि अक्वर ने वन्धक रखने की प्रथा को जारी किया। प्रत्येक राज्य का एक राजकुमार को दिल्ली के मुगल दरबार मे अपनी राज-भक्ति और निष्ठा प्रदर्शित करने के लिये बन्धक के रूप मे रखना पडता था। इन राजकुमारो की शिक्षा-दीक्षा दरबार मे मुगल अदब के अनुसार होती थी। उस अशान्त युग मे इन राजाओ को नियन्त्रण मे रखने का यह एक कारगर ढग था। हो सकता है कि मध्य एशिया के इन विजेताओ की बन्धक रखने की पुरानी परम्परा हो। जब जहागीर गद्दी पर बैठा तो मुगल-दरबार मे पहाडी राजाओ के बाइस राजकुमार बन्धक के रूप मे रह रहे थे। इनमे ग्यारह डूगर समुदाय के थे और ग्यारह त्रिगर्त समुदाय के। इन राजकुमारो को शिष्टाचार मे मिया कहा जाता था। बाद म पर्वतीय क्षेत्र मे ज्येष्ट राजकुमार को टिक्का और शेष को मिया कहा जाने लगा। जहागीर के राज्य-काल तक पर्वतीय क्षेत्र के सभी राजा मुगलो के नियन्त्रण मे आ चुके थे। तब इनको मुगलो के विरुद्ध बगावत करने का दु साहस नही हुआ। मुगल सम्राट पहाडी राजाओ को 'जिमीदार' कहते थे। राजा, राणा आदि उपाधिया मुगल दरबार की ओर से व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के लिये दी जाती थी। औरगजेब के समय मे पहाड के राजा लगभग स्वतन्त्र हो गये। उसके अन्तिम दिन दक्षिण विजय मे व्यतीत हुये। फलत उत्तर मे मुगल सत्ता का भय प्राय समाप्त हो गया।

अट्ठारहवी सदी के उत्तरार्द्ध मे नैपाल मे गोरखा शक्ति का उदय हुआ। काठमाण्डू के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र मे 'बाईसी' और 'चौबीसी' नाम के छयालीस छोटे-छोटे राज्य थे। गोरखा राज्य उनमे से एक था। पृथ्वीनारायण शाह नाम के गोरखा शासक ने अपने शासन-काल (१७४२-१७७५) के ३३ वर्षो मे इन सब राज्यो को जीत कर उनको सुदृढ शासन मे सगठित किया। उसके उत्तराधिकारियो के समय मे उन्नीसवी सदी के आरम्भ मे गोरखा सेना ने कुमाऊ और गढवाल को जीतकर थोडे समय म ही सिरमौर और बिलासपुर पर भी अधिकार कर सतलुज के तट तक गोरखा राज्य का विस्तार कर लिया। सन् १८०६ मे इस सेना ने सतलुज को पार कर कागडे के किले को घेर लिया। उस समय राजा ससारचन्द कागडे का शासक था। नैपाली सेना ने लगभग चार वर्ष तक कागडे के किले को घेरे रखा। सन् १८०६ मे ससारचन्द ने रणजीतसिंह को नैपालियो को निकालने के लिये बुलाया। महाराज रणजीतसिंह ने नपालियो का कागडा से निष्कासन किया। गोरखाओ का लक्ष्य सिक्किम से लेकर काश्मीर तक समस्त पहाडी क्षेत्र मे गोरखा साम्राज्य कायम करना था, परन्तु १८०६ मे कागडा मे महाराजा रणजीतसिंह से पराजित होने पर गोरखाओ की महत्वाकाक्षा पर पानी फिर गया। तब तक रणजीतसिंह ने भी काश्मीर को नही जीता था। उसने सन् १८१६ मे काश्मीर को जीता था, इस सहायता के बदले मे रणजीतसिंह को कागडे के कुछ क्षेत्र और किले पर अधिकार प्राप्त हुआ। परन्तु रणजीतसिंह ने अगले कुछ ही वर्षो मे कागडा क्षेत्र के सभी राजाओ को पद-च्युत कर उनको जागीरें प्रदान की और उनके राज्य को अपने राज्य मे

मिला लिया। इस व्यापक विलय नीति से केवल चम्बा, मण्डी और सुकेत बचे थे। इस प्रकार इस पहाड़ी क्षेत्र पर, रावी और सतलुज के मध्यवर्ती क्षेत्र पर, सन् १८०६ से १८४६ तक लाहौर दरबार का शासन रहा। परन्तु १८४६ मे अंग्रेजो और सिखो के प्रथम युद्ध मे सिखो की हार हुई। फलत लाहौर दरबार को यह सारा पहाड़ी क्षेत्र छोडना पडा और अब यह क्षेत्र अंग्रेजी राज्य का भाग बना। कागडा क्षेत्र के पद-च्युत राजाओ ने उस समय अपने राज्यो को पुन प्राप्त करने का प्रयत्न किया। वे भी शिमला क्षेत्र के राजा, राणा और ठाकुरो की भान्ति पुन अपने राज्याधिकार चाहते थे, परन्तु अंग्रेजों ने उनकी माग ठुकरा दी और जो स्थिति सिखो के प्रथम युद्ध से पहले थी, उसी को मान्यता दी। नेपाल युद्ध के समय सन् १८१४ मे अंग्रेजों ने यमुना और सतलुज के मध्यवर्ती पहाडी क्षेत्र के राजाओ, राणाओ और ठाकुरों को यह वचन दिया था कि यदि वे नेपाल के विरुद्ध लडाई मे अंग्रेजो की सहायता करेंगे तो उनको उनके राज्य वापिस दे दिये जायेंगे। फलत तीस के लगभग ये छोटे राज्य अंग्रेजों की छत्र-छाया मे जीवित रहे। इनका पुनर्गठन १५ अप्रैल १९४८ मे हिमाचल प्रदेश के रूप मे हुआ। यह सम्भवत महाराजा रणजीतसिंह की दूरदर्शिता थी कि १८१५ के लगभग उसने कागडा क्षेत्र के राज्यो का जिनमें नूरपुर, गुल्लेर, जसवा, दातारपुर, सीवा आदि प्रमुख थे विलय सिख राज्य में कर दिया था। यदि १८४६ तक ये राज्य जीवित रहते तो उन्हे भी १९४८ मे हिमाचल प्रदेश मे मिल जाना था जैसे कि चम्बा और मण्डी राज्यो का विलय हुआ। परन्तु ऐतिहासिक परिस्थितिया भिन्न होने से यह क्षेत्र इस प्रदेश में सन् १९६६ मे मिल सका। उन भिन्न परिस्थितियो के कारण ही शिमला क्षेत्र के राज्य और ठकुराइया १८१५ के बाद लगभग सवा सौ वर्ष तक अपने आपको जीवित रख सकी।

बहुत प्राचीन समय से समस्त पश्चिमी हिमालय क्षेत्र मे समाज का सामन्ती ढाचा था। बड़े राज्यो के उदय होने पर भी समाज की रचना सामन्ती प्रथा के अनुरूप ही रही। सबसे निम्न स्तर पर खेती-हर किसान और कामगर जैसे तेली, कुम्हार, लोहार बढई आदि थे, भूमि का स्वामी राजा या ठाकुर होता था। खेती हर का काम राजा की भूमि पर अन्न उगाना था और वह तभी तक इस भूमि का स्वामी था, जब तक वह उसको जोतता था और राजा या ठाकुर को उसका 'भाग' देता था। राजा का पद 'पृथ्वीनाथ' इसीलिये था कि वह इस भूमि का स्वामी था। कई ठकुराइयों मे यह प्रथा भी थी कि प्रत्येक पुश्त पर ठाकुर को नजराना देना पडता था। तभी नई पीढी को उस भूमि को जोतने का अधिकार मिलता था। ठाकुर के रुष्ट होने पर खेती-हर को वह उस जमीन से बेदखल भी कर सकता था। उन्नीसवी और बीसवी सदी मे जब आधुनिक ढग की पैमायश हुई तब जिमीदारो को भूमि का स्वामित्व प्राप्त हुआ। तब वे अपनी जमीन को बेच सकते या रहन रख सकते थे। समाज का यह सबसे अधिक विपन्न शोषित और उपेक्षित वर्ग था। इसी कोटि मे लोहार, बढई, चमार आदि आते थे। ये खेती हर और ठाकुर की आवश्यकताओ की पूर्ति करते और प्रथा के अनुसार जो अकिंचितन पारिश्रामिक इनको मिलता उसी पर इनको सन्तुष्ट रहना पडता था। सघर्ष और

प्रतिस्पर्द्धा की भावना उस समाज मे नही के बराबर थी, समाज का यह निम्न वर्ग प्रथा और रुढिगत नियमो से नियन्त्रित था। विरोध और परिवर्तन उस व्यवस्था को छू भी नही सकता था। राजा के कृपा-पात्रो का समाज मे एक अलग वर्ग था। वे थे राजा के सगे-सम्बन्धी, कुल-गुरु, कुल पुरोहित, निष्ठावान सेवक बडे-बडे पदाधिकारी आदि। इस वर्ग को जागीरें प्रदान की जाती और इस प्रकार राजा अपने इहलोक और परलोक दोनों को सुधारता था। पर यह भी परालम्बी और शोषक वर्ग था। खेती-हर को इन माफीदारों की जमीन पर भी काम करना पडता था। खेतीहर राजा की जमीन पर काम करे अथवा माफीदर की भूमि पर, उसकी स्थिति दोनों अवस्थाओ मे समान थी। परोपजीवी राजा, ठाकुर और माफीदार को निम्नस्तर के खेत हर के श्रम पर निर्भर रहना पडता था। यह सामाजिक व्यवस्था अज्ञात अतीत से लेकर बीसवी सदी के पूर्वार्द्ध तक इन ठकुराइयो मे प्रचलित रही।

इस पुस्तक मे जिन ग्रन्थो, और कृतियो का सहारा लिया गया है उनका अनुमान सन्दर्भ ग्रन्थो की सूची से लग जावेगा। मैं उनके लेखकों के प्रति हृदय से आभार प्रकट करता हू। मेरा काम तो इस बिखरी हुई सामग्री को विधिपूर्वक पुस्तकाकार मे प्रस्तुत करना था। सम्भवत हिन्दी मे इस प्रकार का पहला प्रयास हो। जहा तक कुछ ऐतिहासिक तथ्यों की व्याख्या है, वह मेरी अपनी है। यदि यह भ्रान्ति-पूर्ण है तो भावी शोध-कर्ता इनको सही परिपेक्ष्य मे प्रस्तुत करेंगे। यदि इसके लिये उनका मार्ग प्रशस्त हुआ हो तो मुझे सन्तोष होगा। मैं हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी का कृतज्ञ हू कि इस संस्था ने इस पुस्तक के प्रकाशन के लिये अनुदान दिया है। श्री ओमचन्द हाण्डा ने कुछ चित्र बनाकर मेरी सहायता की। तदर्थ मैं उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हू। अन्त मे मैं मिया गोवर्द्धनसिंह, सचिवालय पुस्तकालय के अध्यक्ष के प्रति अपना आभार प्रकट करता हू। इनके परामर्श और दुर्लभ पुस्तकों के बिना यह कार्य अधूरा रहता।

लेखक—

विषय-सूची

१. गणराज्यों का युग

प्राचीन गण-राज्य—

वर्तमान हिमाचल प्रदेश पुराने समय में जालन्धर खण्ड कहलाता था। इसकी सुनिश्चित क्या सीमा थी, यह बताना कठिन है, पर मोटे तौर पर पर्वतीय क्षेत्र में रावी और सतलुज के बीच का भू भाग एव मैदानी भाग मे जालन्धर के आस-पास का प्रदेश जालन्धर खण्ड मे सम्मिलित था। कुल्लू भी पुराना राज्य था और इसका क्षेत्र अतीत मे बहुत विस्तृत था। प्राचीन काल मे सम्भवत मण्डी सुकेत और बुशहर का काफी भाग कुल्लू राज्य मे सम्मिलित था। इसी प्रकार चम्बा की गणना भी अत्यन्त प्राचीन राज्यों मे की जाती है। परन्तु दसवीं शताब्दी से पूर्व इस राज्य का केन्द्र विकट पर्वतो से घिरा दूरस्थ भरमौर मे था। तब इसका क्षेत्र इतना विस्तृत नही था जितना शैल वर्मा के राज्य-काल मे चम्पा नगरी की स्थापना के समय और उसके बाद बना। जालन्धर खण्ड के अतीत के इतिहास की समस्या ऐसी ही विकट है जैसे समूचे देश के प्राचीन इतिहास की। क्षेत्रीय इतिहास होने से यह विषय और भी कठिन है।

ऐतिहासिक सकेत—

प्राचीन काल के इतिहास को जानने के कोई विश्वसनीय साधन प्राप्त नहीं हैं। इस क्षेत्र मे प्राप्त सिक्को के आधार पर पुरातन इतिहास के सूत्र को जोडने का प्रयत्न किया गया है। कुछ बिखरी हुई सामग्री पौराणिक वाड्मय मे इस क्षेत्र के बारे में पाई जाती है, पाणिनीय अष्टाध्यायी मे एक सूत्र मे त्रिगर्त का सकेत है। यह ग्रन्थ बहुत प्राचीन रचना है—ईसा से चार से पाच सौ वर्ष पहले की रचना। उस समय भी वर्तमान कांगड़ा उपत्यका ख्याति प्राप्त थी और इसका नाम त्रिगर्त था। पाणिनी से परवर्ती रचनाए, महाभारत और पुराणो मे त्रिगर्त व पर्वतीय क्षेत्र मे बसने वाली जातियो का अलग-अलग प्रसगो मे प्राय उल्लेख आया है। सब से प्राचीन प्राप्य सिक्का कुल्लू राज्य का है। इसका काल ईसा की पहली और दूसरी शताब्दी माना जाता है। कुछ इतिहासकार इसको ईसा सन् से दो सौ वर्ष पहले का मानते हैं। इस सिक्के पर लिखी गाथा इस प्रकार है—'राणा कौलूतस्य वीर यशस्य', इसका अर्थ है कौलूत (कुल्लू) के राणा वीर यश का सिक्का है, कुल्लू का प्राचीन नाम कौलूत या कुलूत था। सिक्के के दूसरी ओर राजा की उपाधि मात्र है। यह उपाधि 'राणा' थी, इस सिक्के का ऐतिहासिक महत्व इतना ही प्रतीत होता है कि कौलूत बहुत प्राचीन राज्य था और वीरयश तत्कालीन शासक था। इसके अलावा और कोई अधिक सूचना इसमे प्राप्त नही होती है। कुलिन्दो के सिक्के कुमाऊ से कागडा तक के क्षेत्र मे व्यापक रूप से पाये गये हैं, ये सिक्के कागडा और पजाब

मे यूनानी सिक्को के साथ मिले है, ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के आरम्भ मे सिकन्दर के आक्रमण के बाद अफगानिस्तान और भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त मे कई यूनानी राज्य स्थापित हुये और कई सदियो तक ये राज्य जीवित रहे और कुषाणो के समय तक पजाब और जालन्धर क्षेत्र मे भी यूनानी राज्य एव सस्कृति का प्रभाव रहा। कुलिन्दो के सिक्को पर प्राकृत मे यह गाथा अकित है—'राजानाह कुलिन्दस अमोघ भूतिस महाराजस' जिसका आशय कदाचित् यह है, कुलिन्दो के महाराज अमोघ भूति है। सिक्के के एक ओर बौद्ध धर्म का चिन्ह चैत्य है जो धर्म-चक्र से आवृत है। एक ओर बोधि वृक्ष और दूसरी तरफ स्वस्तिका चिन्ह एव एक नाग और पाली भाषा मे उक्त गाथा है। इससे स्पष्ट है कि कुलिन्द लोग बौद्ध धर्म के अनुयायी थे और आरम्भिक युग मे जब भगवान बुद्ध की पूजा और उपासना की प्रथा नही थी, चैत्य, बोधिवृक्ष, हिरण आदि प्रतीको का प्रयोग होता था, ये सिक्के उस युग के प्रतीत होते हैं। कुलिन्दो की राज्य सीमा कहा से कहा तक थी, यह विवाद का विषय है। प्राय माना जाता है कि कुमाऊ से कागडा तक का पर्वतीय क्षेत्र, अम्बाला और सहारनपुर तक का मैदानी प्रदेश कुलिन्दो के गणराज्य मे थे। कुलिन्द कौन थे और वे कहा से आये, यह भी ऐतिहासिक अन्धकार म छिपा है। पुरातत्व-वेत्ता ऐलक्जेण्डर कनिंघम हिमालय क्षेत्र के वर्तमान निवासी कनैतो का कुलिन्दो के वशज मानते हैं। कनैत जाति इस क्षेत्र के मूल निवासी थे जो कनौर, कागडा और कुमाऊ एव नैपाल तक फैले हैं। गढवाल, कुमाऊ और नैपाल मे इनको खस्या कहते हैं और पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में जिसमें काश्मीर भी सम्मिलित है, इनको कनैत, खस्या या खोस कहते हैं।

कुलिन्द—

पौराणिक इति वृता मे कुलिन्दा का उल्लेख आया है। मारकण्डेय पुराण मे इनका नाम कौलिन्द है, विष्णु पुराण मे कुलिन्द और इसी प्रकार वराहमिहर-रचित वृहत्सहिता म इनको कुलिन्द ही कहा गया है। वृहत्सहिता का रचना काल पाचवी शती ई० सन् माना जाता है। वराहमिहर ने कुलिन्दो को श्रेष्ठ गणराज्य के पोषक माना है—'कुलिन्दान् गण पगवान्'। कुलिन्दो के सिक्को पर शासक का नाम अमोघभूति लिखा है और यह नाम सदियो तक चलता है। डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल का मत है कि अमोघभूति एक शासक न होकर केवल गणराज्य का प्रतीक है। यह कुलिन्दो की अक्षुण्ण, निरन्तर समृद्धि का द्योतक है। यह गणराज्य की उपाधि-जैसी है।

हिमालय क्षेत्र म बसने वाली कुलिन्द जाति का प्रभाव अज्ञात अतीत से बहुत व्यापक था और ऐसा प्रतीत होता है कि ई० सन्० छ-सात सौ वर्ष पूर्व से इनके गण-राज्य या सघ थे। इस लम्बी अवधि मे इनको कई शक्तियो का सामना करना पडा होगा। मौर्य काल मे इन गणराज्यो को मौर्य साम्राज्य की अधीनता स्वीकार करनी पडी होगी। समस्त उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र जिसम काश्मीर भी सम्मिलित था, मौर्य साम्राज्य का अग था। मौर्यों के पश्चात् यह क्षेत्र हिन्द यूनानी शासको के अधीन रहा। इन शासको के

सिक्के प्रचुर सख्या मे इस क्षेत्र मे पाये गये है। फिर कुषाण साम्राज्य यहा छा गया। कनिष्क की धार्मिक और सास्कृतिक गतिविधियो का कार्य-क्षेत्र प्रधानत काश्मीर और उत्तर-पश्चिमी प्रदेश रहा। स्पष्टत इन गणराज्यो को इन प्रबल सम्राटो की अधीनता स्वीकार करनी पडी। जिस प्रकार अग्रेजी साम्राज्य मे देशी राज्यो को अग्रेज-सत्ता के प्रभुत्व को स्वीकार करना पडा, परन्तु अग्रेज शासको ने उनके राज्य की आन्तरिक स्वतत्रता को अक्षुण्ण रखा। ऐसा प्रतीत होता है कि इन गणराज्यो की स्थिति भी प्रबल साम्राज्यो में ऐसी ही रही होगी।

चीनी यात्री ह्वीवानसाग ने अपने यात्रा-विवरण मे कुलिन्दो का उल्लेख किया है। पर उसने कुलिन्दो का नाम नही लिया। सुघ्न या सुघ नाम से उनका उल्लेख मिलता है। उसके वर्णन के अनुमार इस राज्य का घेरा ६००० ली अथवा १००० मील के लगभग था, इसके पूर्व म गगा नदी और उत्तर दिशा मे ऊँची पर्वत माला थी। यह क्षेत्र लगभग वर्तमान हिमाचल प्रदेश की सीमा में स्थित प्रतीत होता है। कैनियम के अनुसार सुघ यमुना के पश्चिम मे सहारनपुर से सरसावा और अम्बाला जाने वाले राजमार्ग पर स्थित था। कुलिन्दो का क्षेत्र जालन्धर, अम्बाला और सहारनपुर तक मैदानी भाग मे फैला प्रतीत होता है, क्योकि इनके सिक्के इस क्षेत्र मे भी मिले हैं, विष्णु पुराण मे कौलिन्द उपत्यका का उल्लेख भी आया है। सम्भवत यह उपत्यका कागडा घाटी ही थी। ह्वीवानसाग के समय कुलिन्दो का गणराज्य तो नही था, पर इस ख्याति-प्राप्त सघ राज्य की स्मृति लोक परम्परा म जीवित थी जिसका उल्लेख ह्वीवानसाग ने किया। गणराज्यो की परम्परा और सदियो पुराना उनका अस्तित्व गुप्तकाल मे लुप्त-प्राय हो गया। समुद्रगुप्त इन गणराज्यो का हन्ता माना जाता है। इलाहाबाद मे स्थित समुद्रगुप्त की प्रशस्ति मे कार्तिकेयपुर (कुमाऊ) के शासक की उपस्थिति का उल्लेख है। कार्तिकेयपुर कुलिन्द राज्य था—ऐसी इतिहासकारो की धारणा है।

ऐसा प्रतीत होता है, कालान्तर मे कुलिन्दो का राज्य कई इकाइयो मे बट गया। छ सात सदियो तक कुलिन्दो के गणराज्य या उनके सघ अपने अस्तित्व को जीवित रखने में निरन्तर सघर्षरत रहे। पर्वतीय क्षेत्र मे वे कुलिन्द गणराज्य की परम्पराओ को दीर्घ काल तक जीवित रख सके। मैदानी भागो म बाहर से आने वाली आक्रान्ता यवन जातियो ने—जिनमे शक, कुषाण, गुर्जर और सीथियन जातिया प्रमुख थी और जो ई० सन् पहली और दूसरी शताब्दियों से निरन्तर पजाब, गुजरात और उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र को ध्वस्त करती रही—भी गणराज्यो का उच्छेद किया। समुद्रगुप्त के एक-छत्र साम्राज्य स्थापित करने के अभियान ने बचे-खुचे गणराज्यो पर अन्तिम प्रहार करके इनको सदा के लिये समाप्त कर दिया। ई० सन की चौथी सदी के बाद गणराज्यो के कोई महत्वपूर्ण अवशेष न रहे।

पाणिनी ने अपनी अष्टाध्यायी मे 'आहुस्त्रिगर्तषष्टास्तु' सूत्र से त्रिगर्त मे कन्दोपर्थ, दण्डकी, कोष्टकी, जालमनि ब्रह्मगुप्त और जानकी, छ गणराज्यो का सकेत दिया है। ये आयुधशब्दापजीवी गणराज्य थे। आयुधोपजीवी वे राज्य थे जो युद्ध-कला म विशेष निपुणता

ाप्त करते थे। निरन्तर आयुधों के अभ्यास से ये विशिष्ट सैन्य कुशलता उपार्जित करते र। सम्भवतया ये लोग अन्य राज्यों की सेना मे वेतन-भोगी के रूप मे भर्ती होते होंगे। ीरता और आयुधों के सचालन मे इनकी कुशलता विशिष्ट थी। परन्तु कौटल्य ने कुलिन्दो को राज शब्दोपजीवी बताया है जिसका आशय है कि कुलिन्द राजनीति और ासन-व्यवस्था को अधिक महत्व देते थे। चाणक्य ने गणराज्यों को उक्त विचारों के ाधार पर दो श्रेणियों मे विभक्त किया—राज-शब्दोपजीवी और आयुध शब्दोपजीवी। ाणिनी ने त्रिगर्त मे जिन छ गणराज्यों का सकेत दिया है, उनके बारे मे निश्चित रूप े कुछ नही कहा जा सकता है कि ये कौन और कहा-कहा ये गणराज्य थे। सम्भवत न छ गणराज्यो का एक सघ था और इस बलशाली सघ के कारण ये प्रसिद्ध थे। ाणिनी का समय ई० सन् से चार-पाच सौ वर्ष पूर्व का माना जाता है। त्रिगर्त के ुलिन्द गणराज्यों की प्राचीनता पाणिनी से भी पुरानी होगी। पाणिनी से पारवर्ती चनाएं जैसे महाभारत, पुराण और बृहत्सहिता आदि मे कुलिन्दों का प्राय उल्लेख ाया है। उपरोक्त रचनाएं ई० सन् की पहली शताब्दी से पाचवी शताब्दी की मानी ाती हैं, यूनानी लेखकों ने भी कुलिन्दो का उल्लेख किया है। कुलिन्दो का उल्लेख ाभीर, दरद, खसीर, अत्तासार, काश्मीरा बीसरी (कुर्गहरी), कुनू (कनौरे) कौलूत ादि के साथ किया गया है। वास्तव मे हिमालय क्षेत्र मे बसने वाली प्रमुख जातियां, ्श-काल के कारण अलग-अलग नामो से जानी जाने लगी। इनका मुख्य स्रोत तो महान् ्श जाति ही थी। उन्ही का एक प्रबल वर्ग कालान्तर मे विशेष रूप से शक्तिशाली बना ौर न केवल पर्वतीय क्षेत्र मे वरन् मैदानो तक इसकी धाक और शक्ति का प्रसार ुआ। खशों का यह वर्ग या उपजाति कुलिन्द नाम से प्रख्यात हुई।

न्य गणराज्य—

कुलिन्दों से पारवर्ती समय मे अन्य गणराज्यों का सकेत भी इसी क्षेत्र मे मिलता ै। उनमे विशेष रूप से ख्याति-प्राप्त औदम्बर और योधेय गणराज्य थे। कनिंघम के नुसार पठानकोट और नूरपुर का पुराना नाम धमेरी था। नूरपुर नाम तो राजा गत्सिंह ने सन् १६२२ मे नुरद्दीन जहांगीर के धमेरी राज्य मे आने के उपलक्ष्य म रखा ा। इसका तत्कालीन नाम सम्भवत पैथान था, मूल राजधानी पठानकोट (प्रतिष्ठान) ी और मुगलों के समय म पैथान नाम से यह राज्य जाना जाता था। कनिंघम "धमेरी" ो औदम्बर का अपभ्रश मानता है, वैसे औदम्बर नाम का प्रसिद्ध राज्य पुराने समय मे ाठियावाड मे था और प्रतिष्ठान नाम का नगर दक्षिण मे ही गोदावरी के तट पर ा। सन् ई० की पहली और दूसरी सदी मे प्रतिष्ठान सातवाहन या पुराणो मे वर्णित ान्ध्र राजाओ का केन्द्र था। वर्तमान पठानकोट नगर के किले के निकट कनिंघम को ौदम्बरो के सिक्के अन्य यूनानी और भारतीय राजाओ के सिक्को के साथ मिले थे। ुजरात (काठियावाड) मे औदम्बर राज्य के सिक्कों का यहा आने का प्रश्न ही नही ठता। वराहमिहर सहिता मे औदम्बर की स्थिति रावी से उत्तर-पूर्व मे बताई गई है जो

पठानकोट या नूरपुर-राज्य की स्थिति को ठीक ही इंगित करती है। कुलिन्दो के सिक्को की भांति औदम्बरो के सिक्को पर भी प्राचीन बौद्ध धर्म चिन्ह पाये गये है। इन वर्गाकार ताम्बे के सिक्को पर एक ओर हाथी, जंगले से आवृत चैत्य, नीचे की पंक्ति से साप और पाली भाषा मे औदम्बर नाम है। सिक्के के दूसरी ओर शंकु के आकार का तीन मंजिला मन्दिर, स्वस्तिका चिन्ह और दाहिने वक्ष मे स्तम्भासीन धर्म-चक्र है। परन्तु इनसे परवर्ती समय के सिक्को पर 'महादेवस' शब्द उत्कीर्ण है। मन्दिर के चित्र के साथ त्रिशूल भी है। कुछ सिक्को पर त्रिशूल, नान्दी, ध्वज या नान्दी पद-चिन्ह हैं। शासको के नाम शिवदास, रुद्रदास, औदम्बरीस आदि है, ये सिक्के कदाचित् उस काल के हैं जब शैव धर्म और भागवत धर्म का प्रादुर्भाव हो चुका था। सम्भवत ये ई० सन् की पहली और दूसरी सदी के है। कुछ विद्वानो का मत है कि औदम्बरो का राज्य शासन महादेव के नाम पर चलता था जैसा आधुनिक काल मे ट्रावनकोर-कोचीन राज्य पद्मनाभ के नाम पर, मेवाड एकलिंगी महादेव एव टेहरी राज्य बदरीनाथ के नाम पर चलता था। ऐसा प्रतीत होता है कि औदम्बरो के प्रारम्भिक बौद्ध धर्म का उत्तराधिकारी, शैव धर्म बना और अपने अस्तित्व के अन्तिम समय, ईसा की चौथी-पाचवी सदी तक वे इसी धर्म के पोषक रहे। वैसे कुलिन्दो की तरह औदम्बरो का उल्लेख बहुत प्राचीन काल से चला आया। बौद्ध जातक कथाओ मे गान्धार और औदम्बर के ऊनी वस्त्र, 'शामुल्य' की भूरि प्रशसा की गई है। कोई आश्चर्य नही कि इस प्रदेश के ऊनी वस्त्रों की ख्याति की परम्परा ढाई हजार वर्ष तक जीवित रही। अभी कुछ समय पहले तक, विशेषत अठारहवी-उन्नीसवी सदी तक काश्मीर, अमृतसर और रामपुर-बुशैहर के साथ नूरपुर पशमीने की चादरो के लिये सारे भारतवर्ष व मध्य एशिया मे प्रसिद्ध था। पशम और पशमीने की चादरो का यह प्रसिद्ध व्यापार-केन्द्र था। इन वस्तुओ का हजारो रुपये का व्यापार यहा होता था।

औदम्बर और कुलिन्द गणराज्य का पडोसी एक और प्रसिद्ध और शक्तिशाली गणराज्य था। यह गणराज्य यौधेयो का था। सम्भवत यौधेय गणराज्य कुलिन्द और औदम्बर गणराज्य का समकालीन हो। समुद्रगुप्त की इलाहाबाद प्रशस्ति मे यौधेयो का नाम है। समुद्रगुप्त के अश्वमेध यज्ञ के फलस्वरूप अन्य राजाओ और गणो या सघो के साथ यौधेयों ने भी गुप्त साम्राज्य की अधीनता स्वीकार की थी और अन्य गणराज्यो के साथ ही उसी समय से इनका भी ह्रास हुआ और थोडे समय मे इतिहास से इनका अस्तित्व मिट गया।

यौधेय गणराज्य का क्षेत्र दिल्ली से लेकर दक्षिण-पूर्वी पजाब जिसमे कुछ पर्वतीय भाग भी सम्मिलित था, फैला था। इनकी राजधानी कदाचित् रोहतक मे थी। कुषाणो के पतन के बाद यौधेयो का चरम उत्कर्ष हुआ। यह समय ई० सन् की तीसरी सदी था। गणराज्य के मुखिया की 'महाराज' उपाधि थी, पर सिक्को पर उसका नाम अंकित नही होता था। यौधेयों का प्रदेश मरु और बहुधान्यक था। मरु प्रदेश से आशय वर्तमान पश्चिमी हरियाणा और कुछ भाग राजस्थान मे हो। शेष प्रदेश बहुधान्यक था—प्रचुर धान और अन्य अन्न उत्पन्न करने वाला। बाहरी आक्रमणो के समय कभी-कभी

पड़ोसी गणराज्यों के साथ मिलकर एक संघ भी बना लेते थे क्योंकि इन सिक्कों में सिक्कों पर 'द्वि', 'त्रि' शब्दों का प्रयोग पाया गया है जो इस बात का द्योतक है कि ये सिक्के गणराज्यों के संघ के हैं। यौधेय, कुलिन्द और औदम्बर एवं आर्जुनेय गणराज्यों का माहरी संकट के समय संघ बनने का संकेत मिलता है। ये गणराज्य एक दूसरे के पड़ोसी थे।

गण मूलक राजनैतिक व्यवस्था—

ई० सन् से सैकड़ों वर्ष पूर्व से भारतवर्ष में इन गणराज्यों का बाहुल्य था। वस्तुतः ये संस्थाएं सामाजिक और राजनैतिक जीवन के विकास की मूल नींव थी। इनके मुखिया को राजन्य, राजा या महाराज कहते थे, परन्तु इनका चयन सर्वसम्मत या बहुमत से होता था और यह पद वंशानुगत नहीं होता था। कालान्तर में व्यक्ति विशेष की शक्ति और आकांक्षाओं के कारण वंशानुगत हो गया, बाप के बाद उसका बेटा गणराज्य का शासक बना। शुद्धोधन और सिद्धार्थ ऐसे गणराज्य के शासक थे जिसमें गणराज्य के प्रमुख का पद वंशानुगत हो चुका था। पर उस समय भी दर्जनों गणराज्य ऐसे थे जिनके शासक जनप्रतिनिधियों के द्वारा निश्चित अवधि के लिये या कभी-कभी यावज्जीवन के लिये चुने जाते होंगे। बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव के समय कई गणराज्यों का उल्लेख मिलता है शाक्य (कपिलवस्तु), कोलिय (राम ग्राम), लिच्छवी (वैशाली), विदेह (मिथिला), मल्ल (कुशीनगर), मौर्य (पिपलीवन), वत्स (कौशाम्बी) आदि। पाणिनी ने कई गणराज्यों के नाम दिये हैं वर्ग, कण्डोपर्थ, दण्डकी, कौतकी, जालमनि, ब्रह्मगुप्त, जानकी, मद्र, विज्जी, राजन्य, अन्धक (वृष्णि), महाराज और भार्गव।

डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने आवादान शतक का उद्धरण देते हुये दक्षिण के किसी देश में गये हुये वणिक् के मुख से, यह पूछे जाने पर कि मध्यदेश में कैसा राज्य-शासन है, यह कहलवाया है—'केचिद् देशा गणाधीना केचिद् देशा राजाधीना।' कोई देश गणराज्य के अधीन हैं और कुछ देश राजाओं के शासन में हैं। ई० सन् से पांच सौ वर्ष पहले की स्थिति को यह उद्धरण स्पष्ट करता है। मौर्य और उससे परवर्ती साम्राज्यों के युग में भी ये गणराज्य फलते फूलते रहे क्योंकि ये गणराज्य इन साम्राज्यों की नाम मात्र की अधीनता स्वीकार करते थे और अपने आन्तरिक मामलों में ये स्वाधीन ही थे जैसा कि बाद में मुगलों और अंग्रेजों के शासन काल में सैकड़ों राज्य थे, परन्तु समुद्रगुप्त की दिग्विजय के पश्चात् ये गणराज्य समाप्त-प्राय हो गये। समुद्रगुप्त को गणों का हन्ता कहा जाता है।

पर्वतीय क्षेत्र में गणराज्यों के अवशेष चिन्ह—

इन गणराज्यों के, चाहे वे छोटे हों या बड़े, न्यायिक और व्यवस्था सम्बन्धी कार्य सथागार में सम्पन्न होते थे। सथागार (पाली) या संस्थागार (संस्कृत) वर्तमान संसद-भवन का पर्यायवाची शब्द मानना चाहिये। न केवल गणों के प्रमुख भवन या स्थान जहां इनकी संसद का अधिवेशन होता था उसी को सथागार कहते थे, वरन् प्रत्येक गांव और

नगर का अपना सथागार होता था जहां स्थानीय समस्याओं पर विचार होता था। पुरानी शासन व्यवस्था सर्वथा विकेन्द्रित थी। अत स्थानीय विषयों के लिये गाव या नगर के प्रमुख व्यक्तियों की सस्था विचार-विमर्श और निर्णय करती थी। ग्राम और नगर-स्तर पर भी सथागार थे जिनमें सामूहिक जीवन और सास्कृतिक क्रिया कलापों का सम्पादन होता था। गणराज्य के केन्द्रीय सथागार के सभी वयस्क नागरिक सदस्य होते थे। बौद्ध जातक कथाओं के अनुसार लच्छवी गणराज्य की राजधानी वैशाली मे ७७०७ राजुक (राजा) थे। ये राजुक गणराज्य के वयस्क सदस्य होंगे जिनके समान अधिकार थे और जो सथागार मे एकत्र होने वाली ससद के सदस्य थे। बौद्ध वाङमय की साधिकारिक विदुषी रीज् डैविड का कहना है कि जब आनन्द मल्लो को बुद्ध की मृत्यु का दु खद समाचार सुनाने आये तो मल्ल गणराज्य के सदस्य सथागार मे इसी विषय पर विचार कर रहे थे। यह सथागार कदाचित् कुशीनगर में था—यह मल्ल गणराज्य की राजधानी थी। बुद्ध ने अपने लम्बे जीवन काल मे हिमालय की तराई मे कई गणराज्यों और सघो मे धर्म प्रचार किया। यूनानी लेखकों के अनुसार सिकन्दर के आक्रमण के समय पजाब मे बडे-छोटे कई गणराज्य थे। इन गण राज्यों की विशिष्ट समानता यह थी कि प्रत्येक का अपना ससद या सभा-भवन—सथागार होता था। सथागार के भवन का निर्माण भी एक महत्वपूर्ण घटना होती थी। कपिलवस्तु मे बुद्ध ने स्वय एक सथागार का उद्घाटन किया था। जब बुद्ध नीग्रो धर्म मे ठहरे थे, तब कपिलवस्तु मे इस सथागार का निर्माण हो रहा था। इस सथागार में सभी धर्मों के भिक्षुओ, आजीवकों और श्रवणो के ठहरने की व्यवस्था थी। बुद्ध ने इस सथागार का उद्घाटन सारी रात धर्मोपदेश देकर किया था। इसमें उनके शिष्य आनन्द और मौगल्लायन ने भी भाग लिया था।

ऐसी ही सस्था किन्नौर जिले के प्राय प्रत्येक गाव में अब भी पाई जाती है। इस सार्वजनिक स्थान को वहा सयग कहते हैं। सयग में ग्रामीण समाज समय-समय पर मनोविनोद और सामाजिक समस्याओं पर विचार करने के लिये एकत्र होता है, गाव के देवता का सयग से घनिष्ट सम्बन्ध होता है। मन्दिर के प्रागण को भी सयग कहते हैं। सभी त्योहार, उत्सव, और जन्म-मरण के सस्कार सयग में सम्पन्न होते है, यहा देवता लोगों के जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कनौर और पश्चिमी हिमालय के दूसरे गावो में देवता की सकल्पना अदृश्य शक्ति की धारणा से भिन्न है। यहां देवता एक शासक है जो अपनी प्रजा की भान्ति मानवीय ढग से व्यवहार करता है, उनके साथ खाता-पीता है, नाचता-गाता है और साथ ही उनका नियत्रण और मार्ग प्रदर्शन भी करता है। देव-शक्ति का मानवीकरण (Anthropomorphism) जितना इन देवताओ का हुआ है, शायद ही अन्यत्र हुआ हो। प्रत्येक देवता की ओर से एक ऐसा व्यक्ति होता है जिस पर आवश्यकता पडने पर देव-शक्ति अवतरित होती है, ऐसे व्यक्ति को 'ग्रोक्ष' कहते है। ग्रोक्ष 'गो' या मुख का पर्यायवाची है। ऐसा व्यक्ति देवता का मुख ही होता है। 'ग्रोक्ष' पर देव शक्ति के अवतरण की प्रक्रिया इस प्रकार से है सयग में ढोल, शहनाई, झाझ आदि वाद्य वृन्दो की सरस ध्वनि और लय के साथ **देवता की**

पालकी चार वाहकों के कन्धे पर रखी नाचती है। पुजारी कुछ शब्दों के उच्चारण से देव-शक्ति का आवाहन करता है, तब 'ग्रोक्' कांपता है, उछलता-कूदता है और उन्माद की सी स्थिति में पहुंचता है। इस प्रकार सम्मोहन की सी अवस्था में ग्रोश जो कुछ बोलता है, वह दैवीय वाक्य और दैवीय आज्ञा मानी जाती है। तब पुजारी दुभाषिये और मुख्त्यार का काम करता है—लोगों की समस्याओं को देवता के विचारार्थ प्रस्तुत करता है और दैवीय निर्णय तत्काल लोगों को सुनाता है, देवता सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन की सभी समस्याओं पर अपना निर्णय देता है। वह भूत-प्रेतों को भगा सकता है, दु:ख-बीमारी से मुक्ति देता है, बारिश लाता है, विवाह-सम्बन्ध और तलाक की स्वीकृति देता है। भूमि को उपजाऊ बना सकता है, निःसन्तान को सन्तान देता है। संक्षेपतः जीवन का कोई ऐसा व्यापार नहीं जिसको देवता न कर सकता हो। मन्दिर का प्रांगण, सथग, इन क्रिया-कलापों की रंगभूमि है। ग्रामीण समाज के सांस्कृतिक धार्मिक व मनोविनोद सम्बन्धी सभी सामूहिक कार्य सथग में सम्पन्न होते हैं, दैवीय न्याय, अपराधियों को दण्ड और सामाजिक नियंत्रण का निर्धारण भी यहीं पर होता है। इन क्रियाओं के द्वारा ग्रामीण समाज की एकता सथग में मानो मूर्तिमान होती है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अज्ञात अतीत में सथग सामाजिक जीवन का केन्द्र-बिन्दु रहा है। इसमें होने वाले कार्य-कलाप सभागार से भिन्न नहीं हैं और न ही सथग शब्द अपने मूल सभागार से बहुत भिन्न, बहुत विकृत है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सभागार की संस्था जनजातीय जीवन में एक महत्वपूर्ण संस्था थी। कालान्तर में भी, यह नाम और संस्था विस्मृत नहीं हो सकती थी। यदि यह धारणा सही है कि पुरातन काल में हिमालय क्षेत्र की जनजातियों में गणराज्य की राजनैतिक संस्था प्रचलित थी तो सथग नाम को सभागार का ही विकृत रूप मानना तर्क-संगत और तथ्यों के अनुरूप होगा।

थौड, थात या थान—

शिमला जिला के ऊपरी भागों में सथग की समानान्तर संस्था व नाम थौड है। यहां भी देव-स्थान के प्रांगण अथवा गांव के आस-पास देवता से सम्बद्ध अर्चनीय स्थान को थौड या थान कहते हैं। इस इलाके के लोग पिछली एक सदी से अधिक समय से आधुनिक राज्य व्यवस्था और कानून के अन्तर्गत रहे हैं। फलस्वरूप परम्परागत सामाजिक व्यवस्था किन्नौर की भान्ति अक्षुण्ण न रही। अतः अब ग्रामीण जीवन में थौड की पुरानी महत्ता न रही। फिर भी जनसाधारण के मन में आज भी थौड के प्रति श्रद्धा और पवित्रता का भाव विद्यमान है। थौड में जाकर असत्य बोलना अथवा कोई अन्य पाप कर्म करना या सोचना परम्परा से वर्जित है। आज भी थौड में खड़े होकर शपथ लेकर जो अपने निरपराध निष्पाप और निष्कलंक होने की घोषणा कर दे, समाज उसको निःसंकोच स्वीकार कर लेता है। यह परम्परा उस युग की याद दिलाता है जब सभागार में सभी विषयों और विवादों का निर्णय सत्य, न्याय और निष्पक्षता के माप दण्ड से किया जाता था।

सीमावर्ती पड़ौसी जिला चमोली-गढ़वाल मे इसी प्रकार के पुरातन सामाजिक स्थान को 'स्थात' या 'थात' कहते हैं। यहा 'थात' का सम्बन्ध एक इलाके के कई गावो से है। कदाचित् इन गावो के गण की सभा 'थात' मे होती थी। इस जिले की उखीमठ तहसील मे जिसमे लगभग दो सौ गांव होंगे तीन थात हैं—वामसू थात, परकण्डी थात और मैखण्डा थात। वहा अब इन पुरानी संस्थाओं का सामाजिक जीवन से कोई सम्बन्ध नही है। ये नाम समाज की स्मृति में अस्पष्ट रूप से जीवित है। कुछ वर्ष पहले तक संक्रान्ति के दिन 'थात' स्थान पर नौबत बजती थी, पर अब शायद यह रिवाज भी समाप्त हो गया है, कुछ इसी प्रकार की व्यवस्था सिरमौर जिले मे गिरी-पार के इलाके मे पिछली सदी तक विद्यमान थी। यहां कुछ गावों के समूह को 'भोज' कहते थे। भोज की अपनी सभा होती थी और सभा-भवन का निश्चित स्थान होता था जहां सामाजिक व धार्मिक कृत्यों के लिये सभा का अधिवेशन होता था। सिरमौर गजेटियर के अनुसार भोज-व्यवस्था का अन्त सन् १८६४ की भूमि-पैमायश के उपरान्त हुआ। इन पहाड़ी इलाकों मे जीवित इन पुरानी संस्थाओ की समानताओं को दृष्टि में रखते हुये इस निष्कर्ष पर पहुचना तर्क-सगत प्रतीत होता है कि मूलरूप से ये अवशेष पुरातन जनजातीय गण-राज्य की परम्पराओ से सम्बद्ध हैं।

ये परम्पराए किन्नौर के कनैरों, शिमला जिले के कनैतो और गढ़वाल के खश्या जाति से सम्बद्ध हैं। ये इलाके एक दूसरे के साथ-साथ हैं। इनमें समान रीति-रिवाज, समान आस्थाएं और विश्वास हैं, विशेष रूप से देवता का किसी व्यक्ति विशेष पर अवतरित होना, यह नैपाल से काश्मीर तक सभी पहाड़ी क्षेत्रों मे न्यूनाधिक प्रचलित है। अब आधुनिक शिक्षा और संस्कृति के प्रभाव से देवताओं के प्रति आस्था क्षीण होती जा रही है। देवताओं का मानवीकरण तिब्बत और साइबेरिया की शैवण संस्कृति की देन है या स्थानीय उपज है, यह बताना कठिन है। पर पर्वतीय क्षेत्र में इस प्रथा का सार्व-भौम प्रचलन एक निर्विवाद तथ्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि गण राज्यों की गरिमा समाप्त होने पर यह क्षेत्र छोटी-छोटी ठकुराइयो में बंट गया और समाज को अनुशासन और नियन्त्रण में रखने के लिये धीरे-धीरे इन देव-शक्तियो का विकास और प्रसार हुआ। अराजकता के लम्बे युग में समाज को इन देवताओ से सम्बल मिलता रहा। देवताओं की वृद्धि भी समय के साथ-साथ होती रही। इनमें से अधिकांश देवी-देवता तो मृत राजा-रानी और शासकों की आत्माए हैं।

२. ठकुराइयों का युग

ठकुराइयों का उदय—

गणो का युग भारतीय जीवन में बहुत प्राचीन काल से आरम्भ होता है। तब जनजातीय जीवन की आरम्भिक व्यवस्था जन-प्रतिनिधियो की सभा पर आधारित थी। पर्वतीय क्षेत्र में बसने वाली, खश, नागा, किरात, कोल आदि कोई भी जाति हो, उन सबकी आरम्भिक व्यवस्था छोटे-बड़े पैमाने पर जन जाति के सम्मानित व्यक्तियो की सभा के द्वारा सचालित होती थी। इन छोटी इकाइयों का धीरे-धीरे क्षेत्रीय विकास हुआ और कालान्तर में एक क्षेत्र विशेष का गणराज्य विस्तृत और शक्ति-सम्पन्न हुआ। गणो के विकास में यह प्रक्रिया सदियों तक चलती रही और इस प्रकार दर्जनो गणराज्यो का विकास हुआ। इन गणराज्यो को निरन्तर छोटी-बडी लडाइयो में व्यस्त रहना पड़ता था। इसलिये अधिकाश गणराज्य आयुध शब्दोपजीवी थे। कालान्तर में गणो के शक्ति-शाली और चतुर व्यक्ति उनको अपने प्रभुत्व के अधीन करने लगे और उनमें दलबन्दी आने लगी, आपसी विग्रह से कई ह्रासोन्मुख होने लगे। ऐसे गणराज्य शक्ति-सम्पन्न और चतुर व्यक्तियो के प्रभाव से कई टुकडों में बटने लगे। महाभारत के शान्ति पर्व में गणो की दुर्बलता इन शब्दो में व्यक्त की गई है —

क्रोधो भेदो भयं दण्ड. कर्षण निग्रहो वध ।
नयत्यरिवश सद्यो गणान् हि नृप सत्तम॥१०६ २२

यदि गण क्रोध, भेद, आपसी फूट, पारस्परिक अविश्वास और भय, हिंसा, अत्याचार और दमन एव आपसी वध के शिकार हो तो निश्चय वे शत्रु के पाश में बध जाते है, गणो की ये दुर्बलताए प्राय होती थी और इनसे गणो का ह्रास और पतन हुआ। इससे भी महत्वपूर्ण बात, कुछ महत्वाकाक्षी व्यक्तियो की प्रभुत्व लोलुपता थी जो अपने चातुर्य और शक्ति के प्रभाव से इन पर हावी हुये या ऐसे व्यक्तियो ने एक गणराज्य को एक से अधिक टुकडो में विभक्त किया। ऐसे लोग गणशक्ति के स्थान पर व्यक्ति-शक्ति को स्थापित करने में सफल हुये और इस प्रकार सामन्त-सत्ता का युग आरम्भ हुआ और गणो के मुखिया का पद वशानुगत हो गया। ऐसी भी परिस्थितिया रही होगी जब किसी गण विशेष के मुखिया को उसके सद्गुणो के कारण जीवन-पर्यन्त के लिये चुन लिया गया हो। यदि ऐसे व्यक्ति की सन्तान भी गुणवान और गण प्रिय हो तो, पिता के बाद पुत्र गण के नेतृत्व का उत्तराधिकारी बन जाता होगा। विभिन्न परिस्थितियो में सामन्तवाद का उदय हुआ। गणराज्य का ह्रास और सामन्तवाद का उदय एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। पर्वतीय क्षेत्र में गणराज्यो की समाप्ति पर छोटी छोटी ठकुराइयो का श्रीगणेश हुआ।

सम्भव है कि गणराज्य अपने पराभव-काल में कई टुकड़ों में बंट गये और उनके मुखिया इन छोटे-छोटे क्षेत्रीय टुकड़ों के स्वामी बन गये गणों की सभी परम्पराएं समाप्त हुई और एक व्यक्ति की सत्ता और शासन का बोल-बाला रहा। कब यह हुआ, यह बताना कठिन है। वैसे भारतवर्ष में राजतन्त्र की संस्था बहुत प्राचीन थी और महाभारत के समय में भी साम्राज्य स्थापित करने की महत्वाकांक्षा साकार हो चुकी थी। आर्यों के मगध और उसके आगे प्रसार होने के समय तक कई राज्य स्थापित हो चुके थे और इनकी परिणति मौर्यों की साम्राज्य स्थापना में हुई। राजतन्त्र और गणतन्त्र दोनों प्रकार की शासन व्यवस्थाएं साथ-साथ चलती रही। ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्य साम्राज्य ने समुद्रगुप्त की भान्ति गणों पर प्रहार नहीं किया, अपने साम्राज्य की छत्रछाया में गणों को भी पनपने दिया। अशोक की उदार और सहिष्णु नीति एवं राजतन्त्र के नैतिक सिद्धान्त गणों के अस्तित्व के लिये सहायक सिद्ध हुये। गणतन्त्र व्यवस्था और राजतन्त्र दोनों ही इस साम्राज्य में निर्विघ्न जीवित रहे।

मवाना शासक—

हिमाचल प्रदेश की जन-श्रुति संकेत करती है कि पुराने जमाने में मवाना नाम की जाति छोटी छोटी ठकुराइयों के रूप में यहां शासन करती थी। 'मवाना' का शाब्दिक अर्थ ऐसे व्यक्ति से है जो पूर्णरूप से स्वतन्त्र हो, प्रभुसत्ता-सम्पन्न हो। ऐसे छोटे राज्य ठकुराइयां थी। ऐसा प्रतीत होता है कि गणों के बाद मवाना ठकुराइयों का उदय हुआ। मैदानों में बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित हुए, परन्तु पहाड़ी क्षेत्र में अधिकांशतः छोटी छोटी ठकुराइयां थी और इन ठकुराइयों का युग सदियों तक रहा। ई० सन् की तीसरी-चौथी सदी से लगभग सोलहवीं-सतरहवीं सदी तक किसी न किसी रूप में ये ठकुराइयां जीवित रहीं। पहले ये ठकुराइयां स्वतन्त्र मवाना शासन के अधीन थी, पर बाद में बड़े राज्यों के अधीन उनके सामन्त के रूप में रही।

एचीसन और बोगल ने पंजाब के पहाड़ी राज्यों के इतिहास में फिरिश्ता का उद्धरण देते हुये बताया है कि लगभग ई० सन् की पहली शताब्दी में कन्नौज के राजा रामदेव राठौर ने कुमाऊं से जम्मू तक के क्षेत्र पर आक्रमण करके पांच सौ ठकुराइयों को जीता। इस अभियान में उसको पांच महीने लगे। यह घटना पहली सदी की प्रतीत नहीं होती है। राठौर जाति का उदय परवर्ती राजपूत काल में हुआ। रामदेव नाम भी पहली सदी का प्रतीत नहीं होता है। कान्यकुब्ज का उदय राजपूती काल में हुआ। सम्भव है कि यह घटना उसी युग की हो। ठकुराइयों का युग तो मुख्यतः मध्यकालीन युग में रहा। चम्बा राज्य में जन-श्रुति के अनुसार सौ ठकुराइयां थीं। ये ठकुराइयां चम्बा राज्य के अन्तर्गत फलती-फूलती रही। गढवाल में बावन ठकुराइयां थीं। इ ठाकुरों के किले पहाड़ों की धार पर होते थे। इन गढ़ों के कारण गढ़वाल का नामकरण गढ़-वाल पड़ा। पुराने जमाने में गढवाल का नाम 'बावनी राज्य' था। चौदहवीं राजा अजयपाल ने गढवाल की इन बावन ठकुराइयों में से अधिकांश को

और एक शक्ति शाली राज्य की स्थापना की। वर्तमान हिमाचल प्रदेश के अधिकांश भागों में ये ठकुराइयां थी। दसवीं सदी के आरम्भ से मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ हुये और यह क्रम मुगल साम्राज्य के कायम होने तक जारी रहा। उत्तरी भारत में इन आक्रमणों से एक भगदड़-जैसी मच गई। तब उत्तरी भारत में कई राजपूती राज्य थे। उनके वंशज अपने प्राण, धर्म और सम्पत्ति की रक्षा के लिये निरन्तर सदियां तक पर्वतीय क्षेत्र में सुरक्षा और आश्रय की खोज में आते रहे। ये राजपूत अपने दल-बल के साथ आये। इनके साथ न केवल सेना की टुकड़ियां होती थी, वरन् इनके सेवक, कारीगर, शिल्पी, अन्य कलाकार और धर्म के व्याख्याता ब्राह्मण, पण्डित-आचार्य सभी होते थे। स्वाभाविक था कि इनको पहाड़ के शासक ठाकुर और बड़े राजाओं का सामना करना पड़ा होगा, परन्तु पहाड़ के ठाकुर असगठित, आपसी वैर-भाव से क्षुब्ध और जन-साधारण की सहानुभूति और सहयोग से वंचित थे। आसानी से ये नवागन्तुक राजपूत इन पर हावी हो गये।

राजपूत शासकों का आगमन—

इस क्षेत्र के अधिकांश राजवंश मैदानों से आये बताये जाते हैं। कैनिंघम के अनुसार नूरपुर राज्य का संस्थापक जेठपाल दिल्ली के तोमर शासक का छोटा भाई था। ग्यारहवीं सदी में युग-परम्परा के अनुसार वह अपने दलबल के साथ किसी राज्य को हस्तगत करने के लिये उत्तर दिशा की ओर चल पड़ा। प्रतिष्ठान (पठानकोट) में तत्कालीन पैथान शासक को पराजित कर पुराने पैथान नाम से ही उसने अपना राज्य स्थापित किया। बाद में उसके वंशज पठानिया नाम से यहां के शासक बने। मण्डी सुकेत और क्योंथल के राजवंशों का सम्बन्ध बंगाल के सेन वंश से जोड़ा जाता है। ये नवीं सदी के प्रथम चरण में इस दिशा को आये। बाघल (अर्की) का मूल शासक अजय देव, परमार वंश से सम्बद्ध उज्जैन से आया था। बघाट राज्य का संस्थापक बसन्तपाल पवर धुर दक्षिण में धारानगरी के राजवंश का था। कुमारसेन को गया के कीर्तिसिंह ने हस्तगत किया और इस राज्य की स्थापना की। सिरमौर के राजवंश की स्थापना भी इसी प्रकार बताई जाती है। एक भयंकर भू कम्प से इस राज्य की पुरानी राजधानी राजवन ध्वस्त हो गई थी और राजपरिवार इस दैवी विप्लव में नष्ट हो गया। ऐसे अवसर पर जैसलमेर के राजवंश के उग्रसेन राव को सिरमौर के लोगों ने हरिद्वार से, जहां वह तीर्थ-यात्रा पर आया था, बुलाकर ले गये और उसको राजगद्दी पर बिठाया। यह घटना ग्यारहवीं सदी के अन्तिम चरण की है, ऐसे ही मैदानों से भगोड़े राजकुमार और राजपूत राजाओं ने चौदहवीं सदी में नेपाल की करनाली और सप्तगण्डकी उपत्यकाओं में छयालीस छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना की। करनाली उपत्यका में २२ राज्यों की स्थापना हुई और नारायणी उपत्यका में २४ राज्यों की। इनको 'बाइसी' और 'चौबीसी' राज्य कहते थे। इन सभी राज्यों को अठारहवीं सदी के दूसरे चरण में गोरखा शासक पृथ्वीनारायण शाह ने एक साम्राज्य के अन्दर संगठित किया।

इन राजपूत शासकों के आने से छोटी-छोटी ठकुराइयों को बड़ा धक्का लगा। इस आक्रमण के दो प्रमुख प्रभाव पड़े, प्रथम, ठकुराइयों की शक्ति धीरे-धीरे क्षीण हो गई, वे इनके राज्यों के अंग बन गईं या ठाकुर उनके अधीनस्थ सामन्त बन गये। दूसरा, इन राजपूतों के साथ मन्दिरों की स्थापत्य कला यहां आई। उस युग के बने शिखर शैली के मन्दिर समस्त हिमालय क्षेत्र में ध्वस्त और उपेक्षित अवस्था में पाये जाते हैं। उस युग की बनी बावड़ियां और जलाशय कई स्थानों पर पाये जाते हैं। वैसे इस प्रकार के मन्दिरों की परम्परा कुछ राज्यों में बहुत पुरानी थी, इनमें चम्बा के मन्दिर और बैजनाथ का मन्दिर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

ठकुराई शासन—

मवाना ठाकुर छोटे छोटे इलाकों के स्वामी थे। एचीसन और बोगल ने अपने इतिहास में स्वतंत्र और अधीनस्थ ठकुराइयों में "आप ठकुराई" और "ठकुराई" कहकर भेद किया है। उन्होंने सर्वथा स्वतंत्र 'आप ठकुराई' और अधीनस्थ 'ठकुराई' नाम से वर्ग-भेद किया है, ये ठाकुर सर्वदा एक-दूसरे के साथ कलह-रत रहते थे। इनके क्षेत्र की कोई निश्चित और पक्की सीमा नहीं होती थी। ये ठाकुर प्राय एक-दूसरे के इलाके पर लूट-खसोट करते थे। जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा का प्राय अभाव-सा रहता था। यह 'मत्स्य न्याय' का युग था, बड़ी ठकुराई छोटी ठकुराइयों को आंख दिखाती थी और अवसर आने पर उनको हड़प करती थी। ऐसी प्रक्रिया से कालान्तर में पर्वतीय क्षेत्र में भी कुछ बड़े राज्यों का उदय हुआ। शक्ति-सचय से धीरे धीरे छोटी ठकुराई बड़े राज्य में परिवर्तित हो गई—यह क्षेत्रीय विस्तार आस-पास की ठकुराइयों को हड़प करने से हुआ। कई राज्यों में ये ठाकुर और सामन्त प्राय बाद में भी विद्रोह करते रहे और शासक राजाओं को इनका दमन करने में शक्ति का प्रयोग करना पड़ा। पहाड़ी क्षेत्र में बड़े राज्यों के स्थापित होने पर भी ये ठकुराइयां सामन्तों के रूप में जीवित रहीं। पहाड़ी क्षेत्रों का यह राजनैतिक रूप सदियों तक किसी न किसी रूप में बना रहा और इसी प्रकार आपसी कलह और लूट-खसोट का युग भी। एक ठकुराई का दूसरी ठकुराई के प्रति *विद्वेष-भाव प्राय रहता था, कभी-कभी तो एक राज्य या ठकुराई* के लोग दूसरे राज्य या ठकुराई का प्रात काल नाम लेना भी अशुभ समझते थे, परला देश कह कर उस इलाके का संकेत करते थे। बाघल के लोग सवेरे कुनिहार का नाम लेना बुरा समझते थे और वैसे ही कुनिहार निवासी बाघल का नाम लेना सवेरे बुरा समझते थ। चम्बा वाले जम्मू को परला देश और नूरपुर राज्य को सापड़ वाला देश कहते थे। यह सब आपसी वैर भाव के कारण था, परन्तु व्यक्तिगत स्तर पर लोगों के नाते-रिश्ते थे और जन्म मरण के सुख-दु ख में साझीदार थे। पुरानी ठकुराई की परम्परा शिमला-क्षेत्र में उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण तक रही। जब १८१५ ई० में अंग्रेजों ने इस इलाके पर अधिपत्य स्थापित किया, तो उन्होंने प्राय बारह बड़ी और अठारह छोटी ठकुराइयों का उल्लेख किया है। इनका परिचय यथा स्थान दिया जायेगा। यहां पर इतना ...

कह देना पर्याप्त है कि ठकुराई नाम और परम्पराए इनके अस्तित्व के अन्तिम दिन तक जीवित रही। तब वास्तव मे ये छोटे-बडे स्वतन्त्र राज्य थे।

सुकेत राज्य की परम्परा से पता चलता है कि एक छोटे से इलाके मे इन ठकुराइयो की कितनी अधिक संख्या थी। इस राज्य के मूल संस्थापक वीरसेन ने सबसे पहले पागना के ठाकुर को परास्त करके वहा अपनी राजधानी स्थापित की। अब यह एक साधारण गाव सतलुज के दाहिने-किनारे उत्तर की ओर है। सम्भवत वीरसेन सतलुज की घाटी के मार्ग से यहा पहुचा हो। इसके बाद उसने दर्जनो ठकुराइयो को जीता। इनमे प्रमुख, बीरकोट, श्रीगढ, नारायणगढ, रघुपुर, जज, माधोपुर, बगा, बजवाल, नगरू, मानगढ, जलोरी, जग, हिमरी, रायगढ, फतहपुर, रायसम, कोठी-मनाली, परोल, सरी पण्डोह, चच्योट, नाथी आदि थे। ये अब कुल्लू, मण्डी और सुकेत क्षेत्र मे गाव मात्र हैं। पर तब ये स्वतन्त्र या कुछ कुल्लू के अधीन छोटी ठकुराइया थी।

मवाना और मौन—

'मावी' या 'मवाना' पर्यायवाची शब्द हैं। पुरातन काल से इन ठाकुरो को मावी या मवाना कहते थे। इसका एक पर्यायवाची शब्द और है, 'मौन'। मौन शब्द का प्रयोग कनौर मे किन्नर वासियो के लिये किया जाता है। हगरी निवासी ऐलकजेंडर क्सोमा डी कोरोस ने जिसने उन्नीसवी सदी के प्रथम चरण मे किन्नौर मे रहकर सब से पहले अंग्रेजी—तिब्बती भाषा का शब्द कोष बनाया, इस प्रकार 'मौन' शब्द की व्याख्या की है —'तिब्बत के लोग भारत के सीमान्त वासियो को 'मौन' कहते हैं, पुरुष मौनपा है और स्त्री मौन मो एव इनका देश मौन युल कहलाता है।" मौन शब्द का तिब्बती भाषा से कोई सम्बन्ध नही है। यह मूलत भारतीय या हिमालय क्षेत्र का शब्द है और पुराने समय मे इसका व्यापक प्रयोग था। यह मावी या मवाना ठाकुरो को व्यक्त करने वाला नाम है। कनौर मे मावी या मवाना के स्थान पर मौन नाम का प्रयोग होता होगा। तिब्बतियो ने यह नाम कनौरो से सुना होगा जिसका व प्रयोग करते रहे। अंग्रेज पर्यटक मूर क्रोफ्ट ने अपने यात्रा विवरण में लद्दाख म चाय के व्यापार का उल्लेख करते हुये लिखा है कि कुछ नकली चाय कनौर से भी लद्दाख मे आती है। यह बारालाचा के विकट मार्ग से वहा पहुचती है। इस चाय को वहा मौने-टी, मौने की चाय कहते हैं। यह नाम लद्दाख मे प्रचलित था।

इस बात का उल्लेख करना भी प्रासंगिक होगा कि बुशैहर की मूल राजधानी मौने नाम के गाव मे थी। यह गाव सागला के पास बस्पा उपत्यका मे है। आजकल इस गाव को बाहर के लोग कामरू कहते हैं और कनौरे मूल नाम 'मौने' ही कहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सदियो तक बुशैहर की राजधानी मौने म रही। आज भी वहा एक किला है जो बुशैहर के शासकों का पुराना महल माना जाता है। गोरखाओं के आक्रमण के समय १८११ ई० म रामपुर से भाग कर बुशैहर के राजकुमार ने यहा शरण ली थी और गोरखाओ के शासन काल मे १८११ से १८१५ ई० तक यह राजकुमार यही

सुरक्षित रहा। बुशैहर राज्य की राजधानी मौने से पहले, सराहन बदली गई और बाद मे रामपुर आई। यह परिवर्तन अट्ठारहवी सदी मे हुआ। उससे पहले मौने ही बुशैहर की राजधानी थी। 'मौने' का सम्बन्ध निश्चय ही 'मावी' या 'मवाना' से है। बुशैहर की राज-वशावली के अनुसार इस राजवश का सम्बन्ध अनिरुद्ध से माना जाता है। ऊषा और अनिरुद्ध की पौराणिक प्रणय-गाथा से बुशैहर के राज वश का उद्भव माना जाता है। पर यह कोरी कल्पना है। बुशैहर के राजवश का मूल पुरुष कोई मावी या मौन ठाकुर प्रतीत होता है। इस मावी परम्परा के कारण उसकी राजधानी मौने नाम से वर्तमान समय तक जानी जाती रही। तिब्बती लोग सब कनौरो को मौन कहते थे और इस क्षेत्र की उपज और वस्तुए *'मौन' विशेषण से इगित की जाती थी।* उन्नीसवी सदी तक यह नाम बुशैहर राज्य के लिये लद्दाख और तिब्बत मे आम प्रचलित था। अधिकाश लोगो की धारणा भी ऐसी ही है कि बुशैहर के राजवश कनौरो से सम्बद्ध है और आरम्भिक अवस्था मे बुशैहर के राजा कनौर के ही शासक थे। इनके मन्त्री व प्रमुख कारिन्दे भी उन्नीसवी सदी तक प्रधान रूप से कनौरे ही थे। वशावली के अनुसार ११६ वी पीढ़ी के राजा रामसिंह ने रामपुर को राजधानी बनाया। यह अट्ठारहवी सदी की घटना है। ११८ वी पीढी पर राजा उग्रसिंह माना जाता है जिसकी मृत्यु गोरखा आक्रमण से एक वर्ष पहले १८१० ई० मे हुई थी। बुशैहर के राजवश का सम्बन्ध अन्य कई पहाड़ के राजाओ की तरह मैदानो से आये राजपूतो से नही है, बल्कि मूल मावी या मौन ठाकुरो से है। वशावली के अनुसार बीसवी सदी के पूर्वार्द्ध तक इस राजवश की १२२ पीढिया हुई। यदि एक पीढी की औसत अवधि १५ वर्ष मान लिया जाय तो यह राजवश १६३० वर्ष रहा। अत इसके मूल मावी ठाकुर का समय तीसरी सदी ई० माना जा सकता है। यह ठकुराइयो के युग का आरभिक काल था। इस प्रकार इस वश का उद्भव मावी या मौन ठाकुर से निर्विवाद और असदिग्ध प्रतीत होता है।

कनिंघम ने कनैत और मावी ठाकुरो को कुलिन्दो का वशज बताया है। कुलिन्दो की गण-व्यवस्था क्षीण होने पर मावी ठाकुरो ने अपना अधिपत्य स्थापित किया। उसके अनुसार मध्यकालीन युग मे जब भगोडे राजपूतो ने कमाऊ मे द्वारहाट पर अधिकार कर लिया तो मावी शासक गढवाल मे जोशीमठ के कत्यूर शासको से वर्षों तक जूझते रहे।

पहाडो के ऊपर किलो के भग्नावशेष आज भी इन ठाकुरो की याद दिलाते है। ये स्थान-स्थान पर पहाडो पर किले बनाते थे जो सुरक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण हो। यह परम्परा पर्वतीय क्षेत्र मे सदियो तक रही। गोरखाओ ने जो स्वय इस जाति के लोग थे, इस सुरक्षा-प्रणाली को सारे पहाडी इलाके मे फैलाया। इन पर्वतारूढ किलो से उन्होंने अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त की और बाद मे अग्रेजो के दात खट्टे किये। कनिंघम ने मावी ठाकुरो की विशेष स्थापत्य कला का उल्लेख किया है। मवाना ठाकुरो के भवन ऊची नीव पर बने होते थे। इनकी नीव कटे व तराशे पत्थरो से निर्मित कई फुट ऊची होती थी और उसके ऊपर आवास-गृह होता था। धामी राज्य मे मावी भवन के पत्थरो से अन्य मकानो के निर्माण का सकेत भी उसने दिया है। सम्भव है कालान्तर मे ऐसे भवनो

के खण्डहरों के पत्थरों से लोगों ने अपने मकान बनाये हों जिससे अब ऐसे भग्नावशेष नहीं मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार मन्दिरों की स्थापत्य-कला शिमला क्षेत्र के ऊपरि भागों में आज भी पाई जाती है, उसी प्रकार के इनके आवास-गृह होते होंगे। देवी-देवताओं के ये मन्दिर कदाचित् उन्हीं की अनुकृति पर बने हों। इनकी ठोस नींव भी ऊंची होती है और मन्दिर का ढांचा इस ऊंची नींव पर स्थापित होता था। ऊपर जाने के लिये केवल एक छोटा-सा दरवाजा होता है जिसमें झुककर ही प्रवेश किया जा सकता है। यह विशेष निर्माण-कला सुरक्षा की दृष्टि से उपादेय प्रतीत होती है। कुल्लू से लेकर किन्नौर और सिरमौर तक पहाड़ी मन्दिरों का यह रूप सर्वत्र विद्यमान है।

वैरन चार्ल्स ह्यू गल ने अपने यात्रा-विवरण में जम्मू क्षेत्र में एक ऐसे गांव के बारे में लिखा है जहां मकानों की नींव असाधारण रूप से ऊंची थी और पर्याप्त ऊंचाई पर आवास-गृह थे जिनमें प्रवेश लकड़ी की एक ऊंची सीढ़ी से हो सकता था। रात के समय लोग उस सीढ़ी को ऊपर खींच लेते थे, फलतः उसके बाद न उसमें कोई आ सकता था और न जा सकता था। वह समय समस्त उत्तरी क्षेत्र में लूट-मार, मार-धाड़, अराजकता और भय का युग था। ऐसी आवास-व्यवस्था से कुछ बचाव सम्भव था।

बैजनाथ प्रशस्ति और ठकुराई युग---

कांगड़ा में बैजनाथ के शैव मन्दिर में एक प्राचीन शिला-लेख है। यह बैजनाथ की प्रशस्ति के नाम से प्रसिद्ध है। यह नवीं सदी के प्रथम चरण का उत्कीर्ण लेख है। यह लेख शारदा लिपि में अत्यन्त अलङ्कृत संस्कृत भाषा में है। इसमें मन्दिर के निर्माण-कर्ता, कलाकार, दानकर्ता एवं बनवाने वाले दानी का नाम उत्कीर्ण है। इस प्रशस्ति के अनुसार बैजनाथ का नाम तब कीरग्राम था और यह जनपद त्रिगर्त राज्य में स्थित था। इस जनपद का शासक राजन्य लक्ष्मण था जो त्रिगर्त के राजा के अधीन था। इस मन्दिर का निर्माण कराने वाले दो प्रसिद्ध वणिक् बन्धु, सिद्ध के पुत्र, मनस्वी और पुण्यात्मा मनयूक और आहुक थे। राजन्य लक्ष्मण के सम्बन्ध में लिखा है कि उसकी बलशाली भुजाएं इस जनपद की रक्षा करती हैं और जब से इस सामन्त ने तीर्थ-यात्रा की है तब से उसने प्रतिज्ञा कर ली है कि वह पराई स्त्री को अपनी बहिन के समान समझेगा। यह अचरज की बात नहीं है कि वह विकट युद्ध में भी अजेय है क्योंकि कामदेव भी उसको पराजित न कर सका। इस प्रशस्ति में आगे लिखा है, कुछ लोग सोचते हैं कि किसी जनपद पर शासन करने का मुख्य आकर्षण यह है कि सामन्त को जनपद की पराई स्त्रियों के भोग का अवसर मिलता है, परन्तु सैनिक ऐसे लोगों को निरादर की दृष्टि से देखते हैं, हमारे सामन्त में यौवन और सौन्दर्य दोनों है और चाटुकारों की भी कमी नहीं है, पर तब भी वह परदारा-भोग से परहेज करता है। अतः इस सामन्त के लिए कोई तपस्या कठिन नहीं है।

इस प्रशस्ति से तत्कालीन सामन्त-वर्ग के आचार और नैतिक स्तर का आभास मिलता है। जनसाधारण की मान-मर्यादा, धन-सम्पत्ति और आत्म-प्रतिष्ठा इन सामन्तों

की दया और कृपा पर निर्भर थी, ऐसा प्रतीत होता है कि सामन्त और उसके चाटुकारों को यह छूट थी कि जिस स्त्री का सतीत्व वे भंग करना चाहे कर सकते थे। अकबर महान् जैसा शासक भी इस दुर्बलता का शिकार हुआ था। 'नौरोज' जैसे उत्सवों का आयोजन उसने इसीलिये किया था कि इस उत्सव में आने वाली सम्भ्रान्त परिवारों की सुन्दर स्त्रियों को वह छिपकर देख सके, हालांकि उसके 'हरम' में सैकड़ों देश-विदेशी सुन्दरियां होती थीं। इस प्रशस्ति के अनुसार कृपाम का सामन्त भले ही इस कुत्सित प्रथा का अपवाद हो और वह भी तीर्थ-व्रत के उपरान्त, पर तत्कालीन अधिकांश ठकुराई शासकों और उनके चाटुकारों के कुत्सित और निन्दनीय आचरण की ध्वनि इस प्रशस्ति में स्पष्ट है।

ठकुराइयों के युग में कैसी शासन-व्यवस्था रही होगी? इसको समझने के लिये हमें आज के समाज के माप-दण्डों का आश्रय नहीं लेना होगा। वह व्यक्ति की गरिमा का युग नहीं था। तब गरिमा तो केवल शासक की ही थी या उसके प्रमुख कारिन्दों की। ठाकुर या राजा अपनी अधीनस्थ भूमि का असीम शक्ति का स्वामी था। जिमींदार उसकी भूमि पर खेती करता था, उसके जंगल से लकड़ी-घास प्राप्त करता था, जीवन-यापन के सभी साधन उसको राजा की भूमि और वन से प्राप्त होते थे। इस प्रकार उसका जीवन राजा के अधीन था। इस कृपा के बदले उसके राजा के प्रति कुछ अनिवार्य दायित्व थे। इस भूमि से जो कुछ वह प्राप्त करता था उसका कुछ भाग राजा या ठाकुर को देना पड़ता था। यह प्रथा तो सर्वत्र संसार में रही है। परन्तु न्यायपूर्ण और उचित 'भाग' का निर्धारण सर्वदा विवादास्पद रहा है, यह मालूम नहीं कि किस रूप में और किस मात्रा या परिमाण में समाज के विभिन्न वर्ग कर या सेवा के रूप में शासक को देते थे। परन्तु उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण तक और कई राज्यों में बीसवीं सदी या देसी राज्यों के भारत के गणराज्य में विलय होने तक बेठ-बेगार का जो रूप देखने में आया है, वह इतना पुराना था जितनी ये ठकुराइयां या राज्य थे। यहां प्रथाएं, रीति-रिवाज और समाज के आपसी सम्बन्धों की परम्पराएं इतनी मन्थर गति से बदलती थीं कि सदियों के बाद भी उनमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं मालूम पड़ता था।

बेगार प्रथा—

अतः बेठ-बेगार और कर का जो रूप इन राज्यों में प्रचलित था वह अज्ञात अतीत से चला आ रहा था। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अधिकांश राज्यों और ठकुराइयों में जमीन की पैमायश हुई। उस समय कर और बेठ-बेगार के रीति-रिवाजों में कुछ परिवर्तन हुआ और जिमींदार का कर और बेगार का बोझ कुछ कम हुआ, परन्तु बेगार के कुछ अंश तब भी अक्षुण्ण रखे गये। इस प्रथा की पूर्ण समाप्ति तो रियासतों के भारत में विलय होने पर ही हुई।

दो प्रकार की बेगार इन सभी पहाड़ी राज्यों में प्रचलित थी: अठवाड़ा बेगार और हेला बेगार। इनका विस्तृत विवरण यथा स्थान दिया जायेगा। यहां पर कुछ

स्थूल रूप ठकुराई शासन के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये प्रस्तुत किया जा रहा है। अठवाड़ा बेगार वर्ष भर की नियमित बेगार थी। प्रत्येक जिमीदार परिवार का एक व्यक्ति को निश्चित अवधि के लिये ठाकुर या राजा की सेवा के लिये भेजना पड़ता था। यह अवधि दो महीने से लेकर छ महीने या इससे भी अधिक हो सकती थी। यह इस बात पर निर्भर करता था कि राज्य कितना बड़ा है। छोटी ठकुराइयों में सेवा-अवधि मास और इससे भी अधिक होती थी। प्रायः इस सेवा-काल में बेठू को खाना भी अपना खाना पड़ता था। जो ठाकुर के महल में काम करते थे, उनको कहीं कहीं खाना मिलता था। बाहर काम करने वालों को स्वयं अपनी व्यवस्था करनी पड़ती थी। बेगारी को प्रत्येक प्रकार के काम करने पड़ते थे, घास काटना, जंगल से लकड़ी लाना, पशुओं की सेवा करना, खेतों में काम करना, ठाकुर की गाय को दूहना, बच्चों को खिलाना, घर-गृहस्थी के सभी व्यापार निभाने पड़ते थे।

'हेला बेगार' कुछ विशेष कार्यों के लिये होती थी, जैसे ठाकुर के मकान, महल का निर्माण, सड़कों की मरम्मत, ठाकुर के घर में कोई गमी या उत्सव हो या सैन्य अभियान में जाना हो। ऐसे अवसर पर परिवार में कम से कम एक व्यक्ति को ऐसे कार्यों में सम्मिलित होना पड़ता था। इस बेगार का कोई निश्चित समय नहीं होता था। यह आकस्मिक, आवश्यकता-मूलक होती थी।

शिमला पहाड़ की रियासतों के गजेटियर के अनुसार क्योंथल राज्य की राजधानी जुणगा में प्रतिदिन १७६ आदमी बेगार के लिये तैनात रहते थे। उनको मजदूरी या भोजन कुछ नहीं मिलता था। बुशैहर राज्य में रामपुर में २२५८ बेगारी रहते थे, अन्य चौकियों पर बेगारी इनके अतिरिक्त थे। प्रतिदिन विभिन्न सेवाओं के लिये विभिन्न स्थानों पर बेगारियों की कुल संख्या तीन हजार से अधिक होती थी। क्योंथल राज्य में १८९८ ई० में जमीन की पैमाइश हुई, आधुनिक ढंग की तहसीलें बनी, लगान निश्चित किया गया, परन्तु तब भी 'अठवाड़ा' और हेला' बेगारें जारी रखी गईं। राथी और पुन्नर इलाके के जिमीदारों को मिलकर १२४ मन लकड़ी जुणगा गोदाम के लिये एकत्र करनी पड़ती थी। यह काम फाल्गुन के महीने में करना पड़ता था। परगना फागू चलासी और टीर महासू के जिमीदारों को बारी-बारी सारा वर्ष फागू चौकी पर बेगारी के रूप में रहना पड़ता था। इसके अलावा प्रत्येक घर को छ मन लकड़ी जुणगा गोदाम में देनी पड़ती थी। शकोट परगने के प्रत्येक घर को साल भर में २५ मन घास शिमला के पास कुसुमटी और खिलिनी गोदामों में देना पड़ता था। इसी प्रकार अन्य कई परगनों को प्रत्येक घर के हिसाब से २५ मन घास वर्ष भर में पूरा करना पड़ता था। इन कार्यों में ढील होने पर दण्ड की व्यवस्था थी। शिमला के निकट कोटी राज्य में सात पुलिस चौकियां थी प्रत्येक चौकी में एक दारोगा एक मुन्शी और दस सिपाही रहते थे, पर ये सभी निश्चित अवधि के लिये बेगारी होते थे, कोई वेतन भत्ता इनको नहीं मिलता था। इनकी बेगार की अवधि समाप्त होने पर अन्य बेगारी अपनी बारी के लिये आते थे। केवल सजौली चौकी पर वेतन भोगी दारोगा और सिपाही होते थे।

बुशहर की कर-प्रथा—

बहुत पुराने जमाने से बुशहर मे दो प्रकार के कर थे, 'करदाह' और 'फाट'। 'करदाह' नियमित वार्षिक कर थे और 'फाट' कभी-कभी लगाये जाने वाले रस्मी कर थे। 'करदाह' कम से कम २५ प्रकार के थे, इनमे घी, ऊन, मदिरा, मूडी (भुने गेहू और जौ) छेनू (भेड बकरी मन्दिर मे बलि के लिये) राजा के पहनने के कपडो के लिये 'चोलमग' नाम का कर, 'छोलटी', वजीर और दूसरे कर्मचारियो के वेतन का कर, हायगन—राजा के हाथी का खर्च, 'हेरू' मृगया के चौकीदारो का कर आदि, आदि। राजा के प्रत्येक व्यय का लेखा-जोखा इन करो के साथ सम्बद्ध था। 'फाट' विशेष अवसरो पर, जैसे राजा के यहा मरण, विवाह, राजा का राज्य-तिलक, जन्म दिन, देवोत्सव आदि पर पुरानी प्रथा के अनुसार एकत्र की जाती थी। टेहरी राज्य मे बेगार के लिये एक सुसस्कृत शब्द का प्रयोग होता था, वह था 'प्रभु-सेवा'। पर उसी राज्य मे पुरातन परम्परा के अनुसार ६८ प्रकार के कर लिये जाते थे। इनको "छबीसी रकम"—राजकीय कर की छबीस मदें और "बत्तीसी रकम"—विभिन्न प्रकार के व्यय-पूर्ति के कर थे।

स्वेच्छाचारी ठाकुर—

कुछ राज्यो मे राजा या ठाकुर खेती योग्य भूमि का नजराने के आधार पर हस्तान्तरण करते थे। राजा जब चाहे अधिक नजराना देने वाले को जमीन को एक कृपक से छुडाकर दूसरे कृपक को दे देता था और ऐसा हस्तान्तरण प्राय होता रहता था। निर्बल कृपक की कोई सुनवाई नही थी। राजा को प्रजा के किसी व्यक्ति के जीवन पर पूरा अधिकार था, रुष्ट और क्रोधित होने पर ठाकुर उसके प्राणो को भी ले सकता था, स्वेच्छाचारी शासन मे यह सब कुछ सम्भव था। गोरखा युद्ध के समय एक छोटी सी ठकुराई के ठाकुर ने देवी के मन्दिर के अन्दर एक मामूली धृष्टता के कारण एक युवक का तलवार से सिर धड से अलग कर दिया यह ठकुराई शिमला के निकट कोट-रतेश की ठकुराई थी। बाद मे उस युवक के गांव के लोगो ने षड्यत्र से ठाकुर को भी कत्ल कर दिया। ये घटनाए अभी-अभी के इतिहास की है, परन्तु ये सदिया पुरानी परम्परा से सम्बद्ध है। आज भी मेलो मे सम्मिलित होने, विशेषत 'बिपु' नाम के मेले मे जब धनुप-बाण (ठोडा) के खेल का प्रदर्शन करने गाव के लोग दल बनाकर गाजे-बाजे के साथ आते हैं, तब उनके हाथो मे पुराने शस्त्रास्त्र, धनुप-बाण, नकली तलवार खड्ग, भाले गडासा आदि होते हैं। युद्ध की ललकार और तुमुल करते हुए जब वे चलते हैं, तो उस युग का आभास होता है जब ठाकुर के नेतृत्व मे ये दल लूट-मार करने एव अपने शत्रु के इलाके पर हमला करते थे।

पर इस प्रकार की अस्थिरता, हिंसा और अराजकता दलगत जीवन तक सीमित थी, यह मूलत राजनैतिक स्तर पर थी, व्यक्तिगत स्तर पर जीवन अत्यन्त सरल, सहानुभूति-पूर्ण और पारस्परिक स्नेह और सौहार्द से अनुप्राणित था। प्रत्येक गांव का अपना देवता होता था। जन-साधारण की इन देवताओ पर अगाध श्रद्धा और

आस्था होती थी। गाव के छोटे-मोटे झगडे और समस्याओ का समाधान ये देवता ही कर लेते थे। सारा सामाजिक जीवन इन देवताओ से ऐसा नियन्त्रित और गुथा होता था कि राज-तन्त्र के हस्तक्षेप की आवश्यकता ही नहीं पडती थी। जीवन परम्पराओ से स्वायत-शासी-जैसा था। ठाकुर को प्रधानत अपने कर और बेगार-सेवा से मतलब होता था। यह भी देवता के अनुशासन मे था। लोग शान्ति प्रिय और परस्पर सहयोग-सूत्र मे बन्धे होते थे। उन्नीसवी सदी मे जब अग्रेजो का यहा अधिपत्य हुआ, उनके तत्कालीन विवरण से पता चलता है कि पहाडी क्षेत्र में चोरी, डाके, धोखा-फरेब जैसे अपराधो का अभाव था। लोग अपनी परम्पराओ और प्रथाओ से निबद्ध, शान्ति-प्रिय और कानून का पालन करने वाले थे, कत्ल जैसे जघन्य अपराध कही कही बहुत कम सुनने मे आते थे। समाज का यह स्वरूप ठकुराइयो की भान्ति सदियो पुराना था। ठाकुर और ठकुराइया बदलती होगी, पर जनसाधारण के रूढ़िगत जीवन का प्रवाह शान्त नदी की भान्ति अबाध गति से चलता रहा। उस सरल समाज मे सभी उच्च मानवीय गुण, प्रेम, सहानुभूति, सहयोग, आतिथ्य और पारस्परिक सहायता और सद्भाव व्यक्तिगत जीवन को अनुप्राणित करते थे।



३. खश या खश्या

काश्मीर से नेपाल तक के विस्तृत हिमालय क्षेत्र को यदि खश देश कहा जाय तो अनुचित न होगा। इतिहासकार प्राय एक मत हैं कि सदियो पहले हिमालय के पार मध्य एशिया से यह घूमन्तू पशु-पालक जाति इस क्षेत्र मे आई और कालान्तर मे इस



रोहड़ मे खश-दम्पती

सारे क्षेत्र मे फैल गई, देश-काल के प्रभाव से इनके अलग-अलग नाम, बोलिया, सास्कृतिक भिन्नताएं और रीति रिवाज उत्पन्न हो गये। अन्य जातियो के सम्पर्क और रक्त-सम्मिश्रण से स्थानीय भिन्नता अधिक गहरी हो गई। फलत आज मूलरूप पहचानना कठिन है।

खश-क्षेत्र—

आज भी गढ़वाल, कुमाऊ, नेपाल और हिमाचल प्रदेश के कई स्थानो मे खश या खश्या नाम से यह जाति जानी जाती है, गढवाल मे खशो के बारे मे पुरानी लोक-प्रचलित उक्ति है, "केदारे खश मण्डलम्"—केदार खश क्षेत्र है, परन्तु खशो को केदार क्षेत्र तक सीमित करना अनुचित होगा। सम्भवत यह धारणा दक्षिणात्य और मैदानो से आये लोगो की थी। सदियो पहले ये लोग इस क्षेत्र के सम्पर्क मे आये। शकराचार्य के परवर्ती काल मे केदार खण्ड भारत का प्रमुख तीर्थ स्थल बना और हिमालय क्षेत्र के अन्य स्थानो की अपेक्षा यह प्रदेश मैदान-वासियो के सम्पर्क मे अधिक आया। कोई आश्चर्य नही कि इन लोगो ने यहा के निवासियो की पुरातन जीवन-पद्धति को देखकर जो उनकी सास्कृतिक परम्पराओ से भिन्न थी, यह कह दिया हो कि केदार खण्ड खशो का गढ है। परन्तु इसका कदापि यह आशय नही कि यह जाति केदार खण्ड तक ही सीमित थी। स्कन्द पुराण मे हिमालय क्षेत्र को पाच भौगोलिक खण्डो मे विभक्त किया है—

खण्डा पञ्च हिमालयस्य कथिता नैपालकूर्माचलौ।
केदारोऽथ जालन्धरोऽथ रुचिर काश्मीर सज्ञोऽन्तिम ॥

हिमालय क्षेत्र के नैपाल, कुमाऊ, केदार (गढवाल) जालन्धर (हिमाचल प्रदेश) और सुरम्य काश्मीर पाच खण्ड हैं। वास्तव मे खश जाति की विचरण-भूमि मुख्यत ये पाच खण्ड थे। जीवन के अनेक सघर्ष और उतार चढाव खशो ने इन पाच खण्डो मे देखे। आज भी हिमाचल प्रदेश मे यह जाति खश नाम से जानी जाती है। कुछ स्थानो के नाम जैसे रोहडू तहसील मे खश धार और रामपुर तहसील का एक भाग कश्यापाट (खश्या-पाट) इस पुरातन जाति के नाम से सम्बद्ध है। हिमालय क्षेत्र मे बसने वाली विभिन्न जातियो और सामाजिक वर्गों के आज अलग-अलग नाम हैं, कनैत राव, चौहान, नेगी, विष्ट, रावत आदि। इनमे कुछ नाम व्यवसाय मूलक हैं। पर ये सब उसी मूल खश जाति अथवा उसकी रक्त-मिश्रित उपजाति के वशज हैं। सदियो के लम्बे इतिहास मे कितना रक्त-सम्मिश्रण हुआ, कितना भाषा व बोलियो का रूपान्तर हुआ, कितनी धार्मिक, सास्कृतिक और राजनैतिक उथल-पुथल की परतें एक-दूसरे के ऊपर जमी हैं, इन सबका अनुमान और मूल्याकन करना कठिन है। इन सबका वृतान्त अतीत के अन्धकार मे इतना धूमिल हो चुका है कि कुछ भी स्पष्ट नही है।

पौराणिक वाङ्मय में खश—

पौराणिक इतिवृत्तो मे खशो का प्राय उल्लेख हुआ है। इनका कई नामो से वर्णन आया है, यह उल्लेख अफगानिस्तान से नेपाल तक के पर्वतीय क्षेत्र एव इसके आचल मे बसने वाली जातियो के साथ हुआ है, मार्कण्डेय पुराण मे खशो को पर्वतवासी बताया गया है —

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि जना पर्वताश्रिताश्च ये।
नीहारा हस भर्गवाश्च, कुरवोगुर्भणा खशा ॥

गन्धर्वान् किन्नरान् यक्षान् रक्षो विद्याधरोरगान् ।
कलापग्रामकाश्चैव तथा किंपुरुषान् खसान् ॥

पर्वताश्रित जातियो मे खशो के साथ पुराणो मे बहुचर्चित देव-योनि वर्ग, यक्ष, किन्नर अथवा किंपुरुष, गन्धर्व, विद्याधर नाग आदि जातियो का प्राय वर्णन आया है, इन देव योनि जातियो का अलग अस्तित्व सन्देहास्पद प्रतीत होता है। यह सम्भव है कि खशो को स्थान-भेद के कारण ये अलग-अलग नाम दिये हो, राहुल साकृत्यायन ने अपने यात्रा-विवरण मे कनौरो को किन्नर की सज्ञा दी है। यह सर्वथा भ्रामक है। कनौरा वर्ग एक भाषाई इकाई प्रतीत होती है। कनौरी बोली मुण्डा-भाषा परिवार और तिब्बती भाषा का सम्मिश्रण है, अन्यथा कनौरो और कनैतो मे कोई सांस्कृतिक अन्तर नही है। नृत्य और गायन करने वाले यदि किन्नर थे तो पहाडी लोग सभी किन्नर कहे जा सकते हैं क्योकि इस कला के प्रेमी सभी पर्वत-वासी हैं, स्वय राहुल जी ने अपनी अन्य पुस्तक "मेरी जीवन यात्रा" मे १६३१ ई० मे तिब्बत से लौटते हुये जब वे शिप्की के मार्ग से कनौर मे आये तो उन्होने लिखा कि इन लोगो को कनौरा कहते है, कदाचित् इसलिये कि ये सतलुज के किनारे बसे है, पर १९४८ ई० मे उन्होने इनको किंपुरुष, किन्नर की सज्ञा दे दी और कह दिया कि स्नान न करने से, गन्दा रहने से इनको किंपुरुष ? कह दिया हो। मगोल रक्त के तनिक मिश्रण से तुरग वदन भी कुछ-कुछ ठीक घटता हो। परन्तु यह सभी सीमान्त वासियो पर घटता है। कनौरा नाम कनैत का ही रूपान्तर है और कनैत कुलिन्द का विकृत रूप है। खशो का उल्लेख कर्ण, नाग, प्रावण, हूण, किरात दरद आदि पर्वतीय जातियो के साथ भी हुआ है। इन सभी पर्वताश्रयी जातियो को स्मृतिकारो ने धर्म-भ्रष्ट, अर्द्ध सभ्य और धर्म-विरुद्ध आचरण करने वाले बताया। मनु और महाभारत ने इन पर्वताश्रित जातियो को व्रात्य (धर्म-भ्रष्ट) की सज्ञा दी है, मनु ने तो सस्कारहीन होने से इनको वृषल (बैल) बताया।

शनकैस्तु क्रिया लोपात् या हि क्षत्रिय जातय ।
वृषलत्व गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥१० ४३
पौण्ड्रकाश्चौड्र द्रविडा कम्बोजा यवना शका ।
पारदा पल्हवा चीना किराता दरदा खशा ॥१० ४४

ये सभी पर्वताश्रयी जातिया क्षत्रियो की कोटि मे गिनी जाती थी। परन्तु ब्राह्मणो के दर्शन से वचित पौण्ड्र, अवविड, कम्बोज (उत्तर-पश्चिम सीमान्त वासी) यवन, शक, पारद, पल्हव, चीनी (हिमालय क्षेत्र के सीमान्तवासी मगोल) किरात, दरद एव खश, वृषलत्व को प्राप्त हुये। इस प्रसग मे रोचक यह तथ्य है, कि आज भी कनौर मे कोई ब्राह्मण परिवार नही है। कनौर की वर्तमान जनसख्या ५० हजार से अधिक है। ये सभी कनैत या कोली हैं। वास्तव मे पर्वत-वासियो को पुरातन काल से ही निम्नस्तर का समझा जाता था। इसका कारण उनकी आर्थिक विपन्नता, भिन्न सास्कृतिक परम्पराए एव खान-पान और पहनावे की भिन्नता रही हो। इसमे कोई सन्देह नही मैदानो मे रहने वाले स्मृति-पोषक धर्मावलम्बी तब भी पहाडी लोगो को हेय दृष्टि से देखते होंगे।

इसकी ध्वनि पौराणिक वाङ्मय मे प्राय मिलती है। कल्हण-कृत राजतरंगिणी के टीकाकार रघुनाथसिंह काश्मीर के नीलमत पुराण का उदाहरण देते हुये खशो को यक्ष, राक्षस और पिशाचों के साथ सम्मिलित करते हैं —

गन्धर्वा वाजिन पुत्रा मद्राश्च सुरभे सुता।
मक्षाश्च राक्षसाश्चैव खशाया स्तनया स्मृता ॥

पुराणो मे वर्णित विभिन्न नाम वास्तव में एक ही खश जाति के लिये देश-काल के अनुसार प्रयुक्त हुये हैं। हिमालय मे बसने वाली मूल किरात और नाग जातियों से खशों का रक्त सम्मिश्रण हुआ है। कश्यप की पत्नी कद्रू थी। कद्रू नाग कन्या थी और उसकी सन्तान दानव, खश, पिशाच और राक्षस थे। ये सभी नाम पर्यायवाची प्रतीत होते हैं। जब इनका प्रयोग हुआ होगा, तब कदाचित् इन नामो से मानव के विकृत रूप की ध्वनि प्रतीत नही होती होगी। परवर्ती समय मे तो दानव, पिशाच और राक्षस की मानव से इतर भूत, प्रेत और भयावहरूप की ध्वनि इंगित होती थी, 'पिशाच' एक ऐसा शब्द है, परन्तु यह एक ऐतिहासिक शब्द है जो ऐसे लोगों का द्योतक है जो विशेष प्रकार की भाषा बोलते थे। यह पैशाची भाषा थी। यह अपभ्रंश का एक रूप था। इसी से पाचाल पैशाची और शौरसेनी पैशाची अपभ्रंश का उद्भव हुआ। यह पैशाची अपभ्रंश हिन्दुकुश, कपिशा, काफिरीस्तान, गान्धार, चितराल, काश्मीर के उत्तर और पामीर के दक्षिण मे बोली जाती थी और इतिहासकारो के अनुसार सदियो पहले यहीं से खशो का प्रसार पूर्व और दक्षिण की ओर हुआ।

पिशाचों और राक्षसों ने महाभारत के युद्ध म कौरवो का साथ दिया था। शक, कम्बोज, वाल्हीक, त्रिगर्त, तगण, प्रतगण, खश, पारद, दरद आदि सभी पर्वताश्रयी जातियों ने कौरव पक्ष का साथ दिया था।

दिवसे-दिवसे प्राप्ते भीष्म शान्तनवोयुधि।
असुरानवरोत् व्यूहान् पैशाचान् अथ राक्षसान् ॥

असुर, पिशाच और राक्षसो की सेना से व्यूह रचना करके भीष्म ने महाभारत के युद्ध का सचालन किया। महाभारत मे खशो का अन्य हिमालय वासी जातियो के साथ राजसूय यज्ञ मे सम्मिलित होने का उल्लेख मिलता है। निम्न श्लोक के अनुसार खश मेरू और मन्दार पर्वतों के मध्य शैलोदा नदी की उपत्यका मे रहते थे। इसका सकेत सम्भवत गढ़वाल की अलकनन्दा उपत्यका से हो।

मेरू मन्दारयो मध्ये शैलो दामभितो नदीम्।
ये ते कीचक वेणूना छायामृरम्यामुपासते ॥
खशा एकासना ह्यर्हा प्रदादीर्णवेणव।
तद्वै पिपीलिकं नाम उद्धृत यत् पिपीलिकैं ।
जातरूप द्रोणमेवम् अहार्षु पुजशो नृपा ॥

खशो ने पिपीलिका नामक सुवर्ण युधिष्ठिर को उपहार के रूप मे प्रस्तुत किया था। ऐसा विश्वास किया जाता है कि तिब्बत के नारी क्षेत्र (पश्चिमी तिब्बत) मे पिपी-

लिका (चींटिया) जमीन के नीचे से सोने के कणों को ऊपर लाती थी जिसको तिब्बती एकत्र करके खशों को बेचते थे, ये स्वर्ण-कण (धूल) पिपीलिका स्वर्ण कहलाता था। यूनानी इतिहासकार हीरोडोटस् ने भी इस स्वर्णधूल का उल्लेख किया है। उसके अनुसार हिमालय के उत्तरी प्रदेश में चींटियों द्वारा खोदी स्वर्णधूल होती है। सीमान्त के भारतवासी इसको एकत्र करते हैं। ये गढवाल के खश ही थे। तिब्बत के नारी प्रदेश में सोने की खानों की विद्यमानता सर्व विदित है, पर इतने प्राचीन काल में (तीसरी सदी ई० पूर्व) भी गढवाल के खश या तिब्बत के साथ व्यापार करते थे—यह आश्चर्यजनक बात है। परवर्ती ऐतिहासिक काल में तो यह व्यापार कई प्रकार से होता था।

ऐतिहासिक काल के खशों का उल्लेख—

एटकिन्सन के अनुसार ईसा की पहली शताब्दी में खश को यक्ष कहते थे। यक्ष, राक्षस और पिशाच पर्यायवाची शब्द थे। विशाखदत्त कृत मुद्राराक्षस नाटक में खशों का पर्वतेश्वर और उसके पुत्र मलयकेतु की सेना में मुख्य सैनिक होने का संकेत मिलता है। आमात्य राक्षस कुमार मलयकेतु की सेना को आदेश देता है कि कुसुमपुर (पाटलिपुत्र का पुराना नाम) पर आक्रमण करते हुये सबसे प्रथम खश और मगध के सैनिक ध्वजा फहराते हुये चलें आदि-आदि।† इस नाटक के अनुसार कुलूत, काश्मीर, सिन्धु और पारस व मलयाधिपति ने कुसुमपुर पर आक्रमण में भाग लिया था। इस नाटक का रचना काल ई० सन् की पांचवी शती माना जाता है। कुलूत का राजा चित्र वर्मा और अन्य नाम भले ही काल्पनिक हों, परन्तु उत्तर-पश्चिम क्षेत्र में खशों के प्राबल्य से इनकार नहीं किया जा सकता है। उत्तर पश्चिमी क्षेत्र में बिन्दुसार के शासन काल में विद्रोह हुआ था। अशोक ने अपने पिता के समय तक्षशिला क्षेत्र में जहां वह स्थानिक (राज्यपाल) रहा था, इस विद्रोह को दबाया था। इसके बाद अशोक ने खशों के विरुद्ध अभियान किया। यह क्षेत्र कुणार, स्वात और काश्मीर उपत्यकाएं रही होंगी। यह खश-क्षेत्र था। अशोक ने चैत्यों के निर्माण में यख (यक्ष) कलाकारों से सहायता ली थी। यक्ष खश ही थे। उसकी सेना में खश वेतन भोगी सिपाही भी थे। मौर्य साम्राज्य के स्थापना-काल से बाद तक मौर्यों का खशों से सम्बन्ध रहा।

खश कौन थे ?

खशों का मूल विवादग्रस्त है। कोई इनको आर्यों की एक शाखा मानते हैं और कोई आर्यों के बाद आने वाली नई जाति मानते हैं। गढवाल व कमाऊं के गजेटियर के

---

†प्रस्थातव्य पुरस्तात्खश मगध गणैर्मामनु व्यूहसैन्यै—
गान्धारं मध्ययाने सयवनपतिभि सविधेय प्रयत्न।
पश्चात्तिष्ठन्तु वीरा शकनरपतय सभृताश्चीनहूणं।
कौलूताद्यश्च शिष्ट पथि पथि वृणुयाद्राजलोक कुमारम्॥११॥

मुद्राराक्षस पञ्चमाङ्क

लेखक ई० टी० ऐटकिन्सन जिसने इस विषय पर कुछ शोध कार्य किया, मोटे तौर पर खशों को आर्यों से सम्बद्ध मानता है। राहुल सांकृत्यायन ने खशों को शकों की एक शाखा माना है। उनके अनुसार शकों के दर्जनों कबीले थे जो कैस्पियन सागर से लोपनोर तक ईसा पूर्व छटी-सातवी सदी में फैले थे। इनका एक कबीला तॅरिम उपत्यका में (सीक्यांग) बसा था। पूर्व से मंगोलों के दबाव के कारण ये कबीले पश्चिम और दक्षिण की ओर जाने में विवश हुये। इस कबीले का नाम खश ही था। अन्य प्रमुख कबीले थे, मसागित्, मकरोक, वसून्, यूची आदि। उनके अनुसार ई० पूर्व सातवी सदी में पहले तॅरिम उपत्यका खश नाम का कबीला पामीर गिरिमाला को पार कर गिलगित, काश्मीर और सम्भवत. लद्दाख में प्रविष्ट हुआ। यह अत्यन्त विकट मार्ग था, पामीर के इस पार फैलने में उनको कई वर्ष लगे होगे, यहां से इनका प्रसार पूर्व, दक्षिण और पश्चिम दिशाओं की ओर हुआ। पश्चिम में इनका प्रसार कुणार उपत्यका की ओर हुआ और दक्षिण में काश्मीर और पूर्वी पर्वतीय क्षेत्र की ओर। इस प्रसार में इनको कई सदिया लगी। कालान्तर में ये काश्मीर से नैपाल तक के समस्त पहाड़ी क्षेत्र में फैल गये। चीनी इतिहासकार इनको 'साई' कहते थे और उनके अनुसार ये लोग 'की पिन' मार्ग से काश्मीर में आये। कदाचित् फहियान इसी मार्ग से भारत में आया हो। परम्परा यह भी है कि अशोक के एक पुत्र कुस्तुन ने खोतान में एक राज्य की स्थापना की थी। जालोक नाम का अशोक-पुत्र काश्मीर का शासक तो था ही। खोतान राज्य की स्थापना भी इसी मार्ग से हुई होगी। परवर्ती काल में तो पामीर का मार्ग मध्यएशिया और भारत के बीच व्यापार का राजमार्ग बना।

वैसे शक कबीलो का मुख्य अभियान ई० सन् पहली सदी में आरम्भ हुआ। सीथियन, वैक्ट्रियन और कुषाण कबीला के रूप में अफगानिस्तान के मार्ग से ईरान, सिन्ध, गुजरात और उत्तर-पश्चिमी प्रदेश, गान्धार में फैले। इनमें कुषाण कबीला एक शक्तिशाली साम्राज्य को स्थापित करने में सफल हुआ, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि परवर्ती काल के शक कबीलो का खश कबीले शको से कोई सम्बन्ध नहीं था। खश लोग सदियों पहले, ई० पूर्व छ-सात सौ वर्ष पहले पामीर पर्वतमाला को लाघ कर हिमालय क्षेत्र में फैल चुके थे। इनका मार्ग पामीर गिरि माला था जबकि बाद में आने वाले शकों का मार्ग अफगानिस्तान और कदाचित खैबर का दर्रा था। वैसे इन कबीलो को भी पार्थिया, वैक्ट्रिया और बदक्शा में फैलने में सदिया लगी। इन कबीलों ने उक्त प्रदेशों में सदियों पहले स्थापित यूनानी राज्यो का उच्छेद किया और स्वय वे उन राज्यों के स्वामी बने। ईरान का सीस्तान प्रदेश शकों के नाम से शक स्थान या सीस्तान कहलाया। पाणिनी ने अपनी अष्टाध्यायी में 'शक शूद्राभालाम्' सूत्र से शकों की ओर सकेत किया है। पाणिनी का काल ई० पूर्व चौथी-पाचवी सदी माना जाता है। पर शकों से भारतीयों का सम्पर्क ई० सन् की पहली शताब्दी में मुख्य रूप से हुआ। सम्भव है कि बहुत पहले से भारतवासी खश नाम के शकों से परिचित थे और पाणिनी का सकेत इन्ही शकों से हो। खश लोग पाणिनी से पूर्ववर्ती समय में काश्मीर, स्वात घाटी और सिन्ध और हिन्दुकुश के

ोव के क्षेत्र मे फैल चुके थे और यह भी सम्भव है कि इनका प्रसार पूर्व दिशा की ओर ालन्धर खण्ड और गढवाल की ओर हो चुका हो। इनके गणराज्य इस क्षेत्र मे स्थापित ो चुके हो। वैसे परवर्ती काल म आने वाले शको का भी हिमालय क्षेत्र से घनिष्ट म्बन्ध रहा जिसका उल्लेख यथा स्थान किया जावेगा। काबुल मे कनिष्क के वशजो का ाज्य तुर्की शाही राजाओ के नाम से ग्यारहवी सदी तक रहा। अरबो के आक्रमण इस ाज्य पर आठवीं सदी से होने आरम्भ हो गये थे।

पैत्रीय नामों से खशो का सम्बन्ध—

ऐटकिन्सन ने काश्मीर, हिन्दुकुश और सिन्ध नदी के मध्य के भाग को खशों की स्मृति से सम्बद्ध किया है। खश नाम चितराल, गिलगित, स्वात-उपत्यका और काफिरी-स्तान म नदी, पहाडो और अन्य स्थानीय नामो से सम्बद्ध है। हिन्दुकुश और सिन्ध के बीच का क्षेत्र खोस (खश) डिवियन कहलाता है। खोस या खश शब्द कई नदियो और पहाडो के नाम से जुड़ा है, यहा की नदियों के नाम खोस, खोसपिर्न, खसपिन आदि हैं। हिन्दुकुश और काश्मीर नाम इसी प्रकार के प्रतीत होते हैं। काशगर को भी खश नाम से जोडा जाता है। कुणार उपत्यका के ऊपरी भाग को कश्कार (खशकार) कहते हैं। इसके उत्तरी भाग को 'लुरी खो' मध्य को 'मुल खो' और निचले भाग को 'लुड खो' कहते हैं। 'खो' शब्द का सम्बन्ध खश नाम से प्रतीत होता है। किसी समय यह क्षेत्र खश जाति के प्रभुत्व का क्षेत्र रहा होगा।

नाग जाति—

उत्तरी भारत, विशेषतः हिमाचल क्षेत्र मे नाग जाति का प्रभाव आदिम युग से सदियो बाद तक रहा। यह नाग-उपासक जाति थी और शैव धर्म से भी इनका सम्बन्ध था। ये कौन लोग थे, यह विवाद का विषय बना हुआ है। सम्भवत इनका सम्बन्ध सिन्धु सभ्यता से हो, शिव और नाग उपासना के तत्त्व इस सभ्यता के धर्म मे विद्यमान थे। आर्यों का नाग जाति से सदियो तक सघर्ष रहा। इस सघर्ष की ध्वनि पौराणिक वाङ्मय

[illegible] न महाभारत की एक
[illegible] परन्तु इस सघर्ष की
[illegible] सम्भवत इसमे कई
[illegible] था कि नाग जाति का
[illegible] र्य या भारतीय जीवन
[illegible] नष्ट हो गया और नाग
[illegible] मक सघर्ष मे यह स्वा-

भाविक था कि नाग जाति जो आर्यों के आने से पहले इस देश मे बसे थे, इधर-उधर बिखर गये हो। इनमे अधिकाश हिमालय क्षेत्र की ओर गये हो क्योंकि इस क्षेत्र मे काश्मीर से लेकर कुमाऊ तक नागो की पूजा और परम्परा व्याप्त है। अनेक स्थानो के नाम नाग शब्द से सम्बद्ध हैं, स्थान-स्थान पर नाग मन्दिर और नाग-जलाशय हैं जहां

नागो का वास माना जाता है। धर्मशाला में पास भागू नाग हैं किन्नौर मे दुवा नाग, ठियोग मे महासू नाग, चच्योट (मण्डी) मे कामरू नाग, करसोग में मदू नाग एवं बिलासपुर मे गूगा नाग प्रसिद्ध हैं।

गढ़वाल में एक परगने का नाम ही नागपुर है। यहा शेष नाग का वास-स्थान पाण्डुकेश्वर मे है। इसी प्रकार भेखल नाग रतगाव मे, सगला नाग नलौर मे, बानपा नाग, मरगाव मे, लेहन्दू नाग नीति घाटी मे, पुष्कर नाग नागनाथ मे। इन क्षेत्र में भी नाग सिद्ध और बामन नाग के मन्दिर कई स्थानो पर हैं, अब नागपूजा वैष्णव धर्म का अविभाज्य अग है, सम्भव है कि खशो के आने पर नागो के साथ इनका भी सघर्ष हुआ हो, पर लोक परम्परा मे कोई ऐसी जनश्रुति या किंवदन्ति नही है। पौराणिक आख्यान के अनुसार कश्यप की पत्नी कद्रू, नाग-कन्या थी और उसकी सन्तान नाग, यक्ष और राक्षस हुये। यक्ष और राक्षस खश नाम के पर्यायवाची रूप हैं। इससे खश और नाग जाति के मेल और समन्वय की ध्वनि मिलती है, 'राक्षस' शब्द कालान्तर मे बुरे भाव का द्योतक बना, पर आरम्भिक युग मे यह नाम वाचक और जाति द्योतक शब्द था। विशाखदत्त के नाटक मुद्राराक्षस मे महानन्द का अमात्य 'राक्षस' नाम का था। यह नाटक का एक प्रमुख पात्र है।

ऐतिहासिक युग मे हमे सर्व प्रथम भारत मे नाग शासको के दर्शन होते हैं। मगध मे चन्द्रगुप्त से पहले शैशुनागो का राज्य था। नन्दवश भी नागवश से सम्बद्ध था। सबसे अधिक ज्ञात राजा इस वश का बिवसार या श्रेणिक था। उसके बाद कुणिक या अजात शत्रु हुआ। चन्द्रगुप्त मौर्य महानन्द का पुत्र था, पर पारिवारिक कलह के कारण उपेक्षित और तिरस्कृत था। उस युग तक आर्य, अनार्य, नाग, किरात आदि का भेद सर्वथा समाप्त नहीं तो नगण्य हो चुका था। यदि भेद था तो धार्मिक विचारो और मतमतान्तरो का। यह समय बौद्ध और जैन धर्मों के उदय का समय था, आर्य अनार्य के झगड़े का नहीं था।

कुषाणो के पराभव के बाद तीसरी-चौथी शताब्दी मे एक बार पुन नाग राजाओं का उदय भारत मे हुआ। पुराणो के अनुसार उस युग मे विदिशा, कान्तिपुर, मथुरा में भार शिव नागो का शासन था। इन भार शिव नाग राजाओ मे भवनाग प्रतापी राजा हुआ है। कहते हैं कि वे शिवलिंग को भार रूप मे थे सदा कन्धे पर रखकर चलते थे। शिव इस भक्ति से सन्तुष्ट हुये और फलस्वरूप शासन का गौरव इनको मिला। भार शिव राजाओ के द्वारा काशी मे दशाश्वमेध घाट पर दस अश्वमेध यज्ञो के करने का आख्यान आता है जिस कारण से इस घाट का नाम दशाश्वमेध घाट पड़ा।

अन्य वर्ग—

पर्वतीय क्षेत्र मे खश और नाग जातियो के अलावा कोल और किरात भी यहा की जनसख्या के अश हैं। किरात पुरातन युग मे सम्भवत वनवासी लोग थे जो कालान्तर तक कन्द मूल और फल एकत्रित करके एव मृगया से जीवन यापन करते थे। ससार के

कई भागो मे आज भी ऐसी पिछडी हुई और उपेक्षित जनजातिया हैं जो इस प्रकार से जीवन यापन करती हैं। परन्तु आज हिमालय क्षेत्र मे ऐसी कोई जाति नही है जिन्हें हम किरातो के वशज कह सकें। सभ्यता के प्रसार के साथ यह जाति खश और अन्य जातियो के साथ कदाचित् इस प्रकार घुलमिल गई कि इसका अलग अस्तित्व नही दिखाई पडता और न ही ज्ञात इतिहास इनके बारे में कुछ बताने मे समर्थ है। बहुत पुराने समय मे किरात नाम से वन्य जाति थी। पश्चिमी हिमालय क्षेत्र मे कोली आधुनिक हरिजनो की कोटि मे आते हैं। यह कहना कठिन है कि कोल से कोली वर्ग की उत्पत्ति है। यह जाति आर्यों की वर्ण-व्यवस्था की देन हो। यह जाति किसी भिन्न वश या प्रजाति से सम्बद्ध प्रतीत नही होती है। खश या आर्य जाति का यह उपेक्षित वर्ग है जो व्यावसायिक, धार्मिक व अन्य सामाजिक परिस्थितियो से निम्नस्तर का समझा जाता था। इनका रग-रूप आचार-विचार और आस्थाए अन्य जातियो से भिन्न नही हैं।



४. कांगड़ा का कटोच राज्य

ठकुराइयां और बड़े राज्य—

खशों ने समस्त हिमालय क्षेत्र में सैंकड़ों ठकुराइयों की स्थापना की और सदियों तक इन खश ठकुराइयों की प्रभुसत्ता इस क्षेत्र में रही, परन्तु ये ठकुराइयां सदा ही एक-दूसरे के साथ युद्ध रत रहीं। फलतः दुर्बल ठकुराइयां का अस्तित्व प्रायः संदिग्ध और प्रबल पड़ौसी ठकुराई की दया पर निर्भर रहता था। ये ठकुराइयां इतनी छोटी होती थीं कि अपने साधन और शक्ति से ये जीवित नहीं रह सकती थीं। किसी बड़ी शक्ति का आश्रय प्राप्त करना एक अनिवार्यता थी। यह मत्स्य-न्याय का युग था। बड़ी शक्तियां छोटे राज्यों और ठकुराइयों को हस्तगत करने के लिये सदा प्रयत्नशील रहती थीं। पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में बहुत पुराने समय से काश्मीर का राज्य एक प्रबल शक्ति थी। इसी प्रकार त्रिगर्त (जालन्धर खण्ड) में कटोच राज्य ब्यास और सतलुज की उपत्यकाओं में एक शक्ति सम्पन्न राज्य था। काश्मीर की शक्ति क्षीण होने पर जम्मू क्षेत्र में डूगर नाम के राज्य का उदय हुआ। समस्त पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में इन तीन बड़े राज्यों का प्रभाव रहा। इन शक्ति-सम्पन्न राज्यों के अधीन अथवा प्रभाव क्षेत्र में अन्य छोटे राज्य और ठकुराइयां होती थीं। यह स्थिति ई० सन् की तीसरी-चौथी सदी से लेकर पंजाब में सिख राज्यों के उदय होने तक और शिमला क्षेत्र में अंग्रेजी राज्य स्थापित होने तक रही।

पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में काश्मीर बहुत प्राचीन राज्य था। यह राज्य सबसे शक्तिशाली था। चम्बा राज्य सातवीं सदी में काश्मीर के प्रभाव क्षेत्र में था। काश्मीर के तत्कालीन राजा मुक्तापीड ललितादित्य ने तिब्बत, दरद और तुर्कों को ही पराजित नहीं किया बल्कि कन्नौज और गौड तक के राजाओं को अपने अधीन किया। स्वभावतः पश्चिमी हिमालय का त्रिगर्त और चम्बा क्षेत्र में भी ललितादित्य की विजय पताका फहराई हो, परन्तु ये घटनाएं हर्ष के पारवर्ती युग की हैं। हर्ष के समय में त्रिगर्त कन्नौज के साम्राज्य का अंग था। ह्वीनसांग की वापिसी के सम्बन्ध में महाराजा हर्ष ने त्रिगर्त के राजा को आदेश दिया था कि वह चीनी यात्री की वापसी की समुचित व्यवस्था करे। सातवीं सदी के उत्तरार्द्ध में काश्मीर के राजा ललितादित्य ने समस्त मध्यदेश और गौड (बंगाल) का हस्तगत करने का अभियान किया। उस समय कुछ काल के लिये त्रिगर्त को भी काश्मीर की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी।

आम धारणा यही है कि बहुत पुराने समय से, कश्मीर, त्रिगर्त और डूगर राज्य अपने पड़ौसी राज्यों और ठकुराइयों के अधिपति और संरक्षक थे। डूगर राज्य का केन्द्र

तेव बाहु कहलाता था, जम्मू का उदय पारवर्ती समय मे हुआ। रावी और व्यास घाटियो के राज्य त्रिगर्त के सरक्षण मे थे। डूगर और त्रिगर्त राज्यो के अन्तर्गत सभी हिन्दू राज्य थे। मुसलमानो के शासन काल मे हजारा क्षेत्र और स्वात उपत्यका मे २२ मुसलमानी राज्य थे और सिन्ध के पूर्वी क्षेत्र मे २२ हिन्दू राज्य थे। इनमे से लगभग ग्यारह राज्य डूगर की छत्र छाया मे थे और ग्यारह त्रिगर्त राज्य के अन्तर्गत थे। डूगर समुदाय मे प्रमुख ये राज्य थे —दिपालपुर, भाऊ, बसोली, भद्रवा, भाडू, किश्तवाड, पूंच, राजौरी कोटी, भींवर और खारीखरयाली। कालान्तर मे मनकोट जसरोट, साम्बा, अखनूर आदि छोटी-छोटी और ठकुराइया भी इसमे सम्मिलित की गई। त्रिगर्त राज्य मे प्रमुख ग्यारह राज्य ये थे कागडा, गुलेर, जसवा, सीबा, दातारपुर, नूरपुर, कोटला, चम्बा, सुकेत, मण्डी और कुल्लू। बाद मे कुटलहैड, बगाल (बडा और छोटा), शाहपुर आदि भी इस समुदाय के अन्तर्गत माने गये।

चीनी यात्री हीवानसाग और त्रिगर्त राज्य—

त्रिगर्त राज्य का सबसे प्रथम ऐतिहासिक उल्लेख हीवानसाग ने किया। चीनी यात्री हीवानसाग ६३०-६४५ ई० तक भारत मे रहा। महाराजा हर्ष ने चीनी यात्री को वापिसी यात्रा के लिए जालधर खण्ड के राजा उदित या उदयचन्द के सरक्षण मे भेजा था। तब त्रिगर्त राज्य की राजधानी जालन्धर मे थी। हीवानसाग के अनुसार त्रिगर्त का राज्य उसकी यात्रा के समय छ सौ वर्ष से एक स्वतत्र राज्य था। इस गणना के अनुसार त्रिगर्त राज्य की स्थापना ईसा की पहली शताब्दी मे हुई। यह समय शकों के कुषाण कबीले का भारत मे आने और कुषाण राज्य की स्थापना का समय था। शक सम्वत् का आरम्भ ७८ ई० सन् से माना जाता है और यह कनिष्क के राज्यारोहण का द्योतक माना जाता है। लगभग इस समय से त्रिगर्त के राज्य का समारम्भ समझना चाहिये। हीवानसाग के समय त्रिगर्त का राजा उदित या उदयचन्द था। परम्परा और त्रिगर्त के राजाओ की वशावली के अनुसार इस वश का सस्थापक भूमिचन्द था और इस वश मे कुल ५०० पीढिया हुई। एचीसन और वोगल ने सात राजाओ की शासन-अवधि के आधार पर एक पीढी की औसत अवधि १७ वर्ष निकाली है, इस गणना के आधार पर ५०० पीढियो का समय ८५०० वर्ष हुआ। कहा जाता है कि सुशर्माचन्द ने त्रिगर्त की ओर से महाभारत के युद्ध मे भाग लिया था और सुशर्माचन्द मूलसस्थापक से १३४ वीं पीढी पर हुआ था। यदि सुशर्माचन्द को ही मूल पुरुष माना जाय तो भी यह राज्य ६००० वर्ष से अधिक पुराना गणना के अनुसार आता है। यह सर्वथा अविश्वसनीय है। हीवानसाग का कथन सत्य के निकट है—ईसा की पहली शताब्दी कागडा के कटोच राज्य की स्थापना का समय था। सन् १००९ मे महमूद गजनी ने कागडा का किला लूटा। उसके पश्चात् मुसलमान इतिहासकारो ने समय-समय पर कटोच राज्य और विशेषत कागडे के किले का उल्लेख किया। दिल्ली के सुलतानो मे से फिरोजशाह तुगलक ने कागडा पर आक्रमण किया। तत्कालीन इतिहासकारो ने अभरकोट का उल्लेख किया। मुगल सम्राट् अकबर के समय से तो इस क्षेत्र का विधिवत् वर्णन मिलता है। ⁂

त्रिगर्त क्षेत्र—

त्रिगर्त और जालन्धर खण्ड पर्यायवाची नाम हैं। मुसलमानों के राज्य काल से पहले सम्भवत त्रिगर्त राज्य की राजधानी जालन्धर में हो। महाराजा हर्ष के समय नि सन्देह इस राज्य का केन्द्र जालन्धर था, त्रिगर्त नाम भी बहुत पुराना था। पाणिनी ने ने अपनी अष्टाध्यायी में त्रिगर्त के गण या सघ राज्यों का सकेत दिया है। महाभारत के 'रचनाकार' ने भी त्रिगर्त का उल्लेख किया है। त्रिगर्त शब्द से किस क्षेत्र विशेष का सकेत मिलता है ? मध्यकालीन युग मे सम्भवत रावी, ब्यास और सतलुज उपत्यकाओं का क्षेत्र त्रिगर्त कहलाता हो। उस काल में इन उपत्यकाओं के सभी राज्य त्रिगर्त समुदाय में माने जाते थे। 'गर्त' का आशय घाटी से हो। पर पुराने समय में कागडा घाटी ही त्रिगर्त क्षेत्र था। कागडा नाम तो बहुत बाद का नाम है, तीन अन्य नदिया, बाण गगा, कुराली और मयागुल जिनका सगम हरिपुर के पास होता है और जो त्रिगड (तीन नदिया) के नाम से अन्ततोगत्वा सीवा के पास ब्यास में मिल जाती हैं, त्रिगर्त का ही रूपान्तर समझा जाता है। पर यह ठीक प्रतीत नहीं होता है। इन तीन नदियों के नाम को त्रिगर्त सज्ञा का मूल मानना अनुचित होगा। विशाल त्रिगर्त का राज्य इन नदियों की सीमा में नहीं बन्धा था। यह तो पजाब के मैदान से लेकर उत्तर में हिमाच्छादित ऊची पर्वत शृखलाओं तक फैला था। इसका गौरव समस्त उत्तरी भारत में प्राचीन और मध्यकालीन युग में फैला था। त्रिगर्त की सीमाए अपने सदियो पुराने इतिहास के प्रवाह में बदलती रहीं, कभी ये सीमाए सकीर्ण हुईं तो कभी विस्तृत क्षेत्र को अपने में समेटती रहीं। पर मुख्य, अपरिवर्तित क्षेत्र ब्यास उपत्यका रही, जिसको आज कागडा घाटी कहते हैं। बैजनाथ मन्दिर मे उत्कीर्ण प्रशस्ति में मुख्य वास्तुकारों का नाम नवक और थोडुक था। इन्होंने मन्दिर का निर्माण और वास्तु कला सम्बन्धी सौन्दर्य सृजन किया। ये दोनो कलाकार सुशर्मापुर से आये थे। कागडा का नाम तब सुशर्मापुर था। यह लेख नवी सदी के आरम्भिक वर्षों का है। सन् १००६ में महमूद गजनवी के इतिहासकार उत्तबी ने इस नगर को भीमनगर कहा है। किले का नाम भीम बताया गया है। किले की अजेयता के कारण इसको भीम कहा गया हो। भारतीय परम्परा किसी विशाल निर्माण या शौर्य मूलक कार्य का सम्बन्ध भीम या पाण्डवों से प्राय सम्बद्ध करती है। इस किले की विशालता और दुर्भेद्यता सदा ही देखने वालों को चकित करती रही। सदिया तक यह किला उत्तरी भारत में विजेताओं को चुनौती देता रहा और लम्बे इतिहास में हजारो सैनिकों ने इस किले की प्राकार के पास अपने प्राण गवाये। सन् १९०५ के भू-कम्प ने इस किले को तहस-नहस किया। उसकी कुछ दीवारें ही शेष रही हैं। इतिहास प्राय मौन है कि किसने इस किले को बनाया। पर यह समझा जाता है कि यह किला आठवीं-नौवीं सदी से पहले का नहीं है। सन् १००६ में महमूद गजनवी ने इस किले का लूटा था। तब यह सुदृढ और भव्य था। शाहजहा के इतिहासकार मा-असर-उमरा ने किले का सूक्ष्म वर्णन किया है। उसके अनुसार यह सुदृढ़ किला एक पहाड के टीले पर स्थित है। इसके २३ बुर्ज हैं और सात प्रवेशद्वार। इसकी आन्तरिक (घेरा) परिधि एक कोस और पन्द्रह चेन है, लम्बाई चौथाई

कोस और दो चेन, चौड़ाई १५ से २५ चेन और ऊंचाई ११४ हाथ। किले के अन्दर कई तालाब हैं आदि-आदि।

महमूद गजनवी का भीमनगर पर आक्रमण—

सन् १००६ में महमूद गजनवी ने कांगड़े पर आक्रमण किया। यह उसका भारतवर्ष पर चौथा आक्रमण था। महमूद को कांगड़ा पर हमला करने से पहले सन् १००१ से निरन्तर कई वर्षों तक उद्भान्दपुर(ओहिन्द) के हिन्दुशाही शासकों का मुकाबला करना पड़ा था। सन् १००१ में महमूद ने हिन्दुशाही राजा जयपाल को पेशावर के निकट बुरी तरह परास्त किया। जयपाल पराजय के अपमान को सहन न कर सका। चिता में जलकर उसने आत्मदाह किया। उसके बाद उसके पुत्र आनन्दपाल ने उसका मुकाबला किया। सन् १००८ में ओहिन्द के पास राजकुमार ब्रह्मपाल की अधीनता में हिन्दुशाही सेना ने मुसलमानों का सामना किया। लेकिन इस बार भी परास्त हुये। महमूद गजनवी ने भीमनगर (कांगड़ा) तक उसका पीछा किया, पर ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दुशाही सेना आत्मरक्षा के लिये आगे निकल गई क्योंकि मुसलमान इतिहासकारों के अनुसार महमूद के आक्रमण के समय भीमनगर सर्वथा अरक्षित था। आनन्दपाल और उसका पुत्र त्रिलोचन पाल मुसलमानों का मुकाबला १०२१ ई० तक करते रहे। उन्होंने काश्मीर के राजा संग्रामराज एवं कालिंजर के चन्देल शासकों से भी सहायता ली, लेकिन अपने ध्येय में वे सफल नहीं हुये। सन् १०२६ में इस वंश के अन्तिम राजा भीमपाल की मृत्यु के बाद ओहिन्द का हिन्दुशाही शासन समाप्त हुआ। इन शासकों का पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के राज्यों से घनिष्ट सम्बन्ध था। यह इलाका या तो इनके अधीन और संरक्षण में था या उनके प्रभाव-क्षेत्र में था जैसा कि आगे के विवरण से स्पष्ट होगा।

किले की अतुल धन-राशि—

नगर कोट के किले को जीतने में महमूद गजनवी को कोई रक्त-पात नहीं करना पड़ा था क्योंकि इस किले के रक्षक सैनिक और तत्कालीन राजा जगदीशचन्द्र कहीं अन्यत्र सैन्य अभियान में गये हुए थे। वहां केवल कुछ ब्राह्मण थे। उन्होंने करबद्ध हो सुलतान से देवी के मन्दिर को अपवित्र न करने का अनुनय-विनय किया परन्तु मूर्ति-तोड़क सुलतान उनकी कहां सुनने वाला था? सुलतान ने अपने अंगरक्षकों के साथ किले में प्रवेश किया। अल्तगश और अस्तगीन नाम के दो मुल्लाओं को उसने सोने और चांदी का खजाना सौंपा और स्वयं उसने हीरे, मोती और नाना प्रकार के बहुमूल्य मणि-माणिक्य को सम्भाला। इस किले में महमूद को अतुल धन-राशि प्राप्त हुई: फिरिश्ता के अनुसार ७ लाख सोने के दीनार, २०० मन सोने की छड़ें, ७०० मन सोने-चांदी की थालियां, २००० मन चांदी और २० मन हीरे, मोती और अन्य जवाहरात थे। सोने-चांदी से जड़े बहुमूल्य वस्त्र इसके अतिरिक्त थे। चांदी का बना एक तुड़वा घर भी उसको मिला जिसका आकार ३० गज लम्बा और १५ गज चौड़ा था। यह सब धन-

राशि कल्पनातीत प्रतीत होती है, परन्तु इसकी पुष्टि स्वय सुलतान के निजि सचिव और इतिहासकार उत्तवी ने भी है। ऐलेक्जेण्डर कनिंघम का मत है कि किले मे ७ लाख सोने के सिक्के नही थे, वरन् चादी के शाही दिरवान थे। ये सिक्के काबुल के तुर्कीशाही और ओहिन्द के हिन्दुशाही शासको के थे। कनिंघम ने मत व्यक्त किया है कि इन राजाओ के सिक्के ५० ग्रेन तोल के चादी के थे। ऐसे सिक्को का प्रचलन पजाब मे व्यापक था और हजारो की सख्या मे ऐसे सिक्के पजाब मे खुदाई मे प्राप्त हुये थे। दूसरा महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य कनिंघम ने यह व्यक्त किया है कि यह विशाल कोशागार कागडा के राजा का नही हो सकता है, यह कोशागार काबुल के कटोरमान तुर्कीशाही और उद्‌भान्दपुर (ओहिन्द) के हिन्दुशाही राजाओ का था। इस बात की पुष्टि मे अलबरूनी का कथन कि भीमनगर के किले मे काबुल के कटोरमान राजाओं की वशावली रेशम के कपडे पर लिखी मिली, का भी कनिंघम ने उल्लेख किया। इस वशावली म ६० पीढियो की गणना की गई थी। अलबरूनी स्वय इस आक्रमण के समय महमूद के साथ था और कुछ वर्षो के बाद वह भारत मे आया और कई वर्षो तक सस्कृत भाषा के अध्ययन के बाद उसने इस देश के इतिहास, ज्योतिष और गणित शास्त्र पर विस्तृत विवरण लिखा। काबुल के कटोरमान तुर्कीशाही राजा कुषाणो के वशज माने जाते हैं। इनका सबसे बडा शासक कनिष्क हुआ है। कनिष्क की राजधानी इसी क्षेत्र मे पौरुषपुर (पेशावर) म थी। उसका साम्राज्य उसकी मृत्यु के बाद छिन्न-भिन्न हुआ, पर तु उसके वशज काबुल और स्वात घाटी और इसके निकटस्थ क्षेत्रो मे सदियो तक शासन करते रहे। इस्लाम के अभ्युदय के बाद अरब आक्रान्ताओ ने ईरान के बाद अफगानिस्तान के दक्षिणी भाग मे पैर फैलाने आरम्भ किये। लगभग एक सदी तक ये कटोरमान तुर्की शासक इनका मुकाबला करते रहे। इस वश के अन्तिम राजा वासुदेव की उसके ब्राह्मण मन्त्री कलार या कनक ने हत्या की और हिन्दुशाही वश की स्थापना करके स्वय राजा बन गया। परन्तु ये भी बहुत दिनो तक इन आये दिन के आक्रमणो को सहन न कर सके। इस नये राजवश को काबुल से हटकर सिन्ध नदी के तट पर उद्‌भान्तपुर (ओहिन्द) मे आना पडा जहा से लगभग एक और सदी की अवधि, सन् १०२६ तक ये राजा गजनवी के आक्रान्ताओं का अपने अस्तित्व के अन्तिम दिन तक मुकाबला करते रहे। काबुल और उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र मे होने वाली इन घटनाओ का कागडा के तत्कालीन इतिहास से घनिष्ट सम्बन्ध प्रतीत होता है। अत इनकी ओर सकेत करना आवश्यक है।

काबुल के कटोरमान और कांगडा के कटोचों का सम्बन्ध—

कागडा के कटोच राजाओ का सम्बन्ध काबुल के कटोरमान और बाद मे ओहिन्द के हिन्दुशाही राजाओं से किसी न किसी रूप मे रहा है। कनिंघम के मत मे पर्याप्त विश्वसनीयता है। यह तो सभी इतिहासकार मानते हैं कि उद्‌भान्तपुर के हिन्दुशाही शासको का प्रभुत्व पजाब और पश्चिमी हिमालय क्षेत्र पर था। नवी सदी मे इनका महत्वपूर्ण उत्कर्ष हुआ। इस बात को मानने मे भी कोई सन्देह प्रतीत नही होता कि जब आठवी और नवी सदी मे अरबो और गजनवी के सुल्तानो के आक्रमणो से इस क्षेत्र मे

आतक फैला और भगदड-जैसी मची, तो ये शासक अपने प्राण-प्रतिष्ठा बचाने और धन सम्पत्ति की रक्षा के लिये पूर्वाभिमुख हुये। यह सम्भव है कि काबुल और ओहिन्द के शासको ने अपने सोने-चादी और मूल्यवान रत्न-भण्डार को कागडा के किले मे सुरक्षित रखा हो। कागडा के शासक या तो उनके अधीन थे या इन्ही के वशज थे। कटोच शब्द का मूल क्या है, यह अभी अनिश्चित है। यह भी सम्भव है कि कटोच सज्ञा कटोर शब्द का ही रूपान्तर हो। कटोरमान काबुल के शासको की उपाधि या जाति सूचक नाम था। कटोर और कटोच शब्दो मे कोई बडा अन्तर नही है। ऐटकिन्सन ने गढवाल मे जोशीमठ के कत्यूर शासको को कटोरमान शासको की एक शाखा माना है। मुसलमानो के आक्रमण से कटोर शासको का उच्छेद काबुल से हुआ। उनमे से कुछ साहसी राजकुमार अपने दल-बल के साथ पूर्व दिशा की ओर गढवाल मे पहुच गये। नवी सदी से बारहवी सदी तक इन कत्यूर राजाओ ने जोशीमठ से कुमाऊ और गढवाल के गढपति खश ठाकुरो पर शासन किया। ऐटकिन्सन ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि जोशीमठ के कत्यूर राजा और काबुल के कटोरमान शासक एक ही वर्ग और जाति के थे। काबुल मे तुर्की-शाही का ह्रास और जोशीमठ मे कत्यूरो का उदय लगभग एक ही समय मे हुआ। कागडा तो इनसे दूर नही था। अत इस बात मे काफी वजन है कि कोट कागडा मे जो अतुल धन-राशि महमूद गजनी को मिली, वह या तो काबुल के शासको ने बहुत पहले से यहा सुरक्षित रखी थी या बाद मे ओहिन्द के हिन्दुशाही राजाओ ने इन आक्रान्ताओ के भय से यहा रखी थी। काबुल के कटोरमान राजाओ की वशावली का कागडे के किले मे विद्यमान होना भी इस बात का स्पष्ट द्योतक है कि इस क्षेत्र के साथ इनका घनिष्ट सम्बन्ध था। जोशीमठ के कत्यूर, कागडे के कटोच और काबुल के कटोरमान एक ही वर्ग या जाति के लगभग समान नाम है। देश-काल के कारण इनमे नगण्य अन्तर है। जोशीमठ मे कत्यूर राज्य की स्थापना और काबुल मे कटोरमान शासको का विनाश और भगदड प्राय समसामयिक है। इसी प्रकार कागडे मे कटोच राज्य और उत्तर पश्चिमी क्षेत्र मे कुषाण राज्य की स्थापना भी समसामयिक थी। यह ईसा की प्रथम शताब्दी के उत्तरार्द्ध की घटना है।

कुषाण, तुर्कीशाही और हिन्दुशाही राज्य—

कुषाण राज्य कालान्तर मे तुर्कीशाही कहलाया। कुषाण शको का ही एक कबीला था। शको के कई कबीले ईसा की प्रथम दो-तीन शताब्दियो मे बाढ के रूप मे भारतवर्ष मे आये, सीथियन बैक्ट्रियन और कुषाण नामो से वे इस देश मे जाने जाते है। इनके सम्बन्ध मे यह बात उल्लेखनीय है कि भारत मे आने से पहले ही ये जातिया भारतीय धर्म और सस्कृति मे अच्छी तरह से दीक्षित हो चुकी थी। अशोक के समय से ही मध्य एशिया बौद्ध धर्म और भारतीय सस्कृति का केन्द्र बन चुका था और ये कुषाण कबीले बौद्ध धर्म के पोषक थे। अत भारतीय जीवन मे अपने आपको ढालने मे इनको कोई असुविधा नही हुई। उस युग मे अफगानिस्तान भी भारतीय धर्म और सस्कृति से दूरी

तरह अनुप्राणित था। इनको तुर्क कदाचित् इसलिये कहा गया हो कि ये तुर्कीस्तान से यहा आये हो। वैसे तुर्क तो मगोलो का एक कबीला था जो इतिहास मे तुर्को के नाम से† प्रसिद्ध हुआ। शक रग, रूप और आकार मे आर्यों से भिन्न नही थे। मगोलो के साथ रक्त सम्मिश्रण से बाद मे इनमे अन्तर आया, इनमे मगोल आकृति की प्रधानता आई। प्रतिहार, गुर्जर, जाट आदि नामो की जातिया इन्हीं शक कबीलो के वशज हैं। उनमे मगोल आकृति का कोई अश नही है। एक युग मे ये कुषाण लोग भारतीय भाषा मे तुरुष्क (तुर्क) कहलाये। आरम्भ म उत्तर-पश्चिमी सीमा मे बसे कुषाणो को यह नाम दिया गया है। परन्तु बादमे बाहर से आने वाली सभी जातियो को, विशेषत मुसलमानो का 'तुरुष्क' की सज्ञा दी गई। हिमालय के पश्चिमी क्षेत्र मे तुरुष्क नाम सदियो तक लोक-परम्परा मे जीवित रहा। आरम्भ म काबुल के कटोरमान कुषाण शासक और ओहिन्द के हिन्दुशाही राजा शायद इस नाम से जाने जाते होंगे। लगभग आठ-नौ सौ वर्ष तक कनिष्क एव कुषाणो के वशधरो ने उत्तर-पश्चिमी पर्वतीय क्षेत्र जिसमे अफगानिस्तान, सिन्ध और हिन्दुकुश के बीच का प्रदेश कुनार, काबुल और अन्य नदियो की घाटिया सम्मिलित है, राज किया। कोई आश्चर्य नही कि कागडा के कटोच शासक भी इन्ही के वशधर हो। पिछले कुछ समय तक भी ऊपरि कुनार उपत्यका मे, चित्राल, यसम, मस्तुग आदि म काबुल के कटोर शासको के वशज राज करते थे। मुसलमान होने पर भी ये शाह कटोर कहलाये। काबुल के कुषाण शासक शाह कहलाते थे और बाद में उद्भान्तपुर (ओहिन्द) के ब्राह्मण राजा भी शाह कहलाये। शाह शब्द फारसी भाषा मे शासक के लिये प्रयुक्त हुआ है। भारत के मुगल शासको ने शाह की उपाधि को अपनाया। पीछे पजाब मे धनपति हिन्दू बाणियो को भी व्यवहार म सम्मानार्थ शाह कहा जाता था। धन भी सत्ता का द्योतक है। सत्ताधारी होने से ये शाह कहलाये। यहा पर यह कह देना भी प्रासगिक होगा कि ईसा से कई सदी पहले हिमालय क्षेत्र मे बसने वाली खश जाति और कुषाणो के वशधर कटोर, कटोच और कत्यूर सर्वथा भिन्न जाति या वर्ग के थे। खश भी शको का ही एक वर्ग था जो कराकोरम और पामीर की विकट पर्वत मालाओ को लाघकर पश्चिमी हिमालय क्षेत्र मे आये थे। बाद मे आने वाले शक कबीले अफगानिस्तान के मार्ग से आये थे। खश विकास की दृष्टि से पशु-पालन के स्तर पर यहा आये थे और इनका अधिकाश सास्कृतिक और सभ्यता का विकास यही हुआ, परन्तु कुषाण उन्नत सस्कृति के वाहक थे। कुषाण खशो से लगभग सात-आठ सौ वर्ष बाद भारत मे आये।

भीमनगर से मुसलमानों का निष्कासन—

इस क्षेपक के पश्चात् पुन उन घटनाओ का उल्लेख करना शेष रह जाता है जो भीमनगर के किले को लूटने के बाद हुई। महमूद तत्काल ही सन् १००९ मे इस अपरिमित

†मगोल नोकीली टोपी पहनते थे। इसको वे 'तोर्पी' कहते थे। 'तोर्पी' शब्द से ही तुर्की और टोपी की व्युत्पत्ति है। जहा मगोल लोग मध्य एशिया मे मुख्यत बसे यह तुर्कीस्तान कहलाया और 'तोर्पी' पहनने वाले तुर्क कहलाए। अफगानिस्तान और उत्तर-पश्चिमी सीमान्त में पहना जाने वाला 'कुल्ला' उसी 'तोर्पी' का अवशेष है।

धन-राशि को लेकर वापिस गजनी चला गया। उसने लूट-मार के जितने भी अभियान इस देश पर किये वे सभी शीतकाल म होते थे और गर्मियो के आरम्भ म वह वापिस चला जाता था। नगरकोट के किले मे एक उच्च अधिकारी के अधीन उसने सेना का एक दस्ता रखा जो १०४३ ई० तक उस किले मे रहा। किंवदन्ति के अनुसार दिल्ली के तत्कालीन तोमर वशीय राजा को स्वप्न मे नगरकोट की वज्रेश्वरी देवी के दर्शन हुए और देवी ने राजा को कहा कि मैंने म्लेच्छराज महमूद का अन्त कर दिया है और मैं अब पुन नगरकोट म अपने मन्दिर मे आना चाहती हू। तुम मुझे वहा आकर मिलो। स्मरण रहे कि सन् १०२६ मे महमूद ने सोमनाथ के मन्दिर को लूटा था। यह उसका अन्तिम आक्रमण समझा जाता है। उसके चार वर्ष बाद सन् १०३० मे उसकी मृत्यु हो गई और गजनी राज्य का पराभव आरम्भ हुआ। अपने स्वप्न का समाचार तोमर राजा ने अन्य राजाओ को भेजा। सभी ने उसका साथ दिया—यह एक प्रकार से धर्म-युद्ध का अभियान था। मार्ग म हासी, थानेसर, सरहिन्द जहाँ-जहा भी महमूद की फौजी टुकडिया किलो म थी, उनको नष्ट करते हुए यह दल-बल नगरकोट पहुचा। चार मास तक किले को घेरे रखा। अन्त मे भूख-प्यास और बीमारी से क्षुब्ध होकर मुसलमान सेना ने आत्म-समर्पण किया। विजय की रात को देवी की वैसी ही मूर्ति जैसी महमूद सन् १००६ को यहा से गजनी को ले गया था, देवी के मन्दिर के प्रागण मे गुप्तरूप से रखी गई। दूसरे दिन जब यह खबर फैली कि देवी गजनी से वापिस आ गई तो उल्लास भरा जनसमूह वहा उमड आया। दूर-दूर से श्रद्धालु राजा, महाराजा और अन्य धनिक देवी के दर्शनार्थ यहा आये और कुछ ही दिना मे इतना सोना-चादी और मोती-माणिक्य चढावे मे आया जितना महमूद इस मन्दिर को लूटकर ले गया था। सन् १०४३ मे नगरकोट का किला फिर कटोच राजा के अधिकार मे आया और तीन सौ वर्ष से भी अधिक समय तक इन्ही राजाओ के अविच्छिन्न अधिकार मे रहा।

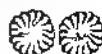
फीरोज शाह द्वारा कागड़ा पर आक्रमण—

सन् १३६० मे कटोच राजा रूपचन्द ने युग धर्म के अनुरूप पजाब के मैदानी क्षेत्र मे जाकर मुसलमान शासको के विरुद्ध लूटमार की और इस अभियान मे वह दिल्ली के निकट तक पहुच गया। उस समय भारत मे फिरोजशाह तुगलक का शासन था। कटोच राजा को उसके दु साहस के लिये उसको दण्ड देने को फिरोजशाह ने सन् १३६५ मे कागडा पर आक्रमण किया और छ महीने तक नगरकोट के किले का घेरा डाला। रूपचन्द ने बडी वीरता से मुकाबला किया, परन्तु अन्त मे सन्धि करनी पडी। रूपचन्द को फिरोजशाह की अधीनता स्वीकार करनी पडी। कहते हैं कि फिरोजशाह ने ज्वाला-मुखी मे देवी का छत्र ले लिया और मूर्ति को भी खण्डित किया। मन्दिर मे उसको १३०० धार्मिक पुस्तको का सग्रह मिला। सुल्तान के आदेश पर शाही कवि ने इन पुस्तको मे से विज्ञान और ज्योतिष के ग्रन्थों का फारसी कविता मे अनुवाद किया जिसका नाम दलाइल ए-फिरोज शाही रखा गया। उसी सदी के अन्तिम वर्षों मे सन् १३८८-८९ मे

भारत पर तैमूर का आक्रमण हुआ। पर नगरकोट इस प्रथम संकट से बचा रहा। तैमूर वापिसी पर परम्परागत व्यापारिक मार्ग, होशियारपुर में बजौरा, दसूआ, पठानकोट, नूरपुर शाहपुर कण्डी और वहां से, लखनपुर जसरोटा और साम्बा होता हुआ जम्मू निकला था। नगरकोट इस आपत्ति से बालबाल बचा था। अगले २०० वर्ष की अवधि तक नगरकोट बाहरी आक्रमणों के संकट से बचा रहा। अकबर के समय में सन् १५७२ में कटोच शासकों को फिर एक प्रबल शक्ति का सामना करना पड़ा। इसका विवरण आगे दिया जायेगा।

कांगड़ा का नामकरण और शल्य चिकित्सा—

बैजनाथ प्रशस्ति में (सन् ८०४) कांगड़ा का नाम सुशर्मापुर लिखा हुआ है। यह कदाचित् कटोच वंश के कथित संस्थापक के नाम से सम्बद्ध हो। महमूद गजनी के आक्रमण के समय इसका नाम भीमनगर तत्कालीन मुसलमान इतिहासकारों ने बताया है। मुगल काल में कांगड़ा का प्राय उल्लेख आया है। तब दूसरा प्रचलित नाम नगरकोट था। परवर्ती समय में कांगड़ा नाम प्रसिद्ध हुआ। एम० एस० रंधावा ने कांगड़ा नाम का सम्बन्ध कांगड़ा में सदियों से प्रचलित कान व नाक की शल्य चिकित्सा से जोड़ा है—कान-गढ़ से कांगड़ा की उत्पत्ति की है। किंवदन्ति है कि अकबर ने किसी अपराधी की नाक कटवाई थी जैसा कि पुराने जमाने में रिवाज था। कुछ दिनों के बाद नाक बनवाकर वह अकबर के सामने आया। पूछने पर पता चला कि सम्राट् के किसी शल्य चिकित्सक ने उसकी नई नाक लगा दी थी। कहते हैं, अकबर ने चिकित्सक को कांगड़ा में जागीर प्रदान की और उसकी ही परम्परा से कांगड़ा में सदियों तक नाक व कान जोड़ने का काम होता रहा। उन्नीसवीं सदी में एलेक्जैण्डर कनिंघम और योरुपीय यात्री विजने ने इस शल्य-चिकित्सा का उल्लेख किया है और इस बात की पुष्टि की है कि नैपाल, फारस और अफगानिस्तान तक के लोग अपनी कटी नाक और कान का इलाज कराने कांगड़ा आते थे। प्राय नाई लोग इस काम को करते थे। अपराधियों के नाक और कान काटने की प्रथा पुराने जमाने में प्राय कई देशों में थी। क्रोधान्ध पुरुष भी अपनी कुलटा स्त्रियों के नाक काट देते थे। कांगड़े के शल्य-चिकित्सकों ने विजने के पूछने पर भी अपनी चिकित्सा का रहस्य नहीं बताया। उन्होंने यह कहकर टाल दिया कि यह काम तो बज्रेश्वरी भगवती की कृपा से वहां होता है, अन्यत्र यह क्रिया सफल नहीं हो सकती है। परन्तु विजने ने लिखा है कि पहले मरीज को अफीम, भांग या धतूरा से चेतना-शून्य कर लिया जाता है। फिर नाक के ऊपर माथे पर एक छोटा चीरा देते हैं। जब मांस कुछ उभर जाता है तो काट कर ठीक आकृति में नाक पर उसको सिल देते हैं। एक प्रकार का तेल लगाने के बाद रुई की पट्टी बांध देते हैं। इस प्रकार नाक का पुनर्निर्माण हो जाता है। विजने ने कई लोगों को नव निर्मित नाक लेकर वापिस जाते हुये देखा था।



५. मुगल सत्ता और पहाड़ी राज्य

मुगल सत्ता से पहले :—

सन् ११६२ मे भारत मे महमूद गोरी ने तलवार के बल से मुस्लिम राज्य की स्थापना की और अगले दस पन्द्रह सालों मे समस्त उत्तरी भारत मे, बगाल से गुजरात तक इस राज्य की ध्वजा फहराने लगी। हिंसा, लूटपाट, आगजनी और विनाश इस प्रसार के अग्रदूत थे। ये मध्य एशिया के धर्मान्ध क्रूर और नृशस विजेता थे। दया, करुणा और सम्वेदनशीलता जैसे मानवीय गुण इनके शब्द-कोश मे नही थे। उसी युग मे चगेज खा ने जो बौद्ध धर्म मे दीक्षित बताया जाता है, चीन से लेकर काले सागर और पोलैण्ड तक रक्त की नदिया बहाई थीं। उस जाति से नही तो उसी भूमि और वातावरण से ये आक्रमणकारी आए थे। रक्तपात और विनाश इनकी व्यवहारिक रीति-नीति थी। ये विजेता जहा भी गये, बिहार बगाल, गुजरात व बुन्देलखण्ड, वहा उन्होने अपने पशु-बल से शासको को ही नही वरन् आम जनता को भी आतकित किया। बिहार मे बौद्ध सघा-रामो मे हजारो भिक्षुओ को मौत के घाट उतारा। इन मठो और विहारो मे सदियो से सचित ज्ञान-राशि की पुस्तको को आग की ज्वाला के सुपर्द किया। ऐसा विनाश इस देश ने पहले कभी नही देखा था। इसमे सब से विचित्र बात यह थी कि ये विजेता एक नये धर्म और सर्वथा भिन्न परम्परा के अनुयायी थे, भारतीयो की दृष्टि मे जो वन्दनीय पवित्र और देव-तुल्य था, विजेता उसको घृणा और तिरस्कार की दृष्टि से देखता था। जन-सहार, मूर्ति और मन्दिरो एव विहारो को तोडना उनके लिये 'जहाद', धर्मयुद्ध था ' लूट-मार से अर्जित धन सम्पत्ति भी 'माले गनीमत' के नाम से धर्म-युद्ध का ही अग था। इसमे कोई अनीति और अन्याय उनकी दृष्टि मे नही था। माप-दण्डो का वैषम्य आश्चर्य और क्षोभ का विषय था। इस विनाश के कारण उत्तरी भारत मे एक भगदड जैसी फैल गई। धर्म, मान-प्रतिष्ठा, धन, वैभव सब कुछ दाव पर लग गया था। बचे-खुचे बौद्ध भिक्षु और पण्डित अपनी बची हुई पोथियो को लेकर नैपाल, तिब्बत व हिमालय क्षेत्र के अन्य सुरक्षित स्थानों की ओर भागे। कुछ दीढ़ पहाडो और जगलो को लाघ कर दक्षिणाभिमुख हुए। ऐसे ही राजवशों के लोग भी हिमालय क्षेत्र की ओर या जहा भी उनको सुरक्षा की आशा होती होगी, उसी दिशा को गये। भगदड अल्प कालिक नहीं थी, तेरहवीं सदी के आरम्भ से मुगलो के आने के समय तक निर्बाध रूप से चलती रही। नैपाल से लेकर पश्चिमी हिमालय क्षेत्र मे सर्वत्र इन राजपूत राजाओं के वशधरो का फैलाव हुआ। सन् १०३० मे महमूद गजनी की मृत्यु हुई और ११९१ ई० में मुहम्मदगोरी ने भारत पर आक्रमण किया। सन् १०३० से ११९२ ई० तक १६२ वर्ष की अवधि मे

कदाचित महमूद गजनी के हमलो के घाव भर गये थे और लोगो की स्मृति मे वे दिल दहलाने वाली घटनाए धूमिल पड गई हा, पर यह नया सोम हर्षक आतक पुन समस्त उत्तरी भारत मे फैल गया था।

तिब्बत मे भारतीय पण्डित और भिक्षु—

उस युग की तिब्बत की गाथा बताती है कि कैसे भारतीय बौद्ध भिक्षु उस देश मे गये और उन्होंने कैसे ह्रासोन्मुख बौद्धधर्म का जीर्णोद्धार किया। सन् ८४० के लगभग लाँगदर्मा नाम के नास्तिक व्यक्ति ने तिब्बत के तत्कालीन शासक त्रिगुडेत्सन की हत्या की और स्वय सत्ता सम्भाली। त्रिगुडेत्सन का दोष यही था कि वह अत्यन्त धर्म-परायण और बौद्ध-धर्म क। अनन्य उपासक था—अपने सिर के बालो की चटाई बनाकर उन पर भारतीय पण्डितो को बिठाकर उसको विशेष आत्म-तृप्ति होती थी। उसके मरने के बाद लाँगदर्मा ने बौद्ध धर्म के विरुद्ध एक अभियान चलाया, और बोन-पो (तिब्बत के प्राचीन धर्म) को पुनर्जीवित किया। लगभग तीन सौ वर्ष तक बौद्ध धर्म ह्रासोन्मुख रहा, यहा तक कि उस युग मे मध्य तिब्बत मे, "ऊ" और "साग" प्रदेशो म, भिक्षु-पद की दीक्षा देने वाला कोई अधिकारी पण्डित या भिक्षु नही था। सन् १२४७ मे चगेजखान के पौत्र राजकुमार गोदन ने शाक्य पण्डित नाम के भिक्षु आचार्य को तिब्बत का शासन सम्भाला। उस समय से तिब्बत मे पुन बौद्ध धर्म का पुनरुत्थान हुआ। उस समय तिब्बत मे भी हिमालय क्षेत्र की छोटी-छोटी ठकुराइयो की भान्ति दर्जनो छोटे-छोटे राज्य थे। उनके शासक बौद्ध भिक्षु थे, पर वे नाम के भिक्षु थे। उनका आचरण और ज्ञान बौद्ध परम्परा के अनुरूप नही था। भारतीय पण्डितो को अपने यहा आश्रय देने मे वे अपना गौरव समझते थे। तेरहवी सदी के आरम्भ से ही कई बौद्ध भिक्षु सुरक्षा और आश्रय के लिये तिब्बत के भिक्षु शासको के सरक्षण मे गये। उनको तिब्बत मे आश्रय की कमी नही थी। कठिनाई थी द्विभाषिए की—ऐसे द्विभाषियो की जो सस्कृत और तिब्बती दोनो भाषाओ से परिचित हो। ऐसे भी उदाहरण तिब्बती परम्परा में मिलते हैं जब कुछ भारतीय पण्डित अपने द्विभाषियो से अलग हो गये और उनको असहाय अवस्था मे इधर-उधर भटकना पडा था। अन्त मे उनको चरवाहे का काम करना पडा। उनके द्वारा पत्थरो पर उत्कीर्ण सस्कृत लेख और श्लोक तिब्बत मे इधर-उधर मिलते हैं।

पश्चिमी पर्वतांचल मे राजपूत राज्यों की स्थापना—

शिमला क्षेत्र के अधिकाश राजपूती राज्यो की स्थापना उसी युग मे हुई। बिलासपुर, नालागढ़, बाघल, बघाट, मांगल महलोग आदि राज्यों का जन्म इसी अवधि मे हुआ। इन राज्यों के पूर्व पुरुष अपने दलबल के साथ यहा आये। नि सन्देह उनको यहां के मवाना (खश) ठाकुर शासको से सघर्ष करना पडा होगा। इन राजपूतो को खश ठाकुरो को पराजित करना कोई कठिन काम नही था क्योकि सैन्य बल मे ये नवागन्तुक अधिक सगठित और शक्ति-सम्पन्न थे। अत्याचारो के कारण खश ठाकुर स्थानीय जनता के सहयोग और सहानुभूति से वचित थे। इन विजेताओं ने खश ठाकुरो को सर्वथा नष्ट

नहीं किया, बल्कि उनको परास्त करके अपने अधीन सामन्त के रूप में इनके अस्तित्व को कायम रखा और कालान्तर में इनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये। बाघल राज्य का संस्थापक अजयदेव परमार उज्जैन से, मागल का मारवाड़ से और धामी का दिल्ली से आया हुआ बताया जाता है। उस युग में एक प्रथा-सी थी कि साहसी राजकुमार कुछ लोगों को अपने दल में संगठित करके इधर-उधर विजय-अभियान के लिये दूरस्थ क्षेत्रों को जाते थे। पुरानी दन्त कथाओं में ऐसे अभियानों का संकेत मिलता है। उस युग में समाज राजनैतिक दृष्टि से इतना संगठित नहीं था। ऐसे साहसी लोग दलप्रयोग से अव्यवस्थित राजनैतिक स्थिति का लाभ उठाते थे। मत्स्यन्याय के युग में बलवान ही विजयी और सत्ता को सम्भालने वाला होता था। इस क्षेत्र में भी दूरस्थ प्रदेशों से विजय के महत्वाकांक्षी राज-पुरुष आये और बाहु-बल से उन्होंने पहाड़ी क्षेत्र में अपने राज्य स्थापित किये। दसवीं शताब्दी में बंगाल के सेन-वंशीय ब्राह्मण शासक इस क्षेत्र में आये और उन्होंने सुकेत, क्योंथल और किश्तवाड़ में राज्यों की स्थापना की। पुराने-जमाने में ब्राह्मण वंशीय कई राजा हुये, तीसरी-चौथी सदी में विदिशा और ग्वालियर क्षेत्र में सदा शिवभार राजा ब्राह्मण वंश के माने जाते हैं, परन्तु कालान्तर में ये ब्राह्मण राजवंश भी क्षत्रियों की कोटि में गिने जाने लगे। ऐसी ही स्थिति उक्त सेन राजवंशों की हुई। बिलासपुर राज्य का पूर्व पुरुष विजय अभियान के लिये इस क्षेत्र में आया और राज्य स्थापित करने में सफल हुआ। हिमालय क्षेत्र के राज्यों में भी ऐसे साहसी राजपुरुषों ने विजय के द्वारा स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की। जम्मू क्षेत्र के अखनूर राज्य के वंशधरों ने कुनिहार राज्य की स्थापना की। इसी प्रकार कुठाड़ राज्य के संस्थापक किश्तवाड़ (काश्मीर) से आये थे। शिमला क्षेत्र के कई राज्य सिरमौर के राजघराने से सम्बद्ध हैं। जुब्बल, बलसन, थरोच और कोट-खाई राज्यों के पूर्व पुरुष सिरमौर के शासकों के वंशधर थे और सदियों तक ये राज्य सिरमौर के अधीन या उसकी छत्र-छाया में रहे। इस प्रकार मध्य युग में शिमला क्षेत्र में इन छोटे राज्यों का उदय हुआ। उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण में गोरखा युद्ध के बाद सन् १८१५ में ये अंग्रेजों के संरक्षण में आये। अंग्रेजों ने १२ बड़ी ठकुराई और १८ छोटी ठकुराइयों का उल्लेख किया है। उनका विशेष वर्णन अन्यत्र किया जावेगा। यहां पर इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि ये ठकुराइयां प्रायः किसी बड़ी शक्ति के अधीन होती थीं, कभी बिलासपुर राज्य छोटी ठकुराइयों का अधिनायक था तो कभी सिरमौर या बुशैहर। क्योंथल ने भी छोटी ठकुराइयों के अधिनायक होने का दावा किया है। कोई आश्चर्य नहीं कि सुलतानों या मुगलों के समय में भी भारत के मुख्य शासक शक्ति को इन छोटी-छोटी ठकुराइयों के अस्तित्व का पता भी नहीं होगा। भारत की केन्द्रीय शक्ति का सम्बन्ध तो बड़े-बड़े राज्यों से था। ऐसा प्रतीत होता है कि शिमला क्षेत्र के इन छोटे छोटे राज्यों के साथ सुलतानों या मुगलों का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था। कभी-कभी दिल्ली के शासक या उनके राजकुमार अथवा उच्च अधिकारी शिवालिक की पहाड़ियों के क्षेत्र तक शिकार खेलने आते थे। तब उनको इस इलाके का कुछ सीधा परिचय मिलता था। ऐसे दलों को

स्थानीय राजा आवभगत और सहायता भी करते थे। फलस्वरूप सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो जाते थे। ऐसी किंवदन्ति है कि सिरमौर के राजा नित्य प्रति चूड़ चान्दी (सिरमौर का सबसे ऊंचा पहाड, ११ हजार फुट ऊंचा) से बर्फ को दिल्ली के मुगल सम्राट् को भेजते थे। द्रुतगामी घोडो पर दिन-रात सफर करके बर्फ के बडे-बडे टुकडा का कुछ भाग तो दिल्ली पहुंच सकता होगा। उसको बन्द करने की कुछ ऐसी व्यवस्था होगी जो बर्फ को पिघलने मे बाधक होगी।

अकबर और नूरपुर राज्य—

मुगलो का सबसे पहला सम्पर्क पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के नूरपुर के शासको से सन् १५५६ में हुआ जब बैरामखान अकबर के साथ शेरशाह सूरी के भतीजे सिकन्दर सूर का पीछा करते हुये पठानकोट की ओर आया। अकबर अभी केवल तेरह वर्ष का था। यहा उनको हुमायू की मृत्यु का समाचार मिला। वर्तमान गुरदासपुर जिले में कलानौर के स्थान पर एक साधारण चबूतरे पर अकबर को विधिवत् भारतवर्ष का सम्राट् घोषित किया गया। यह घटना १६ फरवरी १५५६ ई० की है। घटना चक्र सक्षेप में इस प्रकार था, हुमायू ने जुलाई १५५५ ई० दिल्ली पर अधिकार किया ही था और शेरशाह सूर के उत्तराधिकारियो के विरुद्ध वह अपनी स्थिति सुदृढ कर रहा था कि जनवरी १५५६ में अपने पुस्तकालय की सीढियो से गिरकर हुमायू की मृत्यु हो गई। उस समय अकबर पजाब मे सैन्य अभियान पर गया हुआ था। पजाब मे सिकन्दर सूर दिल्ली के सिंहासन का दावेदार होने के कारण अपनी शक्ति बढा रहा था। उसने नूरपुर के तत्कालीन राजा भक्त मल से सहायता मागी जो उसको तत्काल मिली। उस समय नूरपुर राज्य का नाम धमेरी या पैथान था, पैथान पठानकोट के पुरातन नाम 'प्रतिष्ठान' का अपभ्रन्श है। मुगल काल मे पठानकोट पैथान नाम से जाना जाता था। बैरामखान द्वारा पीछा किये जाने पर सिकन्दर सूर ने पैथान राज्य मे स्थित मनकोट के किले मे शरण ली। यहा लगभग आठ महीने तक मुगल सेना ने घेरा डाला और अन्त में सिकन्दर सूर को पकड लिया। राजा भक्तमल ने पहले ही सिकन्दर सूर का साथ छोड दिया था, परन्तु वह भी पकडा गया और लाहौर ले जाया गया जहा बैरामखान ने अपने हाथो भक्त मल का सर धड से अलग किया। इस प्रकार पैथान का राजा मुगल सत्ता का पहला शिकार हुआ। सिकन्दर सूर को क्षमा-दान मिला और सुदूर पूर्व बिहार मे उसको जागीर प्रदान की गई। पारवर्ती मुगल काल मे समय-समय पर पैथान राजाओ ने इस सत्ता के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा प्राय ऊंचा रखा और साथ ही पश्चिमी क्षेत्र के पहाडी राजाओ मे मुगल दरबार मे ऊंची मनसबदारी के पदाधिकारी भी रहे। नूरपुर के राजा जगतसिंह का सैनिक पद, मनसबदारी ३००० सिपाही और २००० घुडसवार था और उसके पुत्र रूपराज सिंह का,जो कुछ समय तक कोट-कागडा का फौजदार (राज्यपाल) भी रहा,मनसब ३५०० सिपाही और २५०० घुडसवार था। अकबर ने राज्यारोहण के थोडे वर्ष बाद पुनः सन् १५६० मे मुगल सेना ने शिवालिक क्षेत्र मे प्रवेश किया।

बैरामखान का विद्रोह—

यह अवसर बैरामखान के अकबर के विरुद्ध विद्रोह का था। बैरामखान अकबर का प्रमुख सेनपति, प्रधान मन्त्री और अभिवावक था। बैरामखान ने तेरह वर्ष की आयु में अकबर को भारत का सम्राट घोषित किया था, उसके मार्ग में बाधक कई विद्रोहियों को कुचला था एवं सन् १५५६ में पानीपत की दूसरी लड़ाई में हेमू को परास्त कर दिल्ली और आगरा को अकबर के लिये हस्तगत किया था, परन्तु बैरामखान स्वेच्छाचारी और तेजस्वभाव का था। १८ वर्ष की आयु में अकबर ने सारी सत्ता अपने हाथ में लेली और फलस्वरूप बैरामखान को सत्ता से सर्वथा अलग कर दिया और उसको मक्का जाने का हुक्म दिया। परन्तु बैरामखान ने पंजाब की ओर जाकर विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। मुगल सेना उसका पीछा करते हुये शिवालिक की पहाड़ियों की ओर आई। बैरामखान ने तलवाड़ा के राजा गणेश के यहां शरण ली, परन्तु मुगल सेना ने उसको पकड़ लिया। अकबर बैरामखान के उपकारों को नहीं भूला था। जब उसको अकबर के सम्मुख प्रस्तुत किया गया तो उसने आगे बढ़ कर बैरामखा को गले लगा लिया और अपनी दाहिनी ओर साथ में बिठा लिया। बैरामखान इस अप्रत्याशित सम्मान और स्वागत को देखकर अत्यन्त भावुक होकर फूट-फूट कर रोने लगा। अकबर ने उसको क्षमा-दान दिया और सम्मान के साथ मक्का जाने का आग्रह किया, परन्तु वह मक्का न पहुंच सका क्योंकि गुजरात में पाटन के पास किसी व्यक्तिगत शत्रु ने उसकी हत्या कर ली।

अकबर के समय कांगड़ा पर सैन्य अभियान—

ऐसा प्रतीत होता है कि अपने शासन के आरम्भिक वर्षों में अकबर ने हिमालय क्षेत्र के पहाड़ी राज्यों की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। वह प्रधानतः मालवा, राजपूताना, बुन्देलखण्ड और मेवाड़ एवं गुजरात क्षेत्रों की विजयों में उलझा रहा। सन् १५६७-६८ के शीतकाल में उसने चित्तौड़ विजय की। इस युद्ध में तीस हजार राजपूतों ने अपने प्राणों की आहुति दी। अकबर अतुल धनराशि के अतिरिक्त चित्तौड़ के किले के विशाल फाटक और एक वृद्ध काय नगाड़ा लेकर आगरा आया था। यह नगाड़ा सदियों से चित्तौड़ में किले में मेवाड़ के राजाओं के महल से बाहर निकलने और अन्दर जाने की की सूचना को मीलों तक पहुंचाता था। फाटक फतेहपुर सीकरी के नये महल और किले को सुशोभित करने के लिये लाये गये थे। सन् १५७१-७२ में अकबर ने गुजरात पर सैन्य अभियान किया और लगभग इसी समय उसने पंजाब के फौजदार (राज्यपाल) खान जहान हसनकुली खान को नगर कोट कांगड़ा पर आक्रमण करने की आज्ञा दी। साधारणतया मुगल फौजदारों का दायित्व होता था कि वे आस-पास के स्वतंत्र राज्यों को मुगल सत्ता के आधीन लायें और सम्भवतः पहाड़ी राज्यों को पहले ही मुगल सत्ता की आधीनता स्वीकार करनी पड़ी हो,परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि उक्त समय से पहले इन राज्यों को विधिवत मुगलों की आधीनता स्वीकार करनी पड़ी हो। ऐसा उल्लेख

आता है कि अकबर कागडा के तत्कालीन राजा जयचन्द से किसी कारण से रुष्ट हो गया था। उसने कुली खान को जयचन्द को पकड कर दिल्ली भेजने का हुक्म दिया। जब राजा जयचन्द कैद कर लिया गया और दिल्ली भेज दिया गया तो उसके पुत्र विधिचन्द ने अकबर के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। अकबर ने शाही फरमान जारी करके कागडे का सारा राज्य बीरबल को दे दिया और पजाब के फौजदार को आज्ञा दी कि कागडे को जीत कर बीरबल को सौंप दे। इससे स्पष्ट है कि अकबर के आरम्भिक राज्य काल मे ही किसी न किसी रूप मे कागडा समेत सभी पहाडी राज्य मुगल साम्राज्य के आतक मे आ चुके थे। सन् १५७२ मे कागडा पर मुगलो का पहला आक्रमण हुआ और नगरकोट के किले को जीतने का प्रयास आरम्भ हुआ। फिरोज शाह तुगलक के आक्रमण के लगभग २०० वर्ष बाद फिर एक बार और नगर कोट को बाहर से आये आक्रमण का सामना करना पडा। नूरपुर और कागडा के बीच उस समय घना जगल था। बडी कठिनाइयो से कई दिना के बाद मुगल सेना कागडा पहुची। नगर की रक्षा दीवार को मुगल सेना ने ध्वस्त कर दिया और किले के बाहर सेना ने घेरा डाला। नगर की रक्षा दीवार के अन्दर वज्रेश्वरी देवी जिसको मुसलमान इतिहासकारो ने महामाई नाम दिया, का मन्दिर था। राजपूत रक्षको ने बडी वीरता से मन्दिर की रक्षा की और अपने प्राणो की आहुति दी। पर मुसलमान सेना का सामना न कर सके। मन्दिर के पुजारी और कई अन्य ब्राह्मण इस युद्ध म मारे गये। मन्दिर की २०० काली गाइया थीं। वे सभी इस सघर्ष मे मारी गई। कहते हैं कि मुस्लमान सिपाहियो ने रक्त से मन्दिर की दिवारो को अपवित्र किया। यह स्मरण रहे कि उस सेना के साथ साथ वीरबल था जो मुगल सेना मे सम्मानित मनसबदार था। परन्तु सेनानायक तो हुसन कुलीखान था। ससारचन्द के दादा घमण्डचन्द ने सन् १७६० के लगभग कुल्लू पर आक्रमण किया था। उसके सैनिक अफगान और रोहेले थे। वे हिन्दु राजा के सिपाही थे। उन्होने भी मण्डी की सीमा पर स्थित वजौरा के मन्दिरो की मूर्तिया तोडी थी। वे खण्डित मूर्तिया अभी भी वहां विद्यमान हैं। सैन्य अभिमान मे मदान्ध सिपाही प्राय ऐसा करते थे। ऐसे उदाहरण अन्यत्र भी मिलते हैं। मन्दिर को ध्वस्त करने के बाद किले का घेरा आरम्भ हुआ जो कई महीनो तक चला। राजपूत सैनिको ने साहस और वीरता से आक्रान्ताओ का मुकाबला किया। राजा विधिचन्द स्वय सेना का सचालन करता रहा। मुगलो ने तोपो से किले की दीवार तोडनी चाही। एक गोले से किले की दीवार का एक भाग नष्ट हुआ और उसके अस्सी राजपूत सैनिक मारे गये।

कांगडा राज्य सरास्त पर किला अजेय—

जैसा कि पहले बताया गया कि इसी समय अकबर ने गुजरात पर हमला किया। वहा का फौजदार मिर्जा इब्राहीम हुसेन बागी हो गया था। मुगलसेना से पराजित होकर वह पजाब की ओर आया। उसको यह ज्ञात था कि पजाब का फौजदार हसन कुली खान नगरकोट के घेरे मे व्यस्त है। अत पजाब में लूटमार करने का उसे अच्छा मौका मिला।

जब हसन कुली खान को पंजाब पर मिर्ज़ा हुसैन के आक्रमण का समाचार मिला तो कांगड़ा में लम्बा घेरा डालना कठिन हो गया। वैसे भी मुगल सेना का साहस किले की अजेयता और इसके रक्षकों की वीरता को देख कर, गिर चुका था। वे किसी प्रकार सम्मान के साथ यहां से निकलना चाहते थे। बड़े बड़े अधिकारियों ने फौजदार को घेरा उठाने की सलाह दी। अन्त में सन्धि की शर्तें तय हुईं। मुख्य ये थीं :—(१) किसी राजकुमारी को शाही हरम (रनिवास) के लिये देना होगा। (२) राजा को हरजाने के रूप में पांच मन सोना देना होगा, (३) राजा को अकबर की अधीनता स्वीकार करनी पड़ेगी, किसी राजकुमार या अन्य निकट सम्बन्धी को बन्धक के रूप में शाही दरबार में रहना होगा, (४) कांगड़ा का राज्य शाही फरमान से राजा बीरबल को दे दिया गया था। अतः उसको भी राज्य को छुड़ाने के लिये उपयुक्त मुआवजा देना होगा। ये शर्तें एक अधीन और परास्त राजा के अनुरूप थीं। मुगल सेना नगरकोट के किले को तो नहीं जीत सकी, परन्तु मुगल भारत की साम्राज्य सत्ता होने के नाते कांगड़ा के राजा को ये शर्तें माननी पड़ीं। सन्धि सम्पन्न होने पर अकबर के नाम के सिक्के ढाले गये और हफीज अहमद फकीर ने सम्राट के नाम पर कुतबा पढ़ा। इसके अतिरिक्त प्रचुर धन सम्पत्ति मुगल सेना में बांटी गई। यह सब युग धर्म के अनुरूप था।

अकबरनामा से पता चलता है कि इसी अवधि के लगभग सम्राट ने राजा टोडरमल को पहाड़ी राज्यों को मुगल साम्राज्य की व्यवस्था के अन्तर्गत विधिवत संगठित करने के लिये भेजा था। टोडरमल ने कांगड़ा घाटी के ६६ गांवों को एवं अन्य राज्यों से भी उनकी सामर्थ्य के अनुसार इलाके लेकर एक अलग जागीर या प्रान्त का निर्माण किया था। यह प्रान्त सीधे मुगल अधिकार में ले लिया गया था। सम्भवतः मुगल फौज के खर्च के लिये ये इलाके लिये हों। सन् १६२० में जहांगीर ने कांगड़ा के किले पर अधिकार किया और यह किला कटोच राजाओं के हाथ से लगभग २०० वर्ष के लिये छीन लिया गया। इस अवधि में मुगल फौजदार और सेना कांगड़ा के किले में रही। उसका खर्च इन ६६ गांवों की आय से होता होगा। सन् १८०९ में जब कांगड़े का किला रणजीत सिंह ने अपने अधिकार में लिया था तो उसने भी इन ६६ गांवों का इलाका जिसको संसारचन्द और रणजीत सिंह के इकरारनामे में सम्बात क्षेत्र कहा गया है, अपने अधिकार में ले लिया था। शेष राज्य राजा संसारचन्द के लिये छोड़ दिया था। राजा टोडरमल ने अपने स्वामी अकबर को विवरण देते हुए कहा था कि मांस मांस मैंने ले लिया है और हड्डियां छोड़ दी हैं। उसका आशय यह था कि उपजाऊ क्षेत्र मैंने साम्राज्य के उपयोग के लिये ले लिये हैं और बंजर, अनुपयोगी पहाड़ी क्षेत्र छोड़ दिये हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि अकबर कांगड़ा के किले पर अधिकार न कर सका, परन्तु पहाड़ी राज्य मुगल सेना के अधीन आ गये थे। मुगल सम्राट इन पहाड़ी राजाओं को पहाड़ी 'जिमींदार' कहते थे। राजा की उपाधि व्यक्तिगत सम्मान के लिये प्रदान की जाती थी। बीरबल टोडरमल आदि दरबारी मुगल सेना में मनसबदार थे, परन्तु व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के लिये उनको राजा की उपाधि प्रदान की हुई थी, मुगलों के बाद अंग्रेजों ने भी इस प्रथा को जारी

रखा। किसी क्षेत्र के शासक न होते हुये भी कई लोगो को अंग्रेजो ने राजा की उपाधि दी। अंग्रेजो ने राजा की उपाधि के अतिरिक्त अन्य उपाधियो का भी सृजन किया।

पहाड़ी राजाओं द्वारा विद्रोह और बन्धक प्रथा—

अकबर के शासन के आरम्भिक काल मे ही पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के सभी राजाओ को मुगल सत्ता की अधीनता स्वीकार करनी पडी थी, परन्तु ये राजा आसानी से इस पराधीनता को स्वीकार न कर सके। समय-समय पर इन राजाओ ने मिलकर अथवा व्यक्तिगत रूप से मुगल सत्ता के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खडा किया। अकबरनामा के अनुसार अकबर के शासन के पैंतीसवें वर्ष, सन् १५६१-६२ मे कागडा के राजा विधिचन्द, मनकोट के राजा रामप्रताप, जम्मू के राजा परशराम, पैथान के राजा बासु, लखनपुर के राय बलभद्र आदि ने मिलकर विद्रोह किया। पजाब के राज्यपाल जैनखान को अकबर ने इन 'पहाड़ी जिमीदारों' का दमन करने की आज्ञा दी। जैनखान ने इन सब राजाओ को परास्त किया। फौज की टुकडी जम्मू की ओर भेजी गई और मुख्य सेना जैनखान के सेना नायकत्व मे व्यास घाटी की ओर गई। इस क्षेत्र के मण्डी, कुल्लू बिलासपुर और सुकेत समेत सभी राजाओ को दण्डित किया गया। जैनखान ने इन विद्रोही राजाओं को लेकर लाहोर की ओर कूच किया। इन सब की सेना मिलाकर एक लाख पैदल सेना थी और दस हजार घुडसवार। इस समय अकबर ने लाहौर को साम्राज्य की राजधानी बना लिया था। काश्मीर और उत्तर पश्चिमी क्षेत्र की विजय के लिये अकबर सन १६८५ से १६६५ ६६ तक लाहौर मे रहा। सम्राट ने इन सब विद्रोही राजाओ को क्षमादान दिया और राजभक्ति का वचन लेकर इनके राज्य और उपाधिया लौटा दी। इस घटना के लगभग पाच वर्ष बाद पुन इन पहाड़ी 'जिमीदारो ने विद्रोह किया। इस विद्रोह का नेता जसरोटा का राजा था। अकबर ने मिर्जा रुस्तम कन्धारी और शेख फरीद के नेतृत्व म इन राजाओ को दबाने के लिये एक विशाल सेना भेजी। इस अभियान मे जम्मू, जसरोटा, मनकोट, गुलेर, आदि राज्यो पर आक्रमण हुआ। कागडा की रानी ने मुगल सेनापति को उपहार भेजा। शायद तब विधिचन्द जीवित नही था और उसका पुत्र त्रिलोकचन्द मुगल दरबार मे बन्धक के रूप में रह रहा था। यह घटना सन् १५६८ ६६ की है।

अकबर को पहाड़ी राजाओ को मुगल शक्ति के अधीन रखने के लिये तीन बार इनके विरुद्ध सैन्य अभियान करना पडा। ऐसा प्रतीत होता कि दूसरे अभियान के समय (१५६१-६२) से अकबर ने राजवश के किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति को बन्धक रखने की प्रथा को चलाया था। इन राजाओ के द्वारा मुगल सत्ता के प्रति निष्ठा रखने का यह एक आसान उपाय था। जहागीर के राज्यारोहण के समय मुगल दरबार मे २२ बन्धक राजकुमार पश्चिमी पहाड़ी राजाओ के थे। राजाओ की निष्ठा और सद्व्यवहार की प्राप्ति के लिये ये बन्धक रखे जाते थे। इन राजकुमारो की शिक्षा दीक्षा तत्कालीन मुगल परम्परा के अनुरूप दरबार मे ही होती थी। वहां रहते हुये ये मुगल अदब और शिष्टाचार

मे दीक्षित होते थे। कदाचित् ये बाइस राजकुमार, ग्यारह डूगर समुदाय के थे और ग्यारह त्रिगर्त समुदाय के थे। मुगल दरबार में इनकी उपाधि 'मिया' थी। परवर्ती समय मे पहाडी राज्यो म प्रथम राजकुमार को छोड कर अन्य राजकुमारो को मिया कहा जाता था। सम्भवत इसका आरम्भ जहागीर के समय म हुआ हो। उस युग के पहाडी राजा और उनके दरबारी भी मुगल वेष भूषा को अपनाने म अपना गौरव समझते थे। कई अग्रेज भी मुगलो के राज्यकाल मे मुगल वेष मे रहते थे।

जहागीर के समय कागडा विजय—

जहागीर सन् १६०५ म गद्दी पर बैठा और उसके दस वर्ष बाद सन् १६१५ मे उसने पजाब के गवर्नर मुरतजाखा को कॉट कागडा के किले को जीतने की आज्ञा दी। ३३ वर्ष पहले अकबर न इस किले पर अधिकार करने का असफल प्रयत्न किया था। नूरपुर का राजा सूरजमल जो मुगल दरबार मे एक प्रतिष्ठित मनसबदार था, दूसरे नम्बर का सेनापति मुरतजा खा को सहायता के लिये नियुक्त किया गया। राजा सूरजमल नही चाहता था कि कागडा के किले पर मुगलो का अधिकार हो। मुगल सेना ने जब किले को घेरा तो नूरपुर का राजा इस अभियान म विघ्न डालने लगा। मुरतजा खा ने सम्राट् से राजा के विरुद्ध शिकायत की। परन्तु राजा सूरजमल का मुगल दरबार मे बडा प्रभाव था, विशेषकर राजकुमार खुर्रम जो बाद मे शाहजहा के नाम से मुगल सम्राट् बना, के साथ उसकी घनिष्ट मित्रता थी। राजा न खुर्रम के द्वारा अपनी स्थिति स्पष्ट की और उलटे गवर्नर के विरुद्ध स्वार्थ सिद्धि का अभियोग लगाया। राजा सूरजमल को दक्षिण की ओर सैन्य अभियान में भेजा गया। उधर अगले वर्ष सन् १६१६ म पठानकोट मे मुरतजा खॉ की बीमारी से मृत्यु हो गई। कुछ दिन तक आमेर के राजा मानसिंह के सेनापतित्व मे कागडा के किले का घेरा चलता रहा। परन्तु उसी अवधि मे राजा मानसिंह के अपने राज्य मे अशांति और विद्रोह खडा हो गया। फलत कागडा का घेरा उठाना पडा। इस अभियान म किले को हस्तगत करने म सफलता नही मिली। सन १६१६ में दक्षिण से वापिस आने पर राजा सूरजमल ने पुनः कॉट-कागडा को विजय का प्रस्ताव जहागीर के सम्मुख रखा। कुमार खुर्रम के कहने पर राजा सूरजमल को एक बडी सेना देकर कागडा की ओर कूच करने की आज्ञा दी गई। उसकी सहायता के लिए शाहकुली खा को उसके साथ भेजा गया। शाहकुली खा भी एक बडा मनसबदार था। परन्तु राजा सूरजमल नही चाहता था कि कोई निष्ठावान् मुगल मनसबदार उसके साथ रहे। राजा की इच्छा कोट कागडा को जीतकर मुगलो के हवाले करने की कदापि नही थी। वह इस अभियान के बहाने इलाके को लूटना चाहता था। सूरजमल किसी प्रकार से शाहकुली खा से छुटकारा पाना चाहता था। उसकी शिकायत करके उसको वापिस बुला लिया गया। फिर मनमाने ढग से राजा सूरजमल शिवालिक क्षेत्र के निचले भागों को लूटने लगा। उस समय जहागीर अहमदाबाद मे था। उसको जब राजा सूरजमल के कार्य कलापो का पता लगा तो उसने राजा विक्रमजीत नाम के मनसबदार को शाहजहां के सेना नायकत्व मे पाठनकोट की ओर भेजा।

विक्रमजीत अत्यन्त निष्ठावान् मनसबदार था। उसी समय सूरजमल के भाई जगतसिंह को बंगाल से बुलाया गया। वह भी मुगल दरबार में ३०० घुड़सवार का मनसबदार था। जहांगीर ने उसका दर्जा बढ़ा कर उसको ५०० घुड़सवार और १००० सिपाही का मनसबदार बनाया। उसको राजा की उपधि प्रदान की। उपहार के रूप में २०,००० रुपये नकद, हीरों से जड़ी एक खड्ग, एक घोड़ा और एक हाथी जगतसिंह को दिया गया। और यह वचन दिया गया कि यदि वह निष्ठा के साथ मुगल सम्राज्य की सेवा करेगा तो उसको नूरपुर का राज्य भी दे दिया जाएगा। राजा विक्रमजीत पहले ही नगरकोट के किले का घेरा डाले हुये था। जगतसिंह के आने से राजा सूरजमल और भी हतोत्साह हुआ। विक्रमजीत के सम्मुख उसकी एक न चली। पहले वह नूरपुर में अपने किले में जाकर मुगल सेना का मुकाबला करता रहा; पर अन्त में उसको वहां से भी भागना पड़ा। उसने चम्बा के राजा के यहां शरण ली, परन्तु वहां पहुंचते ही राजा सूरजमल की मृत्यु हो गई। इसके बाद जगतसिंह को विधिवत् नूरपुर का राजा घोषित किया गया।

सन् १६२० में राजा विक्रमजीत और जगतसिंह ने मिलकर नगरकोट के किले का घेरा डाला और चार माम तक यह घेरा चलता रहा। किले की चारों ओर से नाकेबन्दी कर दी गई, यहां से भी किले में कोई सामान या आदमी अन्दर नहीं जा सकता थे। भीषण गोलाबारी किले पर की गई। चार मास तक यह क्रम चलता रहा। किले में अन्न का अभाव हो गया। पेड़ों की छाल को उबाल कर प्राण रक्षा की नौबत आ गई, परन्तु तब भी राजपूतों ने वीरता से किले की रक्षा की। पर ऐसी विकट स्थिति में विशाल मुगल सेना का मुकाबला अधिक दिन तक नहीं किया जा सकता था। विवश होकर किले के रक्षकों को आत्मसमर्पण करना पड़ा। १६ नवम्बर १६२० को किला मुगल सेना को सौंपा गया। शाहजादा खुर्रम मुगल सेना का अधिनायक था; और विक्रमजीत युद्ध का मुख्य सचालक। राजा त्रिलोकचन्द के पुत्र हरिचन्द ने किले को विक्रमजीत को समर्पित किया। अब्दुलअजीज खां नाकाबन्दी को किले का फौजदार नियुक्त किया गया और मुगल सेना ने किले में प्रवेश किया। सन् १००६ से सन् १०४३ तक ३४ वर्ष तक पहली बार कटोच राजाओं के हाथ से निकल कर किला सुलतान महमूद गजनी के अधिकार में रहा। सन् १६२० में सदियों के बाद फिर एक बार नगरकोट का किला लगभग १६३ वर्षों के लिये कटोच वंश से छीना गया। राजा संसारचन्द को इस किले का अधिकार २६ वर्ष की अल्प अवधि के लिये सन् १७८३ से सन् १८०६ तक मिला। तत्पश्चात् यह महाराजा रणजीतसिंह के अधिकार में चला गया। ख्याति प्राप्त नगरकोट के किले से वंचित होकर कटोच शासकों ने ब्यास के बांए किनारे पर स्थित नदौण में अपनी राजधानी बनाई। मुगलकाल में कटोच राजा नदौण में ही रहे। सन् १७६० में लगभग संसारचन्द के दादा घमण्डचन्द ने सुजानपुर टीरा में महलों का निर्माण किया और कालान्तर में यह स्थान कटोच शासकों का निवास स्थान बना। मुगल सेना द्वारा किले पर अधिकार करने के पश्चात्, विक्रमजीत राजा हरिचन्द

और उसके उच्च अधिकारियो को लेकर लाहौर गया जहा जहागीर काश्मीर से वापिस पहुचा था। विजय की खुशी मे विजेताओ को उपहार दिये गये। विक्रमजीत को राजा की उपाधि से सम्मानित किया गया। इसी प्रकार नूरपुर के राजा जगतसिंह को भी सम्मानित किया गया। राजा हरिचन्द तब केवल १२ वर्ष का था। उसको क्षमा-दान के साथ कागडे का राज्य वापिस दिया गया, अकबर के समय कागडे के सन्धात क्षेत्र मे ६६ गावो की जो मुगल कारदारी बनाई गई थी, वही कदाचित् किले के प्रबन्ध के लिये फौजदार के अधीन रही। कोट-कागडा के मुगल किलेदार का दर्जा नवाब के स्तर का रखा गया।

जहागीर कोट-कागडा मे—

कोट-कागडा की विजय को जहागीर अपनी एक विशेष गौरवमयी सफलता मानता था, अकबर जिस सफलता को न प्राप्त कर सका, वह जहागीर ने प्राप्त की। उससे पहले किसी सम्राट् या सुलतान ने इस पर अधिकार नही किया था। उससे ६०० वर्ष पूर्व गजनी ने किले को लूटा ही था, स्थायी अधिकार का ध्येय उसके मन मे नही था। अत कोट-कागडा को स्वय देखने की उसकी प्रबल इच्छा थी। सन् १६२२ मे वह नूरजहा और कुछ मुल्लाओ एव मुख्य काजी के साथ सीवा और हरिपुर गुलेर के मार्ग से कागडा पहुचा। वैसे जहागीर ने अकबर की उदार और सहिष्णु नीति का ही अपने शासककाल मे अनुसरण किया, परन्तु इस अवसर पर उसने हिन्दू-भावनाओं के सम्मान का परित्याग किया, यह सम्भवत सकीर्ण मुल्लाओ के प्रभाव मे किया था। किले मे उत्सव मनाते हुये, एक बछडे को काटा गया और वहा एक मस्जिद के निर्माण का भी आदेश किया गया। पहली बार गौ हत्या इस किले मे की गई। सम्राट् के नाम पर कुतबा पढा गया। ऐसा भी उल्लेख आता है कि इस स्थान के सौंदर्य से सम्राट् इतना आकृष्ट हुआ कि उसने वहा ग्रीष्म काल के वास के लिये महल बनाने की आज्ञा दी। कहा जाता है कि कागडे के निकट गगरी गाव मे [illegible] इस्लामाबाद की नींव भी रखी गई, परन्तु काश्मीर की सुषमा के आकर्षण के कारण यह विचार छोड दिया गया। कागडा आगमन के समय इस क्षेत्र के राजा तस्तूर के [illegible] सम्राट् को भेंट चढ़ाने दरबार मे आये। उनमे से चम्बा के राजा जनार्दन और उसके भाई विक्रमाजीत का विशेष उल्लेख आया है। जहागीर नूरपुर के मार्ग से [illegible] था। उस समय नूरपुर का नाम निश्चय ही धमेरी था और पैठान नाम से [illegible] जाता था। इस राज्य को मुगल दरबार की दो कारणो से विशेष [illegible] है, पहला पैठान शासको को मुगल दरबार मे अकबर के समय मे ही बड़ी [illegible] प्राप्त हुई थी और दूसरा मुगल सत्ता के विरुद्ध इन शासको ने समय-समय पर विद्रोह किया। बैरम[illegible] ने पैठान राजा भक्तमल का, सिकन्दरसूर का साथ देने के कारण [illegible] किया था। यह नृशस कार्य सन् १५५६ मे लाहौर मे हुआ था। भक्तमल के बाद [illegible] पैठान शासक हुआ। उसने पठानकोट से हटकर धमेरी मे अपनी राजधानी बनाई।

महल और किले का निर्माण किया। इस निर्माण-कार्य को सम्पन्न करने का सौभाग्य उसके पुत्र वासु को प्राप्त हुआ। राजा वासु को अकबर के समय १५०० घुड़सवारों का मनसब का दर्जा था। जहांगीर ने उसको बढ़ाकर ३५०० घुड़सवार कर दिया। सन् १६११ में राजा वासु मुगल सेना का नायक बनकर मेवाड़ के राणा के विरुद्ध सैन्य अभियान में गया और वहीं सन् १६१३ में उसकी मृत्यु हुई। जहांगीर के आगमन के समय वासु का छोटा पुत्र जगतसिंह धमेरी का शासक था जिसने कोट-कांगड़ा की विजय में मुगलों का साथ दिया था। जहांगीर के आगमन के हर्षोल्लास में धमेरी का नाम नूरपुर रखा गया। जहांगीर का पूरा नाम नुरुद्दीन जहांगीर था। नुरुद्दीन के नाम पर धमेरी का नाम नूरपुर हुआ। यह भी प्रसिद्ध है कि नूरजहां इस स्थान के सौन्दर्य से इतनी आकृष्ट हुई कि उसने वहां भी अपने लिये एक महल बनवाने की इच्छा प्रकट की। सम्राट् ने शाही खजाने से इसके लिये धन-राशि भी स्वीकृत की थी। परन्तु राजा जगतसिंह को यह बात कहां पसन्द हो सकती थी? निर्माण-कार्य आरम्भ हुआ। एक दिन नूरजहां इस कार्य को देखने गई तो वहां काम करने वाले मजदूरों और मिस्त्रियों में अधिकांश के गले में लटके गिलड़ थे। नूरजहां के पूछने पर कि इन लोगों की ऐसी अवस्था क्यों है, राजा जगतसिंह ने बताया कि इस स्थान का पानी ऐसा दोषपूर्ण है कि लोगों को यह गले का रोग हो जाता है। जगतसिंह की चालाकी काम कर गई, नूरजहां ने वहां महल बनाने का विचार छोड़ दिया और जहांगीर ने लाहौर को प्रस्थान किया।

मुगलों और पहाड़ी राजाओं का आपसी सम्बन्ध—

मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत सैकड़ों छोटे-बड़े राज्य थे। राज्यों की विजय के बाद उनको मुगल-सत्ता की अधीनता स्वीकार करनी पड़ती थी। पराजित राज्यों का सर्वनाश करना मुगल-नीति नहीं थी। अधीनता की स्वीकृति के फलस्वरूप मुगल सम्राट् को नजराना पेश करना पड़ता था। यह नजराना वार्षिक देना पड़ता था। इसको 'पेशकश' कहते थे। नये राजा के राज्यारोहण पर मुगल दरबार की स्वीकृति प्राप्त की जाती थी। सम्राट् को नजराना देना पड़ता था और मुगल दरबार की ओर से 'खिल्लत' उपहार नये शासक को प्रदान की जाती थी। 'खिल्लत' में राजसी वस्त्र, तलवार, खड्ग, घोड़े, हाथी आदि राजा की हैसियत के अनुसार उपहार में मिलते थे और इनके साथ लिखित शाही फरमान के द्वारा राजा के राज्याधिकार का अनुमोदन होता था। अकबर और जहांगीर राजाओं के राज्याभिषेक के अवसर पर उनके द्वारा अपने मस्तक पर टीका भी लगवाते थे। यह बड़े-बड़े राजपूत राजाओं को उत्तराधिकार देने के अवसर पर सम्भव था। शाहजहां ने टीका ग्रहण करने का काम अपने मन्त्रियों को सौंपा। मुगल सत्ता की अधीनता स्वीकार करने पर राजाओं का अपने शासक को स्वतन्त्र रूप से चलाने का पूरा अधिकार था। मुगल दरबार उनकी आन्तरिक व्यवस्था में बिल्कुल हस्तक्षेप नहीं करता था। हिमालय क्षेत्र के पहाड़ी राज्यों की भी यही स्थिति थी। मुगल दरबार इन राजाओं के आपसी झगड़ों में भी हस्तक्षेप नहीं करता था। बाहु-बल से वे

आपस मे इन झगडो का निपटारा स्वय करते थे। नूरपुर के राजा जगतसिंह ने चम्बा, बसोली, सुकेत और मण्डी को जीतन के लिये इन पर आक्रमण किये और इसके लिये उसने पजाब के मुगल गवर्नर से सहायता प्राप्त की। ये राजा आपस मे युद्ध और सन्धि करने मे स्वतत्र थे। जहागीर के समय से पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के राज्य नगरकोट के फौजदार के अधीन समझे जाते थे। उसका काम इन राजाओ से वार्षिक कर वसूल करना था। शाहजहां के समय मे यह कर चार लाख रुपया था। इसमे कागडा समुदाय के ग्यारह पहाडी राज्य थे। शिमला क्षेत्र के छोटे छोटे राज्यो की स्थिति के बारे मे कोई विशेष जानकारी नही है। अकबर के समय मे पश्चिमी क्षेत्र के राजाओ ने कई बार मुगल-सत्ता को चुनौती दी यह मुगल साम्राज्य की अधीनता का आरम्भिक युग था, परन्तु जहागीर और शाहजहा के समय विद्रोह की स्थिति समाप्त हो गई और मुगल दरबार और इन राजाओ के बीच मैत्रीपूर्ण मधुर सबध रहे। अकबर के द्वारा ज्वालामुखी के मन्दिर को सोने के छत्र का दान एक ऐतिहासिक तथ्य है। इसकी स्मृति लोक परम्परा म अभी तक जीवित है। सम्भवत देवी को छत्र चढाने का उदार काम उस अवधि मे हुआ जब अकबर सन् १६८५ से लगभग पन्द्रह वर्ष तक लाहौर मे रहा। उस समय अकबर की धार्मिक सहिष्णु नीति अपने चरमोत्कर्ष पर थी। इसाइया को लाहौर और कोटा मे गिर्जाघर बनाने की स्वीकृति भी इसी समय दी गई थी। सन् १६८२ मे सम्राट् ने दीने इलाही धर्म का प्रतिपादन किया था। दीने इलाही मत मे सभी धर्मों के प्रति समभाव की भावना थी और हिन्दू, जैन मुसलमान पारसी धर्मों के मुख्य तत्त्वो का इसमे समावेश व समन्वय था। जहागीर के राज्य-काल मे भी यह उदार और सहिष्णु धार्मिक नीति स्थिर रही। शाहजहा के समय से इसमें कठोरता उगने लगी और औरगजेब के समय मे सर्वथा समाप्त हो गई।

औरगजेब और उसके बाद पहाडी राज्यों की स्थिति—

औरगजेब के अन्तिम दिन दक्षिण की विजय मे बीते। वर्षों तक उसका स्कधावार औरगाबाद मे रहा और वही से साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तो को फरमान जाते थे। पजाब और पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के पहाडी राज्यो पर साम्राज्य का नियन्त्रण ढीला हो रहा था और इन शासको को यह स्पष्ट हो रहा था कि मुगल-सत्ता ह्रासोन्मुख हो रही है। उसी अवधि मे औरगजेब ने चम्बा, कागडा आदि राजाओ को मन्दिर गिराने के फरमान भेजे। चम्बा का राजा उस समय छत्रसिह था। उसने इसके विरोध मे चम्बा के मन्दिरो को स्वर्ण कलश चढाये। उसी प्रकार कागडे के राजा ने भी शाही आज्ञा का उल्लघन किया जिसके फलस्वरूप उसको कैद करके दिल्ली ले जाया गया। दूसरी ओर कुछ वर्षों से इस क्षेत्र के राजाओ ने वार्षिक पेशकश, नजराना नही दिया था। पहाडी राजा ऐसी स्थिति मे मुगल-सत्ता के विरोध मे सगठित थे। गुरू गोविन्दसिह भी इस सगठन मे सम्मिलित हो गये। औरगजेब ने अपने सेनाध्यक्ष अलिफ खा के अधीन फौज कागडा के राजा कृपालचन्द, जसवाल के राजा केसरीचन्द, डडवाल के पृथ्वीचन्द,

जसरोटा में राजा सुखदेव चन्द आदि के विरुद्ध भेजी। इन राजाओं की संगठित सेना के साथ मुगल सेना का मुकाबला नदौण के स्थान पर हुआ। गुरु गोविन्दसिंह उनके अनुयायियों ने भी इस युद्ध में राजाओं का साथ दिया। मुगल सेना इसमें पराजित हुई। फलतः पहाड़ी राजा मुगल-सत्ता से लगभग मुक्त हुये। सन् १७०७ में औरंगजेब की मृत्यु हुई और अगले चालीस वर्षों में मुगल साम्राज्य लगभग छिन्न-भिन्न हो गया। दिल्ली की सत्ता का उत्तराधिकार प्राप्त करने के लिये उत्तर-पश्चिम की ओर से अहमदशाह दुरानी निरन्तर आक्रमण करता रहा और सन् १७५२ में उसने पंजाब पर विधिवत् अधिकार कर लिया और पश्चिमी क्षेत्र के सभी पहाड़ी राज्य भी अफगान साम्राज्य के अन्तर्गत आ गये। अहमदशाह दुरानी ने संसारचन्द के दादा घमण्डचन्द को जालन्धर दोआब और कांगड़ा क्षेत्र के रावी और सतलुज के बीच के पहाड़ी राज्यों का उपराज्यपाल नियुक्त किया। राजा घमण्डचन्द ने कटोच वंश की खोई हुई कीर्ति को पुनर्जीवित करने का भरसक प्रयास किया, परन्तु इसमें पूरी सफलता उसके पौत्र राजा संसारचन्द को अठारहवीं सदी के अन्तिम चरण में मिली।



६. पश्चिमी हिमालय के प्रमुख राज्यों का संक्षिप्त परिचय

कुल्लू—

वीर्यस राजा का एक सिक्का कुल्लू म मिला। इस सिक्के का इतना ही महत्व है कि ईसा की पहली और दूसरी शताब्दी मे इस राज्य का अस्तित्व था और वीर्यस इसका शासक था। इससे अधिक और कोई सूचना इससे नही मिलती है। कुल्लू के सम्बन्ध मे दूसरा महत्वपूर्ण उल्लेख पाचवी सदी के विशाखदत्त कृत नाटक मुद्रा राक्षस मे आता है। इस नाटक का आख्यान चाणक्य से सम्बद्ध तत्कालीन राजनैतिक उथल-पुथल से है। कुल्लू के राजा चित्र वर्मा द्वारा पाटलिपुत्र मे होने वाले सघर्ष मे भाग लेने का उल्लेख है। चित्रवर्मा नि सन्देह एक काल्पनिक पात्र है, परन्तु पाचवी सदी मे ख्याति प्राप्त राज्य था और इसका नाटक की घटनाओ से सम्बद्ध होना इसकी प्राचीनता का सूचक है। सातवीं सदी के पूर्वार्द्ध मे चीनी यात्री ह्वीवानसाग हर्ष राज्य-काल मे भारत मे आया। वह त्रिगर्त होता हुआ कुल्लू गया। उसने अपने यात्रा विवरण मे कुल्लू का उल्लेख किया है। उसके अनुसार कुलूत म महायान बौद्ध सम्प्रदाय प्रचलित था। यहा बीस सघारामो मे एक हजार भिक्षु रहते थे। अन्य देवताओ के भी मन्दिर थे। इसके अतिरिक्त पहाडी गुफाओ म भी ऋषि और अर्हत व योगी रहते थे। ह्वीवानसाग के अनुसार बुद्ध धर्म प्रचारार्थ कुल्लू आये थे, पर चीनी यात्री की यह बात सन्देहास्पद प्रतीत होती है। बुद्ध का धर्म प्रचार क्षेत्र मुख्यत मगध, अयोध्या, कौशाम्बी आदि रहे। पश्चिमी दिशा की ओर वे कदाचित् मथुरा क्षेत्र तक आये हो। सारे बौद्ध तीर्थ मगध और नैपाल तराई क्षेत्र मे हैं जहा उनकी जन्म से परिनिर्वाण तक की जीवन लीलाए सम्पन्न हुईं। पर इसमे कोई सन्देह नही कि चीनी यात्री का साक्ष्य कि कुल्लू मे बौद्ध धर्म था, सत्य है। आज भी इस क्षेत्र मे किसी न किसी रूप मे बौद्ध अवशेष पाये जाते हैं।

पाल और सिंह

कैप्टन हरकोर्ट के अनुसार कुल्लू के राजवश की स्थापना लगभग ईसा की पहली सदी म हुई प्रतीत होती है। इस वश म ८८ राजा हुये। इनम से ७३ राजाओ के नाम के साथ पाल शब्द आया है जैसे विशुद्ध पाल, सिद्ध पाल आदि। पन्द्रहवी सदी से पाल के स्थान को सिंह शब्द ने ले लिया। अन्य पहाडी राज्यो मे भी ऐसा ही परिवर्तन हुआ। राजाओ का नामान्त सिंह शब्द से हुआ। यदि एक राजा के राज्य काल की औसद अवधि २० वर्ष मान ली जाय जैसी कि हारकोर्ट न गणना की है तो कुल्लू के राजवश ने

१७६० वर्ष तक राज किया। सन् १८३६ मे सिख दरबार ने राज सत्ता इस वंश के राजाओ के हाथ से छीन ली। इसके वशधर तत्पश्चात् जागीरदार के रूप म रहे। इस वश की मूल राजधानी नस्त या जगत सुख म थी। बारह पीढियो तक यही राजधानी रही। इसके पश्चात् नगर को स्थानान्तरित हो गई। यह स्थान कुल्लू और मनाली के बीच ब्यास के बायें किनारे पर है। आधुनिक समय मे यह स्थान इसलिय प्रसिद्ध हुआ कि ख्याति प्राप्त रूसी कलाकार और विचारक रोरिक ने नगर को अपना कला-केन्द्र बनाया। राजा जगतसिंह ने सन् १६६० में सुल्तानपुर को अपनी राजधानी बनाया, अब यह स्थान मुख्यत कुल्लू नाम स जाना जाता है। पुराने इतिहास का ज्ञान अधिकतर धूमिल है। जैसा कि पुरातन युग म सर्वत्र छोटे छोटे राज्य या ठकुराइया थी, यहा भी कुल्लू राज्य के अन्तर्गत दर्जनो सामान्त या ठाकुर थे। अपने-अपने इलाके पर वे ही राज करते थे, परन्तु उन्हे कुल्लू राजवश के अधीन रहना पडता था, उसके आदेश पर विजय अभियान पर जाना पडता था। उस युग मे कुल्लू एक विस्तृत राज्य था। ग्यारहवी सदी से पहले मण्डी, सुकेत आदि राज्यो का कही अस्तित्व ही नही था। तब ये सभी क्षेत्र कुल्लू राज्य के अन्तर्गत थे। बुशैहर राज्य भी तब सम्भवत बागतू से ऊपर कनौर तक ही सीमित था। उससे नीचे सतलुज घाटी कुल्लू राज्य मे थी। ह्वेनसांग ने कुल्लू राज्य की परिधि सीमा ३००० ली याने ५०० मील मानी है। इन सभी क्षेत्र को मिलाकर ही इतनी विशाल सीमा हो सकती हो।

कुल्लू और लद्दाख के सम्बन्ध—

लद्दाख के ऐतिहासिक वृतान्त ग्यालरब से ज्ञात होता है कि लद्दाख के राजा ला छेन-उत्तपाल (११२५-११५०) ने कुल्लू पर आक्रमण किया और कुल्लू के राजा को वार्षिक कर के रूप लोहा और सुरा मादा (जो) देने के लिये प्रतिबन्धित किया था। उस सन्धि के अनुसार—'जब तक कैलाश पर हिम और मानसरोवर में पानी है तब तक कुल्लू को यह वार्षिक कर देना होगा।" इससे पता चलता है कि बहुत प्राचीन काल में भी लाहौल कुल्लू के अधीन था। अन्यथा सुरा मादा वहा से उपलब्ध हो सकता था? कुल्लू तब से लेकर सतारहवी सदी के अन्तिम चरण तक लद्दाख को यह कर सम्भवत देता रहा। सतारहवी सदी के उत्तरार्द्ध मे पाचवें दलाईलामा नावाग लौबजग ग्यात्सो (१६१७ ८२) के समय तिब्बत सदियो के पराभव और पतन के बाद एक प्रबल राजनैतिक सत्ता के रूप म उभर आया। कमलक मगोलो की सहायता से पचम दलाईलामा ने समस्त तिब्बत को सगठित किया। पश्चिमी तिब्बत के नारी क्षेत्र का जीतने के बाद मगोलो ने लद्दाख पर भी आक्रमण किया। लद्दाख का राजा भाग कर श्रीनगर म मुगल फौजदार की शरण मे गया। तब औरगजेब का राज्य-काल था। लद्दाख के बौद्ध राजा को इस आधार पर सैन्य सहायता देनी औरगजेब ने स्वीकार की कि—राजा मुस्लिम धर्म को स्वीकार करें और लेह म मस्जिद का निर्माण करायें। राजा ने दोना शर्तें मान ली, परन्तु औरगजेब के मरने के बाद लद्दाख का राजा पुन बौद्ध धर्म म दीक्षित हो

गया। मुगलो ने तिब्बती आक्रान्ताओं को तो भगा दिया, परन्तु लद्दाख की शक्ति सर्वथा क्षीण हो गई। मुगलो ने यह शर्त लद्दाख पर लादी कि आगे से तिब्बत, लद्दाख और अन्यत्र से आने वाली सारी पशम काश्मीर के मार्ग से बाहर जाया करेगी। पहले यह पशम बारालाचा के मार्ग से कुल्लू और बुशैहर भी जाती थी। लद्दाख की स्थिति से लाभ उठाकर कुल्लू ने भी सारे लाहौल को अपने अधिकार में ले लिया और बहुत प्राचीन काल से 'जो' और लोहे के रूप मे कर देना भी समाप्त कर दिया। यह घटना सन् १६८२ के लगभग की है। उस समय कुल्लू का शासक राजा विधिसिंह था।

रघुनाथ जी का आगमन—

सतारहवी सदी मे ही राजा जगतसिंह के राज्य काल मे श्री रघुनाथ जी का कुल्लू मे आगमन हुआ। कुल्लू की गद्दी श्री रघुनाथ को समर्पित की गई और राजा रघुनाथ जी की ओर से प्रतिनिधि के रूप में कुल्लू राज्य का शासक हुआ। सक्षेप से घटना इस प्रकार की है कुल्लू राज्य के अन्तर्गत पारवर्ती घाटी मे एक ब्राह्मण रहता था। उसके पास मूल्यवान रत्न, हीरे, मणि-माणिका थे। राजा लोभी था। वह इनको हस्तगत करना चाहता था, परन्तु ब्राह्मण आसानी से देने वाला नही था। एक बार मणि कर्ण की यात्रा पर जाते हुये राजा ने ये रत्न मागे। ब्राह्मण ने वापिस आने पर देने का वचन दिया, परन्तु जब राजा वापिस पहुचा तो ब्राह्मण सपरिवार अपने मकान मे आत्म-दाह करके मर चुका था। राजा पर ब्रह्म हत्या का पाप लग गया। इसका प्रायश्चित करने के लिये राजा बहुत आतुर था, पर ब्रह्म हत्या का कोई सरल प्रायश्चित तो शास्त्रो मे है ही नही। अन्त मे किसी पण्डित ने समस्त राज्य का दान श्री रघुनाथ जी को देने का सुझाव दिया। फलत अयोध्या से रघुनाथजी की मूर्ति लाई गई और विधिवत् राज्य का दान श्री रघुनाथ जी को कर दिया गया। दशहरे के अवसर पर केवल लोग ही नही वरन् कुल्लू क्षेत्र के समस्त देवी-देवता अपनी पालकियो मे रघुनाथ जी के दर्शनार्थ प्रति वर्ष कुल्लू मे आते है और इस उत्सव म सम्मिलित होते हैं। उस युग मे शासक किसी को धनपति नही देखना चाहते थे। युग-धर्म की परम्परा के अनुसार वे प्राय ऐसा अपहरण किया करते थे।

नेपालियों का पश्चिमी हिमालय क्षेत्र पर आक्रमण—

सन् १८०५ मे नेपाल ने पश्चिमी हिमालय क्षेत्र पर आक्रमण किया और वे कागडा तक पहुच गये। कुमाऊ और गढ़वाल पर वे पहले ही अधिकार कर चुके थे। चार वर्ष तक गोरखाओं ने कागडा के किले को घेरे रखा। महाराजा रणजीतसिंह की सहायता से कागडा के राजा ससारचन्द ने गोरखाओं को कागडा से भगाया और कागडे का किला और त्रिगर्त समुदाय के ग्यारह राज्य जिनमे कुल्लू, मण्डी, चम्बा, सुकेत आदि सभी राज्य के लाहौर दरबार के अधीन हो गये। सतलुज नदी महाराज रणजीतसिंह और नेपाल द्वारा विजित शिमला क्षेत्र के राज्यो की सीमा निश्चित हुई। सतलुज के बायें किनारे पर सागरी नाम का एक छोटा क्षेत्र है। यह कुल्लू राज्य का इलाका था।

इस प्रकार सतलुज कुल्लू राज्य को दो भागों मे बाटती थी—अधिकाश क्षेत्र दाहिनी ओर था और एक छोटा भाग बाईं ओर। सागरी गोरखा राज्य सीमा मे आता था और शेष कुल्लू क्षेत्र रणजीतसिंह की राज्य-सीमा के अन्तर्गत। अत कुल्लू को गोरखा और रणजीतसिंह दोनो को नजराना देना पड़ता था। सन् १८१५ मे अग्रेजो और गोरखाओं के मध्य युद्ध मे कुल्लू ने अग्रेजो को कोटगढ क्षेत्र से नेपालियो को निष्कासित करने मे कुछ सहायता की। नारकण्डा के निकट हाटू नामक ऊंचे पहाड की धार पर गोरखाओं के किले थे। वही से वे इस इलाके पर नियन्त्रण करते थे। बुशैहर और कुल्लू की सेनाओं ने मिलकर गोरखा फौजदार कीर्तिराणा को यहा से भगाया था। कीर्तिराणा की पराजय के बाद सारा बुशैहर राज्य, कुमारसेन, सागरी कोटगढ आदि क्षेत्र गोरखा शासन से मुक्त हुये थे। यह काम कुल्लू और बुशैहर की सेनाओं के सयुक्त प्रयास से सफल हुआ। अग्रेजो ने इस सहायता के लिये सम्भवत कुल्लू को पाच हजार रुपये का पुरस्कार या भेंट दी थी। जब महाराजा रणजीतसिंह को पता लगा तो उसने कुल्लू पर पचास हजार रुपये का जुर्माना किया। इस बात का उल्लेख अग्रेज यात्री विग्थूर कॉफ्ट ने भी किया है। कुल्लू पर आरोप लगाया गया कि उसने इस युद्ध से हस्तक्षेप किया। सन् १८१५ की नेपाल और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के मध्य की लडाई मे रणजीतसिंह सर्वथा तटस्थ था। परन्तु कुल्लू की स्थिति भिन्न थी। उसके सांगरी क्षेत्र पर गोरखाओं का अधिकार था। युद्ध के उपरान्त भी तो कुल्लू को दो शक्तियो की अधीनता स्वीकार करनी पडी—सागरी के लिये अग्रेजो की और शेष राज्य के लिये लाहौर दरबार की। यही स्थिति बिलासपुर की भी थी। सतलुज उस राज्य को भी दो भागो मे बाटती थी। बिलासपुर के शासको को भी सन् १८४६ तक दोनो शक्तियो की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी थी। सतलुज पार के क्षेत्र के लिये लाहौर दरबार की और वार क्षेत्र के लिये अग्रेजो की।

शाहसूजा कुल्लू मे—

काबुल का अमीर शाहसूजा अपदस्थ होकर कुछ दिन रणजीतसिंह के अतिथि या कैदी के रूप मे मुल्तान के किले मे रहा। इसी अवधि मे शाहसूजा से रणजीतसिंह ने कोहेनूर हीरे को हस्तगत किया था। मुल्तान से भागकर वह काश्मीर के किश्तवाड क्षेत्र की ओर गया। दो वर्ष बाद वहा से भी उसको भागना पडा। वह जास्कर, बारालाचा और रोहताग के विकट मार्ग से कुल्लू पहुचा। अग्रेजो के आग्रह पर कदाचित कुल्लू के राजा अजीतसिंह ने उसकी लुधियाना जाने में कुछ सहायता की हो। वह नि सन्देह कुल्लू से बनजार होता हुआ बुशैहर के मार्ग से लुधियाना पहुचा होगा। महाराजा रणजीतसिंह ने रुष्ट होकर कुल्लू के राजा पर शाहसूजा को भागने मे सहायता देने के लिये अस्सी हजार रुपये जुर्माना किया। यह घटना सन् १८१६-१७ की है।

कुल्लू राज्य का अन्त—

सन् १८०९ म गोरखाओ को कागडा से निष्कासित करने के पश्चात कागडा समुदाय के सभी राज्य जिसमे कुल्लू राज्य भी सम्मिलित था, रणजीतसिंह के अधीन हो

गये। महाराजा रणजीतसिंह के जीवन काल मे ही कागडा, मण्डी, मुकेत, चम्बा और कुल्लू को छोड़कर, इस क्षेत्र के अन्य सभी छोटे-छोटे राज्य सिख-राज्य मे मिला लिये गये और उनके राजाओ को जागीर देकर पदच्युत कर दिया गया था। इनमें नूरपुर, हरिपुर गुलेर, जसवा, कुटलैहड आदि मुख्य राज्य थे। शेष राज्यो को लाहौर दरबार को वार्षिक कर देना पडता था। सिख सेना नायक प्राय कर वसूल करने के बहाने इन क्षेत्रो मे आते और अतुल धन-राशि ऐंठते थे। सन् १८१० में सिख सेना की एक टुकडी कुल्लू उपत्यका मे प्रविष्ट हुई और राजा से ४०,००० रुपये नजराने के वसूल किये। इसके तीन वर्ष बाद फिर नजराने की माग की गई। नजराना न मिलने पर सरदार मोकमचन्द के नेतृत्व मे सिख सेना ने कुल्लू को लूटा और नजराना वसूल किया। सन् १८३६ मे सिंधावाला सरदारो ने सेना के साथ कुल्लू घाटी मे प्रवेश किया। तब राजा रणजीतसिंह कुल्लू का शासक था। राजा को सिख शिविर में बुलाकर कैद कर लिया गया और जागीर के बदले राज्य को सिख दरबार को समर्पित करने को कहा। विवश परिस्थितियो मे राजा को यह माग स्वीकार करनी पडी। फलत राजा को पारवर्ती घाटी मे रूपी वजीरी की जागीर दी गई। तत्पश्चात् राजा को साथ लेकर सिख सेना सतलुज और ब्यास नदियो के बीच के क्षेत्र सिराज की ओर गई। उस क्षेत्र मे कई किले थे जिनको राजा की सहायता से सिख सेना ने अपने अधिकार मे लेना था। सिखो ने बिना किसी बाधा के आउटर सिराज पर अधिकार कर लिया और कुछ दिनो के बाद जब वे वापिस आ रहे थे तो बशलेऊ की घाटी के नीचे जब वे एक लम्बी पक्ति मे तग मार्ग से गुजर रहे थे, तब वहा पेडो की ओट मे पहाड के ऊपर की ओर सिराज-वासी घात लगाकर छिपे थे। सिख सेना लगभग एक हजार थी। जब सिख सेना का यह भाग वहा पहुचा जिसमे राजा अजीतसिंह भी चल रहा था, तो सिराजियो ने उन पर आक्रमण कर दिया। राजा को पकड कर ऊपर की ओर अपने पास ले गये और पत्थरो से सिख सेना को मारने लगे। सिखो मे भगदड मच गई। गाली और पत्थरो से सिराजियो ने कई सिपाहियो को मौत के घाट उतारा। सिख सेना ने पास के एक किले मे जाकर अपने प्राण बचाये। पर वहा पानी और खाद्य-सामग्री के अभाव मे वे दो दिन से अधिक न टिक सके। पहाड की उतराई मे जब यह सेना चल रही थी तो सिराजियो ने फिर उन पर पत्थरो को गिरा और फेंककर ऊपर की ओर से हमला किया। भागते हुये वे एक ऐसे स्थान पर पहुच गये जहा से उन्हे रास्ता मिलना कठिन हो गया। इस क्षेत्र से वे सर्वथा अपरिचित थे। कहते है कि चार-पाच चमारो को ब्राह्मणो के वेष मे सिखो के पास भेजा गया जिन्होंने गाय की पूछ हाथ म लेकर सिखो को आश्वासन दिया कि यदि वे हथियार डाल दें तो उन्हे सुरक्षित वापिस जाने दिया जावेगा। पर यह सब धोखा था। सिख सेना ने हथियार डाल दिये—नि शस्त्र हो गये, पर विश्वासघात करके सिराजियो ने उन पर आक्रमण किया और लगभग सबको मौत के घाट उतारा।

राजा अजीतसिंह भाग कर सतलुज के पार सागरी चला गया। यह क्षेत्र अंग्रेजो के राज्य के अन्तर्गत था। कुल्लू मे स्थित सिख सेना को जब इस विनाश का पता लगा

तो वे पुन सिराज की ओर गये। प्रतिशोध मे उन्होंने सिराजियो के कई गाव जला डाले। यह क्षेत्र मण्डी के राजा को ३२००० रुपये वार्षिक ठेके पर दे दिया और शेष कुल्लू क्षेत्र सिख राज्य मे सम्मिलित कर दिया गया। सन् १८४६ मे जब लाहौर दरबार की अंग्रेजो के साथ प्रथम युद्ध म पराजय हुई तो रावी और सतलुज के बीच का सारा पहाडी क्षेत्र अंग्रेजी राज्य मे मिला लिया गया। सिख दरबार ने इस क्षेत्र के जिन राजाओ को पदच्युत करके जागीरें दी थी, उनकी स्थिति अंग्रेजी राज्य मे भी वैसी ही रखी गई, प्रयत्न करने पर भी उनको राज्य वापिस नही दिये गये। कुल्लू की सदियो पुरानी राज-सत्ता जो सन् १८३९ मे समाप्त हो गई थी, वह अंग्रेजो के राज्य म भी पुनर्जीवित न हो सकी।

नूरपुर राज्य—

नूरपुर के राजाओ का कुछ परिचय पिछले परिच्छेदो म दिया गया है। यह परिचय मुख्यत मुगल काल मे ही मिलता है। जहागीर के शासन काल मे नूरपुर का राजा जगतसिंह मुगल दरबार मे एक प्रतिष्ठित मनसबदार था। सन् १६२० मे कोट-कागडा की विजय के समय जगतसिंह ने मुगल सेनापति विक्रमजीत का साथ दिया था। उससे पहले जगतसिंह बगाल मे किसी बडे पद पर था और उस समय नूरपुर का राजा सूरजमल था। सूरजमल ने कागडा के किले को जीतने मे विघ्नबाधा उत्पन्न की थी। फलत उसको विद्रोही माना गया और उसने चम्बा राज्य मे शरण ली जहा उसकी बीमारी से मृत्यु हुई। उस समय मुगल सम्राट् ने विशेष रूप से जगतसिंह को बगाल से बुलाया और नाना प्रकार के सम्मान से अलकृत करके उसको नूरपुर का राजा घोषित किया। सन् १६२२ मे जहागीर नूरपुर आया था और उसके अगले वर्ष जगतसिंह ने चम्बा पर आक्रमण किया। डलहौजी के निकट चम्बा की सेना ने जगतसिंह का मुकाबला किया, परन्तु चम्बा की पराजय हुई और राजा का छोटा भाई इस लडाई मे मारा गया। नूरपुर ने चम्बा पर अधिकार किया, तत्कालीन राजा जनार्दन भाग गया। कहते हैं कि सन्धि की शर्तों पर विचार विनमय करने के लिये उसको महल मे बुलाया गया। जब बात-चीत हो रही थी तो जगतसिंह ने कटार जनार्दन के वक्ष स्थल म भोक दी और वही पर उसका प्राणान्त कर दिया। उसके बाद चम्बा सन् १६४३ तक नूरपुर के अधीन रहा। नूरपुर के अधिकारी चम्बा की शासन-व्यवस्था को इस अवधि मे चलाते रहे। जगतसिंह को मुगल दरबार का सरक्षण प्राप्त था, यहा तक कि चम्बा विजय के समय पजाब के फौजदार ने मुगल-सेना जगतसिंह की सहायता के लिये दी थी। उस जमाने में जगतसिंह का प्रभाव और आतक सभी पहाडी राजाओ पर छाया था। उसने बसौली राज्य को भी जीता और वहा के राजा भूपतपाल को चौदह वर्ष तक दिल्ली में मुगल-कारावास में रखा। उसी के कहने पर गुलेर और सुकेत के राजा भी दिल्ली में मुगल कारावास में डाले गये। सन् १६३४ में जगतसिंह को बगाश (बिलोचिस्तान) का फौजदार नियुक्त किया गया। उसका पुत्र रूपराजसिंह *कोट-कागड़ा* का फौजदार

बन गया जिसके अधीन पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के सभी हिन्दू राजा माने जाते थे और जिसको इन राजाओं से वार्षिक कर वसूल करने का अधिकार था। यह कर चार लाख रुपये था परन्तु रूपराजसिंह गुप्तरूप से मुगल सत्ता के विरुद्ध षडयन्त्र रच रहा था। यह काम वह जगतसिंह के सकेत पर ही कर रहा था। जब सम्राट् को रूपराजसिंह की साम्राज्य विरोधी गति विधियो का पता लगा, तो जगतसिंह ने हस्तक्षेप किया और सम्राट् से आग्रह किया कि उसे कोट-कागडा का फौजदार नियुक्त किया जाय। जगतसिंह को ऐसा आत्म-विश्वास था कि कागडा क्षेत्र का फौजदार बनने पर वह साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने मे सफल होगा। जगतसिंह के असन्तोष का कारण यह भी था कि उसने अपने जीवन के आरम्भिक समय से बडी निष्ठा और ईमानदारी से मुगल साम्राज्य की सेवा की थी, परन्तु कुछ समय से उसकी सेवाओ के अनुरूप उसका सम्मान नहीं हो रहा था। अपने प्रति उसने सम्राट् की उदासीनता और उपेक्षा-वृत्ति का अनुभव किया। फलत कागडा का फौजदार नियुक्त होने पर उसने विद्रोह का झण्डा खडा कर दिया।

नूरपुर के राजा जगतसिंह का विद्रोह और उसका अन्त—

मुगल-सेना ने नूरपुर को घेर लिया। राजा जगतसिंह ने पहले मनकोट और बाद में तारागढ नाम के किला में शरण ली पर वहा भी मुगल-सेना ने उसका पीछा किया और घमासान लडाई के बाद उसको मुगल-सेना के सम्मुख आत्म-समर्पण करना पडा। यह घटना सन् १६४२ की है। शाहजहा ने जगतसिंह की पुरानी सेवाओ को ध्यान में रखते हुये, उसको क्षमा-दान दिया और पुन उसको कागडे का फौजदार नियुक्त किया। सन् १६४३ में सम्राट् ने जगतसिंह को बदक्शा की ओर सैन्य-अभियान पर भेजा। वहा उजबेक जाति ने मुगलो के विरुद्ध बगावत कर दी थी। चौदह सौ वीर राजपूतों की सेना को लेकर जगतसिंह ने बडी विकट परिस्थितियो में इस हिमाच्छादित क्षेत्र में वीरता से विद्रोहियो का दमन किया। इस अभियान में अथक परिश्रम और अदम्य वीरता प्रदर्शित करने से उसका स्वास्थ्य गिर गया और पेशावर पहुचने पर जगतसिंह का सन् १६४३ में निधन हो गया। नूरपुर राज्य के इतिहास में जगतसिंह का नाम इसलिये प्रसिद्ध है कि वह अपने समय की परम्परा के अनुरूप एक वीर सैनिक और साहसी विजेता था। इन्ही गुणो के कारण उसको मुगल-दरबार में विशेप प्रतिष्ठा मिली। किसी अन्य श्लाघ्य मानवीय गुण या आदर्श का उसके जीवन से आभास नही मिलता है। वह अन्य पहाडी राज्यो के लिये आतक का स्रोत था। कइयो का उसने दमन किया और कुछ को राज्य विहीन। सन् १६५८ में जब औरगजेब ने सत्ता सम्भाली तो उस समय जगतसिंह का पुत्र रूपराजसिंह नूरपुर राज्य का शासक था। उत्तराधिकार के सघर्ष में रूपराजसिंह ने औरगजेब का साथ दिया प्रतीत होता है। दाराशिकोह आगरा की लडाई में परास्त होकर पजाब की ओर चला गया था। औरगजेब की सेना ने वहा भी उसका पीछा किया। उधर दाराशिकोह का पुत्र सुलेमान शिकोह गढवाल राज्य की

राजधानी श्रीनगर में था। इन दोनो के मध्य सम्पर्क को रोकने के लिये सिरमौर और नूरपुर के राजाओं एव कागडा के फौजदार को औरगजेब ने आदेश दिये थे। सम्भवत रूपराजसिह ने सुलेमान शिकोह को पकडने के लिये गढवाल राज्य की ओर सैन्य अभियान में भाग लिया था। कागडे का फौजदार नजवतखा इस अभियान में मुख्य सेनापति था। दाराशिकोह और सुलेमान शिकोह दोनो को पकड लिया गया था। दाराशिकोह को दिल्ली में अपमानित करके औरगजेब ने कत्ल करवा दिया था और सुलेमान शिकोह को ग्वालियर के किले में बन्दी बनाकर रखा गया था जहा विष-प्रयोग से कुछ वर्षों में इसकी मृत्यु हुई।

पश्चिमी हिमालय क्षेत्र मे अफगान-सत्ता—

सन् १७०७ में औरगजेब की मृत्यु हुई और इसके साथ ही मुगल-सत्ता का ह्रास आरम्भ हुआ। पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के पहाडी राज्य भी स्वतन्त्र हो गये। परन्तु कुछ वर्षों के बाद पजाब पर काबुल के अमीर अहमदशाह दुरानी का अधिकार हो गया। फलत सन् १७५२ से पर्वतीय क्षेत्र के अधिकाश राजे जिनमें नूरपुर और कागडा क्षेत्र के शासक भी सम्मिलित थे, दुरानी शासन के अधीन आ गये। अहमदशाह दुरानी ने यह उत्तराधिकार तलवार के बल से मुगल-सत्ता से प्राप्त किया था। परन्तु काबुल के अमीर की शासन-अवधि भी अल्पकालिक ही रही। सन् १७६१ में मरहठों और अहमदशाह के मध्य पानीपत का तीसरा युद्ध हुआ। इसमें यद्यपि अहमदशाह की विजय हुई और मरहठा की अपमानजनक पराजय ही नही अपितु मरहठा-सगठन और सत्ता पर विनाशकारी कुठाराघात हुआ। इस पराजय के बाद मरहठा शक्ति पुन एक प्रबल सत्ता के रूप में सगठित न हो सकी। उधर अहमदशाह अब्दाली भी भारत में मुगल-सत्ता का उत्तराधिकारी न बन सका। विजयी होने पर भी उसको भारत छोडकर काबुल जाना पडा। उसके सैनिको ने उसके विरुद्ध विद्रोह किया और उसे वापिस अफगानिस्तान जाने के लिये विवश किया। सन् १७७३ में अहमदशाह की मृत्यु हुई। पजाब, काश्मीर और कागडा समुदाय के राज्यो पर जो नाम मात्र का उसका शासन था, उसकी मृत्यु के साथ ही उसका भी अन्त हुआ।

अराजकता और रणजीतसिंह का उदय—

अठारहवी सदी के उत्तरार्द्ध में पजाब मे लूट-खसूट, अशान्ति, अव्यवस्था और अराजकता व्यापक रूप से फैली। इस अराजकता मे पजाब के सिख राज्यो का उदय हुआ। सूकर चकिया मिसल के मुखिया रणजीतसिह ने अपने बाहुबल और बुद्धि-कौशल से शक्ति-सचय किया और एक सुदृढ राज्य की नींव डाली। अपने राज्य-काल के आरम्भिक वर्षों में ही रणजीतसिह ने समस्त पजाब पर अधिकार कर लिया और चिनाव एव सतलुज नदियों के बीच का पहाडी क्षेत्र भी रणजीतसिह के अधीन हो गया। सन् १७८३ में एक अग्रेज पर्यटक जॉर्जफॉस्टर जो मद्रास की ईस्टइण्डिया कम्पनी की फैक्टरी में अमैनिक कर्मचारी था, श्रीनगर (गढवाल), नाहन, बिलासपुर और नदौण

होता हुआ नूरपुर राज्य में आया। फॉस्टर काश्मीर गया और वहा से अफगानिस्तान के मार्ग से रूस होता हुआ वापिस अपने देश गया था। नूरपुर राज्य का उसने अपने यात्रा-विवरण में उल्लेख किया है। उसके अनुसार नूरपुर उस समय शान्ति-सम्पन्न समृद्धिशाली राज्य था। प्रजा अपने राज्य की शासन व्यवस्था से सन्तुष्ट और सुखी थी। सन् १८०६ में नगरकोट कागडा का किला रणजीतसिंह के अधिकार में चला गया और इसके साथ ही त्रिगर्त समुदाय के सभी ग्यारह राज्य भी रणजीतसिंह के अधीन हो गये। इनमें नूरपुर राज्य भी सम्मिलित था। राजा वीरसिंह उस समय नूरपुर राज्य का शासक था। यह बहुत स्वाभिमानी और साहसी व्यक्ति था। सन् १८१५ में रणजीतसिंह ने पजाब के बडे-बडे सरदारो और पहाडी राजाओ के लिये स्यालकोट में एक बडे दरबार का आयोजन किया। कागडा समुदाय के नूरपुर और जसवा के राजा इसमें हाजिर नही हुये। रणजीतसिंह ने उन पर भारी जुर्माना किया और उनके राज्य सीधे अपने अधिकार में ले लिए। दोनो राजाओ को जीवन निर्वाह के लिये जागीरें प्रदान की। जसवा के राजा ने तो जागीर स्वीकार करके सतोष कर लिया, परन्तु वीरसिंह ने जागीर लेने से इनकार कर दिया। उसने चम्बा में जाकर एक सेना एकत्र की और सिख-सेना पर आक्रमण कर दिया। सिख सेना ने उसको पराजित किया, पर वीरसिंह अपने प्राण बचाकर सतलुज के पार अंग्रेजी इलाके में भाग गया जहा वह दस वर्ष तक प्रवास में रहा। इस अवधि के उपरान्त वेष बदल कर वह फिर नूरपुर पहुचा। परन्तु जब सिख सेना को नूरपुर में वीरसिंह की उपस्थिति का ज्ञान हुआ, तो वह वहा से भाग कर चम्बा चला गया। वीरसिंह को चम्बा राज्य में पकड लिया गया और वह सात वर्ष तक अमृतसर के निकट गोविन्दगढ के किले में महाराजा रणजीतसिंह का बन्दी रहा। राजा वीरसिंह चम्बा के राजा का बहनोई था। उसने रणजीतसिंह को पिचासी हजार रुपये वीरसिंह को छुड़ाने के लिये फिरौती के रूप में दिये। वीरसिंह ने अपना जीवन के शेष वर्ष चम्बा में बिताये। रणजीतसिंह ने जम्मू के राजा ध्यानसिंह के द्वारा एक बार फिर उसको जागीर देनी चाही। राजा ध्यानसिंह की यह प्रबल इच्छा थी कि वीरसिंह एक बार उसका 'जै देव' कहकर अभिवादन करे तो वह वीरसिंह को जागीर प्रदान करे, पर राजा वीरसिंह अपने आपको उच्च वश का मानता था और ध्यानसिंह को अपने से निम्न स्तर का समझता था। अत उसको 'जै देव' कह कर अभिवादन करना वीरसिंह को अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध लगा। स्वाभिमानी वीरसिंह ने ऐसी जागीर को लात मारना अपनी मान मर्यादा के अनुरूप समझा। सन् १८४५-४६ में सिखो और अंग्रेजो के मध्य पहला युद्ध हुआ। इसमें सिखो की पराजय हुई। वीरसिंह ऐसे सुअवसर की उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहा था। उसने चम्बा से नूरपुर की ओर कूच किया, परन्तु जब वह नूरपुर नगर की प्राकार के पास पहुचा तो उसका प्राणान्त हो गया। वीरसिंह का अधिकाश जीवन दुःख, विपन्नता और सघर्ष में बीता। सिख राज्य के विरुद्ध उसके मन में बहुत आक्रोश और प्रतिशोध के भाव थे। विजने नामक युरोपियन पर्यटक ने, जो वीरसिंह को सन् १८३८ में चम्बा में मिला था, इसका उल्लेख अपने यात्रा विवरण में किया है।

कांगड़ा समुदाय के राज्यों का अंग्रेजी राज्य में विलय—

सन् १८४६ के सिख युद्ध के बाद ये राज्य अंग्रेजी राज्य में मिला लिए गए। इस प्रकार नूरपुर सहित सारा कांगड़ा क्षेत्र अंग्रेजी राज्य का भाग बन गया। राजा वीरसिंह अपने पीछे एक नाबालिग पुत्र को छोड़ गया था। उसका नाम जसवन्तसिंह था। वीरसिंह के वज़ीर रामसिंह पठानिया ने जसवन्तसिंह को नूरपुर का राजा घोषित किया। उसने शाहपुर कण्डी के किले पर अधिकार कर लिया। यह स्थान रावी के बायें किनारे पर नूरपुर के निकट पुराने व्यापारिक मार्ग पर स्थित है। अंग्रेजों ने रणजीतसिंह द्वारा पदच्युत कांगड़ा क्षेत्र के किसी भी राजा को राज्याधिकार नहीं दिया, रणजीतसिंह ने अधिकांश राजाओं के राज्य छीनकर उनको जीवन निर्वाह के लिये जागीरें दी थी। इनमें चम्बा, मण्डी और सुकेत राज्य अपवाद थे। जयसिंह पठानिया द्वारा जसवन्तसिंह को नूरपुर का राजा घोषित करना अंग्रेज सरकार की नीति के विरुद्ध था, यह एक प्रकार का विद्रोह था। जब अंग्रेजों को इसका पता चला तो उन्होंने एक फौजी टुकड़ी भेजकर शाहपुर के किले को घेरना चाहा। पर रामसिंह वहां से भाग कर पंजाब में गुजरात की ओर चला गया। वहां सिख सेना ने उसको आश्रय दिया और फिर तीन वर्ष बाद सिख सेना की सहायता से उसने शाहपुर के निकट अंग्रेजी सेना का मुकाबला किया। इस लड़ाई में दोनों पक्षों के बीच भारी मुकाबला हुआ। एक अंग्रेज उच्च अधिकारी भी मारा गया। रामसिंह पठानिया ने कांगड़े में एक ब्राह्मण के घर में शरण ली, परन्तु ब्राह्मण ने धन के लोभ में रामसिंह को अंग्रेजों के हवाले किया। अंग्रेजों ने उसको भारत से दूर सिंगापुर में बन्दी बनाकर भेजा जहां इसके जीवन का अन्त हुआ। वज़ीर रामसिंह पठानिया की वीरता और राज-भक्ति की गाथाएं कांगड़ा के लोक-गीतों में अभी तक अक्षुण्ण हैं।

मण्डी और सुकेत राज्य—

मण्डी, सुकेत, क्योंथल और किश्तवाड़ (काश्मीर का एक भाग) राज्यों के संस्थापक बंगाल के सेन वंश से सम्बद्ध थे। परम्परा के अनुसार वीरसेन, गिरिसेन और हमीरसेन नाम के तीन राजकुमार बंगाल से चल कर पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में आये, वीरसेन ने सुकेत राज्य, गिरिसेन ने क्योंथल और हमीरसेन ने किश्तवाड़ राज्य की स्थापना की। कनिंघम के अनुसार यह घटना आठवीं सदी के उत्तरार्द्ध की है। मण्डी राज्य की स्थापना बारहवीं सदी में सुकेत-राजवंश के राजकुमार ने की। सेन वंश का मूल राज्य सुकेत था। मण्डी राज्य की स्थापना सुकेत से लगभग चार सदी बाद हुई थी। जिस प्राचीन युग में सुकेत राज्य का उदय हुआ, वह प्रधानतः ठकुराइयों का युग था। वीरसेन ने सबसे पहले सतलुज के दाहिने किनारे पर पांगना में अपना केन्द्र बनाया और वहां से उसने दर्जनों ठकुराइयों को परास्त किया और इस अभियान में वह व्यास नदी के बायें तट के क्षेत्र तक पहुंच गया। इस प्रकार वीरसेन का राज्य दक्षिण में सतलुज से लेकर उत्तर में व्यास नदी तक फैल गया। दसवीं सदी के लगभग विजय सेन के राज्य-काल

में सेन राज-परिवार के दो भाग हो गये। विजयसेन के दो पुत्र थे—साहुसेन और बाहुसेन। दोनों में पारस्परिक सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। अत छोटा भाई बाहुसेन परिवार से अलग होकर कुल्लू क्षेत्र में मगलूर नामक स्थान पर जाकर बस गया और वहां उसने एक छोटा-सा राज्य स्थापित किया। बाहुसेन से बारहवीं पीढ़ी पर बाणसेन के समय में मण्डी राज्य की स्थापना हुई। बाणसेन के पिता कर्णसेन ने कुल्लू की कई ठकुराइयों को जीता। इस अभियान में उसको कुल्लू की सेना का मुकाबला करना पड़ा और वह युद्ध



जनरल बटूरा

में मारा गया। उसकी रानी मण्डी के निकट शिवकोट के ठाकुर की लड़की थी। कहते हैं, वह गर्भवती थी। राजा के मरने पर वह नि सहाय अवस्था में इधर-उधर भटकती रही। कहते हैं कि बान के पेड़ के नीचे उसने पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम बाणसेन रखा गया। शिवकोट के राणा के भृत्यों ने रानी को अपने पिता के घर पहुंचाया। राजा का कोई पुत्र नहीं था। अत बाणसेन उसका उत्तराधिकारी बना। इसके वंशधर अजबसेन ने सन् १५०० के लगभग मण्डी नगर की स्थापना की। उसने अपने बाहुबल से सुकेत का बहुत-सा भाग छीन कर अपने राज्य में मिलाया। अजबसेन ने भूतनाथ और उसकी रानी ने त्रिलोकी नाथ के मन्दिर का निर्माण कराया। सन् १६३७ में मण्डी के

राजाओं द्वारा निर्मित सती स्तम्भ पाये जाते हैं। इन स्तम्भों को स्थानीय भाषा में 'बरसेला' कहते हैं। ये स्तम्भ राजा के मरने पर स्थापित किये जाते थे। सबसे पहला सती-स्तम्भ राजा हरिसेन के समय का है। पुराने समय में नेपाल से पश्चिमी हिमालय क्षेत्र तक यहां के निवासियों में मृतात्मा के नाम पर पहाड़ा के ऊपर अथवा अन्यत्र चबूतरा जैसा बनाने का रिवाज था। कालान्तर में यह प्रथा केवल एक पत्थर स्थापित करने तक शेष रह गई। गढ़वाल कुमाऊं और नेपाल में दिवंगत आत्मा के नाम पर पत्थर स्थापित करने की प्रथा अभी तक प्रचलित है। कुल्लू मण्डी और बिलासपुर आदि राज्यों में राजाओं के मरने पर पत्थर की शिला को तराश कर उसको स्थापित करने का रिवाज था। इस शिला पर राजा और उसके साथ सती होने वाली रानियां और दासियों के चित्र भी उत्कीर्ण किये जाते थे। इनको सती-स्तम्भ या 'बरसेला' कहते थे। मण्डी में स्थित सती-स्तम्भों का विशेषरूप से अध्ययन किया गया है।

मण्डी में संसारचन्द और रणजीतसिंह का आतंक—

राजा हरिसेन ने सन् १६२५-३० में मण्डी के सुप्रसिद्ध कमलाहगढ़ किले का निर्माण कराया। मण्डी के निकट सिकन्दरा धार पर छः सुदृढ़ किले थे। इनके नाम थे, कमलाहगढ़, चौकी, चवर, पद्मपुर, शमशेरपुर और नरसिंहपुर। बहुत प्राचीन काल में मण्डी राज्य में ३६० किले थे। वह सम्भवतः ठकुराइयों का युग था। राजा सूरजसेन से ईश्वरी सेन के राज्य काल तक कमलाहगढ़ मण्डी की बहुमूल्य सम्पत्ति का कोषागार रहा। इस किले की सुदृढ़ता पर मण्डी राज्य की स्वतन्त्रता निर्भर करती थी। अट्ठारहवीं सदी के अंतिम भाग में कांगड़ा में राजा संसारचन्द का अभ्युदय हुआ। उसका आतंक इस क्षेत्र के सभी राजाओं पर छाया। उस युग की यह अद्भुत परम्परा थी कि राजा या सामन्त दूसरे के इलाके को जीतने के साथ-साथ वहां के शासक और जनता दोनों को लूटते थे। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी का पूर्वार्द्ध, लूट-खसूट, अरक्षा और अव्यवस्था के लिये, विशेषतः उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में, भारत के इतिहास में कुख्यात था। सन् १७९२ के लगभग संसारचन्द ने मण्डी पर आक्रमण किया और मण्डी नगर को लूटा। सुकेत के राजा ने आत्म-समर्पण किया और संसारचन्द के प्रति निष्ठा का वचन दिया। मण्डी का कुछ भाग सुकेत को दिया गया और अनन्तपुर का इलाका संसारचन्द ने अपने अधिकार में ले लिया। मण्डी के तत्कालीन राजा ईश्वरीसेन को सुजानपुर टीरा में बन्दी बनाकर रखा गया जहां उसने अपने आरम्भिक जीवन के बारह वर्ष विताये। सन् १८०५ में गोरखा सेनापति अमरसिंह थापा ने उसको इस कारावास से मुक्त किया। ईश्वरीसेन की अनुपस्थिति में खानदानी वजीर शासन को चलाते रहे। संसारचन्द मण्डी से एक लाख वार्षिक नजराने के लेता था। सन् १८०९ में कांगड़ा समुदाय के सभी राज्य रणजीत सिंह के अधीन हो गये। आरम्भ में मण्डी तीस हजार रुपया वार्षिक कर लाहौर दरबार को देता था, परन्तु १८१६ में यह एक लाख कर दिया गया। लाहौर दरबार की ओर से जो अधिकारी यहां कर वसूल करने आते थे, वे अपने ढंग से राज्य का शासन करते थे और

कुछ अधिकारी जो स्थायी रूप से दरबार की ओर से मण्डी में रहते थे, उनका दब-दबाव और समय-समय पर धन की माग राज्य के शोषण का अप्रतिहत साधन था। १८३६ में महाराजा रणजीतसिंह की मृत्यु हुई और उसके अगले वर्ष फ्रांस-निवासी रणजीतसिंह के सेनापति वटूरा ने एक फौजी टुकडी लेकर मण्डी से सात मील पीछे पहुच कर, राजा बलवीरसेन से कर की बकाया राशि मागी। यह राशि तत्काल चुकाई गई। बलवीरसेन इतना भयभीत हुआ कि उसने गुप्त रूप से सपाटू में स्थित अंग्रेज अधिकारी से शरण की याचना की। परन्तु इससे पहले ही जरनल वटूरा ने राजा को बंद कर लिया और अमृतसर के निकट गोविन्दगढ के किले में बन्द कर दिया। सन् १८४१ में महाराजा शेरसिंह ने बलवीरसेन को कारागार से मुक्त करके मण्डी वापिस भेजा। उन दिनों लाहौर दरबार की ओर से शेख गुलाम महीउद्दीन मण्डी का नाजिम था। उसने मण्डी राज्य की आय चार लाख निर्धारित की जिसमें से तीन लाख रुपया लाहौर दरबार का कर था और शेष एक लाख राजा और मण्डी के प्रबन्धन के लिये। १८४६ में सिखों और अंग्रेजो के मध्य पहला युद्ध हुआ। मण्डी राज्य ने ३०० सिपाही सिखो की ओर से युद्ध में भाग लेने के लिये भेजे थे परन्तु मण्डी और सुकेत के राजा गुप्त रूप से शिमला में स्थित अंग्रेज अधिकारियो से बातचीत कर रहे थे। उनकी इर्सकाइन नाम के अंग्रेज अधिकारी से मुलाकात बिलासपुर मे हुई। तत्पश्चात राजा बलवीरसेन ने मण्डी में स्थित सिख सेना पर आक्रमण किया और सारे किलो पर अधिकार कर लिया। लडाई की समाप्ति पर मण्डी और सुकेत समेत रावी और सतलुज के बीच स्थित सभी पहाडी राज्य अंग्रेज साम्राज्य के अंग बन गये। अंग्रेजो ने राजा मण्डी से जो सन्धि की उसमें और बातो के अलावा दो शर्ते ये भी थी कि आगे से मण्डी में न गुलामी और न ही सती प्रथा रहेगी। कन्या-वध व कोढ़िया को जिन्दा जलाने व बहाने की प्रथा भी कानून विरुद्ध मानी गई। पहले ये अमानवीय और घृणित प्रथाए प्रचलित होंगी।

चम्बा राज्य—

पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में चम्बा बहुत प्राचीन राज्य माना जाता है, छठी शताब्दी के लगभग इसकी स्थापना मानी जाती है। इस राज्य का मूल केन्द्र पहाडों के अन्दर भरमौर था। ह्वीनसाग द्वारा वर्णित ब्रह्मपुर भरमौर था, ऐसा कुछ लोग मानते हैं, परन्तु ऐसी धारणा ऐतिहासिक प्रमाणो पर आधारित प्रतीत नही होती है। ऐसा विश्वास करना कि ह्वीनसाग भरमौर आया हो, उसके ब्रह्मपुर के वर्णन से स्पष्ट नहीं होता है। कुछ भी हो, इतना तो निर्विवाद है कि भरमौर बहुत प्राचीन काल के एक सुसस्कृत राज्य का केन्द्र था। आज भी वहा के मन्दिरो से प्राप्त कला-कृतिया उस प्राचीन राज्य के वैभव का आभास देती हैं। विशाल पर्वत मालाओं से घिरे इस छोटे से स्थान में पीतल की इतनी कला-पूर्ण और भावाभिव्यक्ति में प्रभावोत्कारी मूर्तिया देखने वाले को चकित कर देती हैं। भरमौर में तीन मुख्य मन्दिर हैं, दो पाषाण निर्मित है और एक लकडी का बना है। मुख्य मन्दिर मणि महेश (शिव) का है। इसके गर्भ-गृह में शिवलिंग

और इसके चारों ओर पीतल की कई देवताओं की कलापूर्ण मूर्तियां हैं। दूसरा मन्दिर विष्णु के अवतार नरसिंह का है। नरसिंह की पीतल की बनी मूर्ति अत्यन्त कलापूर्ण और भावभंगी में भयावह प्रतीत होती है, यह मूर्ति एक अलंकृत सिंहासन पर आसीन है। दोनों मन्दिरों के मध्य विशालकाय नान्दी की मूर्ति है। यह भी सुडौल और कलापूर्ण है। तीसरा दुर्गा (लक्षणादेवी) का मन्दिर है। यह काष्ट-निर्मित है। इसके गर्भ-गृह में महिषासुर मर्दिनी दुर्गा की मूर्ति है, महिषासुर का वध करती हुई दुर्गा का भयावह रूप मूर्तिकार ने बड़ी सफलता से व्यक्त किया है। ये सब मूर्तियां पीतल की हैं। दुर्गा की मूर्ति के सिंहासन पर यह लेख है —

'आ मोशुनास्य गोत्रादित्य वंशसभूत
श्री आदित्य वर्म देव प्रपौत्र श्री बाल वर्म देव पौत्र '

। श्री दिवाकर वर्म देव पुत्रेण श्री मेरू वर्मणा आत्म पुण्याय वृद्धय लक्षणा देवी अर्चया क कारायित्ता कर्मणा गुगेन। (श्री सूर्य वंश सम्भूत मोशुनस्य गोत्र में उत्पन्न, आदित्य वर्मदेव के परपौत्र, श्री बाल वर्मदेव के पौत्र और दिवाकर वर्मदेव के पुत्र मेरू वर्मा ने अपनी पुण्य-वृद्धि के हेतु लक्षणा देवी की अर्चना के लिये निर्माण कराया। मूर्तिकार गुग नाम का था।) अन्यत्र भी मूर्ति के उपासन पर उत्कीर्ण लेख में गुग मूर्तिकार का ही नाम आता है। ये मूर्तियां मेरू वर्मा के राज्य-काल में गुग ने निर्मित की थी।

हिन्दू शाही शासक और चम्बा राज्य—

कल्हण कृत राजतरंगिणी में चम्बा का उल्लेख आता है। बहुत प्राचीन काल में काश्मीर एक शक्ति-सम्पन्न राज्य था। कई छोटे छोटे राज्य और ठकुराइयां इस की छत्र छाया में थी। चम्बा राज्य भी सदियों तक काश्मीर के अधीन था। ऐसा प्रतीत होता है कि हीवानसांग के समय चम्बा काश्मीर के अधीन था। उसने चम्बा का अलग से उल्लेख नहीं किया। जैसा कि पहले कहा गया है कि ब्रह्मपुर, भरमौर का पुराना नाम मानना सन्देहास्पद है—बाड़ाहाट (वर्तमान उत्तरकाशी) को ब्रह्मपुर मानना हीवानसांग के वर्णन के अनुसार अधिक समीचीन प्रतीत होता है। हीवानसांग का भारत आगमन, महाराजा हर्षवर्धन का राज्य-काल और अरब में मुस्लिम धर्म का उदय समसामयिकी घटनाएं थीं। अरब विजेताओं के अभ्युदय का भारत के उत्तर-पश्चिम क्षेत्र के तत्कालीन इतिहास से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आठवीं सदी के आरम्भ से ही अरब आक्रान्ताओं का प्रहार सिन्ध, बिलोचिस्तान और अफगानिस्तान पर आरम्भ हो गया था। ईराक के राज्यपाल हजाज ने सिन्ध पर कई आक्रमण किये और अन्त में वह सिन्ध के ब्राह्मण राजा दाहिर का उच्छेद करने में सफल हुआ और कुछ वर्षों के लिये सिन्ध क्षेत्र अरबों के अधिकार में चला गया। काबुल के तुर्कीशाही हिन्दू राजा लगभग दो सदियां तक इनका सफल मुकाबला करते रहे, परन्तु नवीं सदी के अन्तिम चरण में तुर्कीशाही राजवंश के अन्तिम शासक वासुदेव की उसके ब्राह्मण मंत्री कनक या कल्लार ने हत्या करके स्वयं राजगद्दी पर अधिकार कर लिया और अपनी राजधानी काबुल से हटाकर सिन्ध नदी के तट पर

स्थित उद्भान्तपुर या ओहिन्द में हिन्दुशाही नाम से नये राजवंश की स्थापना की। यह राजवश लगभग दो सदियों तक विकट संघर्ष में भी अपने अस्तित्व को जीवित रख सका। इस राजवश का प्रभाव-क्षेत्र समस्त उत्तर-पश्चिमी पर्वतीय भाग, जिसमें स्वात और कुणार उपत्यकाएं सम्मिलित थी और पूर्व में कागडा तक का इलाका इनके राज्य में था या इनके राजनैतिक प्रभाव में था। सम्भवत. चम्बा भी इसी प्रकार उद्भान्तपुर के हिन्दुशाही शासन के प्रभाव क्षेत्र में था। सन् ६७७ में गजनी का शासन सबुक्तगीन के हाथ आया। उस समय उद्भान्तपुर (ओहिन्द) में हिन्दुशाही राजा जयपाल का शासन था। सबुक्तगीन ने काबुल में जयपाल के राज्य का अधिकांश भाग हस्तगत कर लिया और वह लमघन (वर्तमान जलालाबाद) तक पहुच गया। राजा जयपाल उसका मुकाबला करने आगे बढा परन्तु उसको अपमानजनक पराजय का सामना करना पडा। सन् ६६७ में सुलतान की मृत्यु हुई। गजनी का शासन उसके पुत्र महमूद के हाथ आया जो भारत के इतिहास में आक्रमण और लूटमार के लिये कुख्यात है। सन् १००१ में महमूदगजनी ने दूसरी बार जयपाल को पेशावर के निकट पराजित किया। जयपाल ने अपमान से क्षुब्ध होकर जीवित चिता पर जलना उचित समझा। उसके बाद उसका पुत्र आनन्दपाल और पौत्र त्रिलोचनपाल महमूदगजनी के आक्रमणों का सामना करते रहे। सन् १००८ में राजकुमार भीमपाल का पीछा महमूद ने भीमनगर तक किया बताया जाता है। हिन्दुशाही राजाओं ने बराबर निरन्तर इन आक्रमणों का मुकाबला करते रहे। सन् १०२६ में इस वंश के अन्तिम राजा भीमपाल की मृत्यु के बाद यह राजवश समाप्त हो गया। उसके चार वर्ष बाद महमूद की भी मृत्यु हो गई। ऐसा प्रतीत होता है कि इस क्षेत्र के राजा जिसमें काश्मीर भी सम्मिलित है, इन युद्धों में भाग लेते रहे। काश्मीर के राजा क्षेमगुप्त की पत्नी रानी दिद्दा मातुल पक्ष से उद्भान्तपुर के हिन्दुशाही राजा की पौत्री थी। रानी दिद्दा के बाद काश्मीर का शासन उसके चचेरे भाई संग्रामराज के हाथों में गया। संग्रामराज ने इन युद्धों में भाग लिया था या ओहिन्द के राजाओं की सेना भेजकर सहायता दी थी। चम्बा का राजा साहिल वर्मा कदाचित् इन युद्धों में भाग लेने गया था और इन अभियानों के बाद कदाचित् उसने रावी घाटी के निचले भाग को जीता हो। चम्पा या चम्बा नगर के बसने का आख्यान साहिल वर्मा के इस क्षेत्र की विजय से सम्बद्ध है। भरमौर पहाडों के अन्दर विजित क्षेत्र से दूर एक कोने पर पड जाता था। चम्पा नगर की स्थिति रावी घाटी के मध्य क्षेत्र में सामरिक व प्रशासनिक दृष्टि से सुविधाजनक थी। प्रचलित पौराणिक परम्परा के श्लोक में चम्पा नगरकी स्थापना के आख्यान को व्यक्त करने का प्रयास किया गया है —

'विजित्य क्षत्रियान्युद्धे पुरीं 'चम्पा' चकार ह।
पुरेव चम्पकेनानुवृता देव्याभिरक्षिताम्।
चम्पावत्येव महिषादीन हत्वैवं गवनी हते॥'

क्षत्रियों को युद्ध में मार कर चम्पा नगरी को रावी नदी के तट पर स्थापित किया गया। यह पहले से ही चम्पा के वृक्षों से अनवृत एव महिषासुर मर्दिनी चम्पावती

(दुर्गा) के द्वारा अभिरक्षित थी। इस श्लोक में कितना ऐतिहासिक तथ्य है और कितना पारम्परिक कवित्व का चमत्कार, यह इसको पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है। निःसन्देह कविता का चमत्कार अधिक है और ऐतिहासिक महत्व कम।

चम्बा का संक्षिप्त सिंहावलोकन—

चम्बा क्षेत्र का पर्याप्त पुरातात्विक अध्ययन किया गया है। इस राज्य में पुरातत्व ऐतिहासिक महत्व के कई उत्कीर्ण लेख, ताम्र-पत्र, शिला लेख, मन्दिर और मूर्तियां आदि प्राप्त हुई हैं। इनका संग्रह चम्बा के भूरिसिंह संग्रहालय में विद्यमान हैं। जैसे अन्य राज्यों में पुराने जमाने में ठकुराइयों की प्रचुरता थी, चम्बा भी इनका अपवाद नहीं था। इनको ठाकुर, सामन्त, राजन्य, राजुक आदि नामों से जाना जाता था। राजतन्त्र के स्थापित होने पर ये सभी राजा के शासन में आगये। परन्तु इनके आपसी झगड़े और द्वेष भाव किसी न किसी रूप में इनके अस्तित्व काल तक जीवित रहे। पुरातन काल में काश्मीर और त्रिगर्त पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में बड़े राज्य थे। छोटे-छोटे राज्य इन बड़े राज्यों की छत्र छाया में जीवित रह सकते थे। उस युग में चम्बा मुख्यतः काश्मीर के प्रभाव-क्षेत्र में था। बारहवीं सदी के बाद चम्बा स्वतन्त्र हो गया या त्रिगर्त राज्य के प्रभाव में आ गया। तेरहवीं सदी के आरम्भ से ही भारत पर मुसलमानों का अधिकार होने पर एक भयंकर उथल पुथल मच गई। सारे हिमालय क्षेत्र में नेपाल, पश्चिम में काश्मीर तक नई सत्ता और नये राज्यों का उदय हुआ। मुगलों के समय तक पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में बाईस मुस्लिम और बाईस ही हिन्दू राज्यों का उदय हो चुका था। इन बाइस हिन्दू राज्यों में ग्यारह राज्य डूगर (जम्मू) समुदाय में थे और ग्यारह त्रिगर्त समुदाय में। चम्बा त्रिगर्त समुदाय में सम्मिलित था। चम्बा का राजा प्रतापसिंह वर्मा (सन् १५५६) अकबर का समकालीन था। अकबर के शासन के आरम्भ में ही सभी पहाड़ी राज्य मुगल सत्ता के अधीन हो चुके थे। इन राज्यों ने अकबर के समय ही कई बार विद्रोह किया, परन्तु जहांगीर के शासन काल से ये सभी राज्य पूरी तरह मुगल-सत्ता की जकड़ में आ गये और औरंगजेब के शासन के अन्तिम चरण तक पूरी तरह से मुगल इन पर हावी रहे। परन्तु उसके बाद वे धीरे धीरे स्वतन्त्र हो गये। सन् १७५२ में अहमदशाह दुर्रानी पंजाब का शासक बना और इसके साथ ही पहाड़ी राज्य भी इसके अधीन हो गये। परन्तु उसकी सत्ता अल्पकालिक रही। अठारहवीं सदी के अन्तिम चरण में कांगड़े में राजा संसारचन्द का अभ्युदय हुआ और उसके बाद १८०६ में समस्त पश्चिमी पहाड़ी राज्य रणजीतसिंह के अधिकार में आ गये। लगभग सैंतीस वर्ष तक इन राज्यों पर लाहौर दरबार का शासन रहा। रणजीतसिंह ने अपने शासन के आरम्भिक काल में ही कांगड़ा क्षेत्र के सभी राजाओं को जागीर देकर पद च्युत कर दिया था। केवल चम्बा, मण्डी, सुकेत और कुल्लू राज्य बच सके। रणजीतसिंह की मृत्यु के बाद कुल्लू का भी सिक्ख राज्य में विलय किया गया। सन् १८४६ में सिक्खों की प्रथम युद्ध में पराजय के बाद रावी और सतलुज के मध्य का समस्त पहाड़ी क्षेत्र और जालन्धर द्वाब अंग्रेजी

राज्य में मिला लिये गये। अंग्रेजों ने युद्ध के हरजाने के रूप में डेढ़ करोड़ रुपये लाहौर दरबार से मांगे। लाहौर दरबार इतनी बड़ी राशि देने में असमर्थ था। अत: व्यास और सिन्ध नदी के बीच वाला सारा पर्वतीय क्षेत्र अंग्रेजों को एक करोड़ रुपये के बदले में दे दिया गया और शेष राशि का नकद भुगतान किया गया। उसी वर्ष मार्च में अंग्रेजों ने जम्मू के राजा गुलाबसिंह से एक अलग सन्धि करके रावी और सिन्ध के मध्य का पहाड़ी क्षेत्र जिसमें चम्बा, काश्मीर, जम्मू आदि कई राज्य थे ७,५०,००० पौण्ड के बदले गुलाबसिंह को बेच दिया, परन्तु रावी चम्बा राज्य को दो भागों में बांटती है। इस सन्धि के अनुसार चम्बा राज्य की स्थिति विवाद-ग्रस्त हो गई। चम्बा के तत्कालीन वजीर भगा ने लाहौर जाकर सर हैनरी लॉरेंस के सम्मुख चम्बा की ओर से प्रभावशाली पैरवी की और इसके फलस्वरूप सन्धि में संशोधन करके चम्बा राज्य को इस सन्धि से निकाल कर अक्षुण्ण रखा गया। इसके बदले गुलाबसिंह को लखनपुर राज्य दिया गया और चम्बा को भद्रवाह का क्षेत्र छोड़ना पड़ा। सन् १८५३ में धौलाधार के पश्चिमी भाग का कुछ क्षेत्र यहां स्वास्थ्य-केन्द्र स्थापित करने के लिये अंग्रेजों ने चम्बा राज्य से मांगा। इसके बदले वार्षिक कर में चम्बा को २००० रुपये की छूट दी गई। इस स्थान पर डलहौजी नगर की स्थापना की गई। इसी प्रकार वार्षिक कर में ५००० रुपये की कमी के बदले सन् १८६६ में बकलोह का इलाका भी अंग्रेज सरकार को दे दिया गया। यहां फौजी छावनी स्थापित की गई।

७. राजा संसारचन्द का अभ्युदय और पराभव

नादिरशाह द्वारा मुगल सत्ता पर कुठाराघात—

सन् १७०७ मे मुगल सम्राट औरगजेब के मरने पर मुगल-सत्ता का ह्रास अप्रत्याशित गति से हुआ। इसके पतन के बीज औरगजेब ने स्वय बो दिये थे। उसके निधन के १६ वर्षों के अन्दर चार मुगल राजकुमार दिल्ली की गद्दी पर बैठे। सबसे पहले मोजिम बहादुरशाह प्रथम के नाम से गद्दी पर बैठा। वह बहुत वृद्ध और सर्वथा शक्ति और बुद्धि-हीन था। पाच वर्ष के बाद उसकी मृत्यु हो गई। उसके पश्चात् उत्तराधिकार के लिये रक्त-पात आरम्भ हुआ और यह क्रम १७१९ तक चलता रहा, इस संघर्ष मे कई राजकुमार निर्मम हत्या से मौत के घाट उतारे गये। सन् १७१९ मे औरगजेब का पौत्र मुहम्मदशाह के नाम से गद्दी पर बैठा। यह इतिहास में मुहम्मदशाह रगीला के नाम से प्रसिद्ध है। इसके राज्य-काल की अवधि अपेक्षाकृत अधिक रही—सन् १७१९ से १७४८ तक। परन्तु इसी अवधि मे साम्राज्य को छिन्न-भिन्न करने वाली शक्तिया पनप रही थी, सूबो के राज्यपाल स्वतत्र हो रहे थे। दक्षिण मे मरहठो की शक्ति बढ़ रही थी और पजाब मे सिख लूट-मार कर रहे थे। चारो ओर अशान्ति और अव्यवस्था का वातावरण फैला हुआ था। सन् १७३६ मे फारस के नादिरशाह के आक्रमण ने रही-सही कसर पूरी कर दी। मुहम्मदशाह ने हिम्मत बाध कर करनाल के निकट नादिरशाह को रोकने का प्रयास किया परन्तु ईरानी सेना के सामने उसकी सेना दो घण्टे से अधिक न टिक सकी और इस अल्प अवधि मे ही उसके बीस हजार सैनिको के शव युद्धभूमि मे बिखर गये। इस विनाश के बाद दिल्ली सम्राट ने विजयी नादिरशाह के साथ दिल्ली में प्रवेश किया और मुहम्मदशाह ने महल मे अतुल धन-राशि उसके समाने पेश की। दिल्ली-वासियो के दुर्भाग्य से शहर मे यह झूठी खबर फैल गई कि नादिरशाह की मृत्यु हो गई है। दिल्ली-वासियो ने उल्लास के उन्माद मे ईरानियो को मौत के घाट उतारना शुरू किया। कई सौ ईरानियों की दिल्ली की सडको और गलिया मे हत्या की गई। इसका परिणाम भयावह हुआ। नादिरशाह ने दिल्ली के मध्य रोशन उद्दौला की सुनहरी मस्जिद मे अपना स्थान ग्रहण किया और अपनी सेना को दिल्ली मे कत्ले-आम का हुक्म दिया। ईरानी सैनिक नौ घटे तक दिल्ली-वासियो की निर्मम हत्या करते रहे। दिल्ली के घरो, गलियो और सडको पर रक्त की नदिया बह गईं, अनगिनत लाशें बिखर गईं। दिल्ली लोहू-लुहान काप रही थी। हाहाकार और चीख पुकार की दु खद ध्वनि वायुमण्डल मे गूज रही थी। पर ईरानी

आक्रान्ता के प्रतिशोध की ज्वाला शान्त नही हो रही थी। मुहम्मदशाह उस जन-संहार से क्षुब्ध हाथ जोड कर नादिरशाह से अनुनय-विनय कर रहा था परन्तु उसकी पैशाची रक्त-पिपासा शान्त नही हो रही थी। नौ घंटे के नर-संहार के बाद उसने कत्लेआम बन्द करने की आज्ञा दी। दिल्ली ने अपने लम्बे इतिहास मे कई प्रहार सहे, कई बार धन-जन की हानि के कारण दृश्य देखे परन्तु यह नर-संहार अपने ढंग का था। इसके बाद



राजा समार

कई दिनों तक ईरानी सैनिकों ने विधिवत् दिल्ली को लूटा। लोग पहले ही आतंकित थे, बचे खुचे लोगों ने घरबार जो किसी के पास था, उसे सैनिकों के सम्मुख रख दिया। सन् १३९८ में तैमूर ने दिल्ली को पांच दिन तक लूटा था, तब भी दिल्ली नग्न कर दी गई

थी। लेकिन इसके बाद लगभग तीन सौ वर्ष तक कोई बड़ी लूट-खसूट नहीं हुई थी। तीन सौ से अधिक वर्षों की संचित दौलत दिल्ली के अमीर, गरीब, नवाब, सामन्त, सबको नादिरशाह को अर्पण करनी पड़ी। तैमूर तो केवल पांच दिन दिल्ली में रहा था परन्तु नादिरशाह पूरे ५८ दिन दिल्ली में रहा। दिल्ली के शाही खजाने में और दिल्ली-वासियों की तिजोरियों में जो संचित धन, सोना-चांदी, हीरे-मोती, मणि-माणिक्य थे, सब नादिरशाह ले गया। अनुमान है कि इस लूट का मूल्य मुगल साम्राज्य की तीन वर्ष की आय के बराबर था। शाहजहां का मूल्यवान् तख्तेताऊस और कोहेनूर हीरा इसके अलावा थे।

अहमदशाह दुर्रानी—

अभी नादिरशाह की लूट को नौ वर्ष ही हुए थे कि अफगानिस्तान की ओर से एक और आक्रान्ता पंजाब में उतर आया। यह अहमदशाह दुर्रानी था। अहमदशाह नादिरशाह का शस्त्र-वाहक था और कहते हैं कि नादिरशाह के साथ सन् १७३६ में वह दिल्ली आया था। नादिरशाह के मरने के बाद उसने काबुल पर अधिकार किया और एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। सन् १७४८ में मुहम्मदशाह की मृत्यु से एक महीना पहले, उसने पंजाब पर आक्रमण किया। सरहिन्द के पास मुगल सेना ने नाम मात्र के लिये उसका मुकाबला किया। पंजाब पर उसका अधिकार हो गया। अगले वर्ष दुर्रानी फिर पंजाब होता हुआ दिल्ली पहुंचा। तब दिल्ली का सम्राट् उसी का नाम राशि अहमदशाह था। उससे दुर्रानी ने पंजाब पर अपना अधिकार विधिवत् स्वीकार करवाया। इस प्रकार सन् १७५२ में पंजाब, काश्मीर और पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के सभी राज्य अफगानिस्तान के शासक के अधीन हो गये। परन्तु दुर्रानी का अधिकार नाम मात्र का था। उसका ध्येय भी देश पर शासन करने का नहीं, वरन् लूट-खसूट करने का ही रहा। उसने पांच बार भारत पर आक्रमण किये और सदा ही लूट-खसूट करके गर्मियों में काबुल चला जाता था। अठारहवीं सदी मुख्यतः लूट-पाट का जमाना था और दुर्रानी भी युग-धर्म के अनुसार ऐसा ही करता रहा। पंजाब में प्रचलित यह कहावत कि "जे खादा-पीता ओह अपणा ते बाकी अहमदशाह दा" उस युग की अव्यवस्था और अरक्षा की ओर संकेत करती है। उसी युग में सिखों के जत्थे भी यही काम करते थे। उनके लूट-पाट का क्षेत्र यमुना से लेकर झेलम-तट तक था, कभी-कभी यमुना पार करके वे दून क्षेत्र तक भी पहुंच जाते थे। उधर दिल्ली की गद्दी पर बैठे अहमदशाह को केवल छः वर्ष ही हुए थे कि उसके वजीर गाजीउद्दीन ने सन् १७५४ में उसकी आंखें निकलवा कर उसको गद्दी से अलग कर दिया और उसके स्थान पर औरंगजेब के परपौत्र और जहांदारा शाह के पुत्र को अलमगीर द्वितीय के नाम से गद्दी पर बिठाया, पर पांच वर्ष बाद उसको भी कत्ल कर दिया गया। सन् १७६१ में अहमदशाह ने पांचवी बार भारत पर आक्रमण किया। तब उसको मुगल-सत्ता के स्थान पर मरहठों का सामना करना पड़ा। यह मुकाबला पानीपत की तीसरी लड़ाई के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है। इसके परिणाम में मरहठा-शक्ति

छिन्न भिन्न हो गई और दिल्ली पर अहमदशाह दुरानी का अधिकार हो गया परन्तु शाही खजाना बिल्कुल खाली था। दुरानी के सैनिकों को दो वर्ष से वेतन नहीं मिला था। दिल्ली के खजाने में इतना भी धन नहीं था कि दुरानी अपने सैनिकों को वेतन देकर सन्तुष्ट कर पाता। व विद्रोह करने पर उतारू हो गय। विवश होकर दुरानी को अफ़गानिस्तान की राह पकड़नी पड़ी। दिल्ली में उसने अफगान रोहिला सरदार नजीबउद्दौला को वजीर नियुक्त किया जिसने सन् १७६१ से १७७० तक दिल्ली पर शासन किया। वह नाम के लिये तो अहमदशाह दुरानी और दिल्ली सम्राट् शाह आलम, दोनों का वजीर था।

शाहआलम अंग्रेजों के कुचक्र में—

शाहआलम का राज्यारोह सन् १७५९ में उसकी अनुपस्थिति में ही हुआ था। वह बिहार में अपने भाग्य का निर्णय देख रहा था जहां बंगाल और बिहार के अयोग्य नवाब अंग्रेजों के कुचक्र में फंसे उनके हाथ बंगाल और बिहार की जिमींदारी बेच रहे थे। शाहआलम विधि के अनुसार दिल्ली का सम्राट था, पर था दिल्ली से दूर बिहार म। उधार लिये हुये सैनिकों के बलबूते पर वह अपने भाग्य और साम्राज्य का निर्णय करना चाहता था। क्लाइव के दाव-पेच में वह भी बाजी लगाता रहा, परन्तु अन्त म उसको बंगाल और बिहार की जिमींदारी अंग्रेजों को देनी पड़ी और उसको इलाहाबाद और कांगा की कारदारी मिली। सन् १७७२ के बाद सम्राट् ईस्ट इण्डिया कम्पनी का पेंशन भोगी जैसा बन गया। अवध में अंग्रेजी फौज रखी गई जिसका खर्च अवध के नवाब को वहन करना पड़ता था। यह सेना नवाब के सूबे की आक्रान्ताओं से रक्षा करने के लिये रखी गई थी। यह सब कुछ करने के बाद शाहआलम अपने लम्बे प्रवास के बाद सन् १७७२ में दिल्ली चला आया। तब से सन् १७८२ तक ईरानी सरदार मिरजा नजफखान सम्राट् का प्रधान मंत्री (वकीले मुतलक) रहा। इसने बड़ी योग्यता से शासन चलाया। परन्तु अराजकता और अव्यवस्था चारों ओर फिर भी रही। रोहेले गुलामकादिर के नेतृत्व में धून और शिवालिक क्षेत्र में लूटमार कर रहे थे। उसने बिलासपुर और सिरमौर म भी लूट मचाई। क्यारदादून में कटासन के निकट सिरमौर की सेना ने इसका मुकाबला किया और उसको परास्त किया। सिरमौर के राजा जगत प्रकाश ने इस विजय के उपलक्ष्य में कटासन म देवी के मंदिर की स्थापना की जो अभी तक विद्यमान है। गुलामकादिर निजामुदौला का पौत्र था, जिसको अहमदशाह दुरानी ने दिल्ली में अपना प्रधान मंत्री (वकीले मुतलक) नियुक्त किया था। गुलाम कादिर ने सन् १७८५ में दिल्ली पर आक्रमण किया। जब उसको दिल्ली में शाही खजाने में कुछ न मिला तो वह बौखला उठा और क्रोध व पागलपन में उसने मुगल सम्राट् शाहआलम की आंखें निकलवा दीं। उस समय महदाजी सिंधिया मुगल सम्राट का प्रधान मंत्री था। उसकी अनुपस्थिति में उसने यह जघन्य कार्य किया। महदाजी सिंधिया ने गुलाम कादिर को पकड़कर मृत्यु-दण्ड दिया। अन्धा शाह आलम नाम मात्र के लिये अपने जीवन के अन्त, सन १८०६ तक मुगल सम्राट् रहा।

पंजाब में अराजकता—

पंजाब में सिखों के जत्थे लूट-मार में व्यस्त थे। बघेलसिंह, जस्सासिंह रामगढ़िया, जयसिंह कन्हैया, जस्सासिंह अहलूवालिया, महांसिंह सुकरचकिया आदि अपने आप को मिसलों में संगठित कर रहे थे और 'राखी' (रक्षित क्षेत्र) के नाम से अपने-अपने राज्य स्थापित करने का उपक्रम कर रहे थे। इनके लूट-पाट का क्षेत्र पंजाब ही नहीं था, वरन् ये दिल्ली, सहारनपुर, दून आदि क्षेत्र में जाकर लूट करते थे एवं शासकों से 'कर' वसूल करते थे। ये लुटेरे सरदार दून क्षेत्र में कई बार देखे गये। जॉर्ज फॉस्टर ने ऐसे जत्थों को दून में स्वयं देखा था। उसके अनुसार ये श्रीनगर (गढ़वाल) के राजा से चार हजार रुपया वार्षिक 'कर' लेते थे, फॉस्टर सन् १७८२-८३ में श्रीनगर से गुजरा था। मध्य-भारत और राजपूताना में अफगान सरदार अमीरखाँ ३० हजार सैनिकों को लेकर आतंक फैला रहा था। ये भाड़े के सैनिक थे। जो चाहे धन देकर इनके द्वारा किसी भी राज्य या क्षेत्र को रौंदा जा सकता था। उसी युग में कुल्लू के राजा टेढ़ीसिंह ने भी बैरागियों की अपने राज्य में एक सेना बनाई थी। उस सेना की संख्या एक हजार थी। बैरागी साधुओं का एक सम्प्रदाय था और अभी भी है। ये जीवन-मुक्त साधु थे, परन्तु उस लूट-खसोट के युग में ये भी वेतन-भोगी सैनिक बन गये। इन्होंने राजा टेढ़ीसिंह के विरोधियों की निर्मम हत्या की थी। मुग़ल-सत्ता के पतन के बाद उत्तरी भारत में सर्वत्र अराजकता, अशान्ति और अव्यवस्था का वातावरण था। सन् १७५२ में दुर्रानी ने मुग़ल सम्राट् अहमदशाह से पंजाब पर विधिवत् अधिकार प्राप्त किया, परन्तु पंजाब में दुर्रानी शासन की स्थिति डांवाडोल ही रही। सिख मिस्लें शक्ति-सम्पन्न हो रही थीं। अफगानों के लिये सिखों को दबाना कठिन हो गया था। वे गोरिल्ला युद्ध में निपुण थे। इनके आक्रमण अप्रत्याशित, छिपकर और द्रुत गति से होते थे। इनके घुड़सवारों ने नादिरशाह की सेना के पृष्ठ भाग को भी लूटा था और नादिरशाह कुछ न कर सका। यह घटना उसकी वापिसी की यात्रा के समय की है। पहाड़ी क्षेत्र के राजे स्वतन्त्र थे। उन पर दुर्रानी शासन नाम मात्र का था। अपनी शक्ति और अवसर के अनुसार वे एक दूसरे के क्षेत्र पर आक्रमण करते और जितना इलाका हथिया सकते थे, उसको अपने अधीन कर लेते।

राजा घमण्डचन्द—

अहमदशाह दुर्रानी का समकालीन कांगड़ा का राजा घमण्डचन्द था। ऐसा प्रतीत होता है कि घमण्डचन्द कटोच सेनापति था और वह वीर और प्रभावशाली व्यक्ति था। गोपाल शास्त्री के अनुसार वह वंश परम्परा के आधार पर राज्य का अधिकारी नहीं था। उसका चाचा गम्भीरचन्द राजा था। उसके ग्यारह पुत्र थे। गम्भीरचन्द के मरने पर जब उसके पुत्र अपने पिता का अन्तिम संस्कार करने श्मशान पर गये हुये थे तो घमण्डचन्द ने कुछ लोगों के साथ मिलकर सेना के द्वारा उनको बन्दी बना लिया और सब को अन्धा करके दूर पहाड़ की दराड़ में डाल दिया। इस जघन्य कर्म को करने के बाद उसने राज्य प्राप्त किया। एचीसन के अनुसार दुर्रानी शासक ने सन् १७५८ में राजा

घमण्डचन्द को जालन्धर द्वाव का नायव राज्यपाल नियुक्त किया था, परन्तु उक्त घटना-क्रम के अनुसार तब तक उसको कागडा का राज्याधिकार प्राप्त ही नही हुआ था। सम्भवत सन् १७६१ मे पानीपत के युद्ध मे विजय के उपरान्त और काबुल वापिस जाने से पहले, दुरानी ने घमण्डचन्द को पहाडी क्षेत्र और जालन्धर द्वाव का नायव राज्यपाल नियुक्त किया हो। इस पद पर प्रतिष्ठित होने पर घमण्डचन्द का कागडा क्षेत्र के सभी राज्यो पर अधिकार हो गया। मण्डी और कुल्लू राज्यो पर इसने आक्रमण किया और उनको लूटा। उसने अपनी सेना मे रोहेला अफगान और राजपूतो को भरती किया। मूरक्रॉफ्ट के अनुसार इनकी सख्या चार हजार थी। कुल्लू पर आक्रमण के समय सम्भवत इन्ही अफगान और रोहेला मुसलमान सैनिको ने वजौरा के मन्दिरो की मूर्तियो को खडित किया था। इसने चम्बा से भी धोलाधार के पूर्वांचल मे पठियार दुर्ग और उस क्षेत्र को हस्तगत करने का प्रयास किया परन्तु इसमे उसको आशिक सफलता मिली। कागडा समुदाय के नूरपुर, गुलेर, दातापुर, सीवा आदि राज्यो पर उसका पूरा अधिकार हो गया था, उसने सुजानपुर टीरा मे नई राजधानी और किले का निर्माण आरम्भ किया। सन् १७७४ मे उसका निधन हो गया। उसने कागडे के किले पर भी अधिकार करने का प्रयत्न किया था, पर इसमे उसको सफलता नही मिली। यह किला सन् १६२० से अभी तक मुगलो के अधिकार मे था। उस समय सैफअलीखा नाम का नवाब इस किले का फौजदार था। इस क्षेत्र मे मुगल-सत्ता समाप्त हो चुकी थी परन्तु नवाब सैफअलीखा अकेला ही शत्रुओ से घिरा इस किले मे जमा हुआ था। किले के आस-पास जो भूमि थी उसी की उपज से उसका अपना और उसकी छोटी-सी आत्म-रक्षक सेना का निर्वाह होता था। लगभग तीस वर्ष से वह इस प्रकार इस किले मे रह रहा था। किले की सुदृढता और आत्म निर्भरता के बल-बूते पर वह विकट परिस्थितियो मे भी वीरता के साथ इसमे डटा हुआ था।

कांगडा में सिखों का आगमन—

सन् १७७० मे सिखो की बारह मिसलों मे से रामगढिया नाम की मिसल के मुखिया जस्सासिह ने कागडा पर आक्रमण किया और राजा घमण्डचन्द सहित कागडा समुदाय के सभी राज्य उसके अधीन हो गये। अब पहाडी राज्य दुरानी के स्थान पर सिख मिसल के अधिकार मे आ गये। परन्तु जस्सासिह का शासन बहुत दिन न चला। इन मिसलों की स्थिति उन दिनो अनिश्चित थी। ये आपस मे लडते रहते थे, एक दूसरे पर आक्रमण करके अपने प्रतिद्वन्द्वी के इलाके पर अधिकार कर लेते थे। सन् १७७४ मे कन्हैया मिसल के मुखिया सरदार जयसिह ने पजाब मे जस्सासिह रामगढिया को हरा दिया। फलत कागडा समुदाय पर अब जयसिह कन्हैया का अधिकार हो गया। इसका शासन काल अपेक्षाकृत अधिक समय तक रहा, सम्भवत सन् १७८४ तक। सन् १७७४ मे घमण्डचन्द का देहावसान हो गया और उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र तेगचन्द हुआ। परन्तु तेगचन्द की भी एक वर्ष के अन्दर मृत्यु हो गई। फलत उसका पुत्र ससार

उत्तराधिकारी हुआ। ससारचन्द का जन्म सन् १७६५ मे बीजापुर नामक स्थान मर हुआ था। यह स्थान लम्बा गाव के निकट है। तेगचन्द की मृत्यु के समय ससारचन्द की आयु केवल दस वर्ष की थी। कहा जाता है कि उस समय कटोच राज्य का मत्री कुन्हो ससारचन्द का सरक्षक और शासन का सचालक था। ससारचन्द को पूरी वयस्कता प्राप्त करने के लिये अभी दस वर्ष की अवधि और अपेक्षित थी। नि सन्देह इस लम्बी अवधि तक उसका मार्ग-प्रदर्शक और राज्य का सचालक कोई योग्य व्यक्ति रहा होगा और सम्भावना यही है कि कुन्हो मत्री ही इस सुयोग्य सचालन को कर रहा था।

ससारचन्द का कोट कांगडा पर अधिकार—

ऐसा भी उल्लेख आता है कि सन् १७७४-७५ के लगभग कोट कागडा का फौजदार नवाब सैफअलीखा मर गया और ससारचन्द ने उस समय सरदार जस्सासिह रामगढिया की सहायता से कागडे के किले पर अधिकार करने का यत्न किया। किले पर घेरा डाला गया। कुछ दिन घेरा पडने पर, बडी चतुरता से किले के सैनिको को प्रलोभन देकर किले का मुख्य द्वार खुलवाया गया, परन्तु जस्सासिह के पुत्र गुरदर्शसिह के सैनिकों ने पहले किले मे प्रवेश किया और उसने स्वय किले पर अधिकार कर लिया। ससारचन्द के सैनिक और अधिकारी देखते रह गये। घटना-क्रम का ऐसा होना तर्कसगत प्रतीत होता है। उस समय इस क्षेत्र पर अधिकार सरदार जस्सासिह का ही था। उसके पुत्र ने अपनी प्रतिष्ठा और सत्ता के अनुरूप ही किले पर अधिकार किया। उस युग की राजनीति या रण-नीति मे नैतिकता का प्राय अभाव ही था। ससारचन्द और उसके सरक्षको को यह बात बहुत चुभी होगी। कटोच वश के पैतृक किले पर एक के बाद दूसरे बाहर के शासकों का अधिकार होना उनकी प्रतिष्ठा और शक्ति के लिये नि.सदेह घातक था। ऐसी भी धारणा है कि सन् १७७४-७५ मे कोट-कांगडा को हस्तगत करने का प्रयत्न किया गया, परन्तु सफलता नही मिली थी और नवाब सैफअलीखा सन् १७८४ तक जीवित रहा। सन् १७७४-७५ के ही लगभग सरदार जयसिह कन्हैया ने जस्सासिह रामगढिया को पजाब मे परास्त करके उसको हासी की ओर भगा दिया और स्वय जालन्धर द्वाब का शासक बन गया। कागडे का किला भी उसके अधिकार मे आ गया। तत्कालीन एक दस्तावेज से जिसका उल्लेख कागडा की सैटलमैण्ट रिपोर्ट में किया गया है, पता लगता है कि सरदार जयसिह ने चम्बा के राजा पर सन् १७७६ मे ४००रुपये का कर लगाया था। गोपालशास्त्री ने हरिपुर गुलेर मे प्राप्त एक ऐसे चित्र का उल्लेख किया है जिसमे जयसिह कन्हैया को सिहासन पर बैठा दिखाया गया है और उसके दाये-बाये चम्बा, गुलेर, जस्वां, सीबा, कागड़ा आदि राज्यो के राजा एव कुछ प्रमुख मत्री बैठे दिखाये गये हैं। यह चित्र सन् १७७६ के लगभग का होगा। चित्रित व्यक्तियो के नाम देवनागरी लिपि मे लिखे हैं। इससे स्पष्ट है कि सन् १७७५ मे जस्सासिह के निष्कासन पर जयसिह कागडा समुदाय का सर्वोपरि शासक बन गया और वह इस स्थिति में सन् १७८५ तक इस क्षेत्र मे रहा। परन्तु पजाब मे उसको सुकरचकिया मिसल से बडा

मुकाबला करना पड़ा। इस मिसल का मुखिया सरदार महासिंह शक्ति सम्पन्न हो रहा था। महासिंह ने रणजीतदेव के राज्य की बहुसम्पन्न राजधानी जम्मू नगर को लूट कर असाधारण सम्पन्नता प्राप्त की थी और उसकी धाक अन्य मिसलों में सर्वोपरि हो रही थी। उसने जयसिंह कन्हैया का पंजाब और पर्वतीय क्षेत्र मे मुकाबला किया। उस समय कोट कांगड़ा पर जयसिंह कन्हैया का अधिकार था। इन दोनों मिसलो मे निरन्तर संघर्ष होता रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि संसारचन्द भी जयसिंह से छुटकारा पाना चाहता था। जॉर्ज फॉरस्टर सन् १७८३ मे कांगड़ा के मार्ग से काश्मीर की ओर आ रहा था। उसने अपने यात्रा-विवरण में कोट-कांगड़ा के घेरे का उल्लेख किया। गोपाल शास्त्री ने स्थानीय साक्ष्यों और परम्पराओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि फॉरस्टर का संकेत कि सन् १७८३ मे कांगड़े के किले पर घेरा पड़ा था, ठीक है परन्तु यह घेरा नवाब सैफअली खां के विरुद्ध नहीं था, सैफअली सन् १७७४ में मर चुका था और तत्कालीन घेरे के परिणाम मे किले का कब्जा सरदार जयसिंह कन्हैया को मिला था और तब से लेकर सन् १७८४ तक उसी का शासन और अधिकार कांगड़े के किले समेत इस क्षेत्र पर रहा। परन्तु साथ ही वह पंजाब में सुकरचकिया मिसल के साथ संघर्ष-रत था। सन् १७८० के लगभग कांगड़ा के किले पर सुकरचकिया मिसल और संसारचन्द ने मिलकर घेरा डाला। जार्ज फॉरस्टर ने यही घेरा देखा था। सन् १७८४ में सैफअलीखां के जीवित होने की बात भ्रान्तिपूर्ण है। यह घेरा सम्भवतः बहुत लम्बा चला। सन् १७८४ के लगभग जयसिंह पंजाब मे सुकरचकिया मिसल से परास्त हुआ और सन् १७८५ मे संसारचन्द का कांगड़े के किले पर अधिकार हो गया। सन् १६२० मे कोट कांगड़ा कटोच वंश के हाथों से निकल कर मुग़लों के अधिकार मे चला गया था। लगभग १६५ वर्ष के बाद पुनः इस वंश के अधिकार मे आया। परन्तु यह अधिकार भी अल्पकाल तक ही रहा। सन् १८०६ में यह किला संसारचन्द के हाथ से निकल कर पंजाब के शासक रणजीतसिंह के अधिकार मे चला गया। तत्कालीन शासन-व्यवस्था और रणनीति के अनुसार इस किले का बहुत महत्व था। ऐसा कहा जाता था कि जिसका अधिकार इस किले पर होगा, वही इस पहाड़ी क्षेत्र पर शासन करेगा। वास्तव मे १७८५ के उपरान्त राजा संसारचन्द का असाधारण अभ्युदय हुआ और लगभग बीस वर्ष तक उसने सतलुज और रावी के बीच के क्षेत्र म एक निरंकुश और शक्तिशाली शासन स्थापित किया।

संसारचन्द द्वारा विजय-अभियान—

कोट कांगड़ा पर अधिकार होने के बाद राजा संसारचन्द ने अपने पुरातन गौरव को पुनः स्थापित करने के लिये इस क्षेत्र के ग्यारह राज्यों को अपने अधीन करना चाहा। रेहलू का इलाका पठियार दुर्ग सहित अभी तक चम्बा के पास था। मुग़लों के समय यह क्षेत्र उस कारदारी का भाग था जो अकबर ने ६६ गावों को लेकर कांगड़ा में स्थापित की थी। घमण्डचन्द ने इस प्रदेश को लेने का प्रयत्न किया था। इसमें उसको अधिक

सफलता मिली थी। परन्तु चम्बा ने पुन अधिकार कर लिया था। संसारचन्द ने चम्बा के राजसिंह को यह इलाका खाली करने को कहा, परन्तु राजसिंह ने खाली करने की बजाय अपनी सीमा के साथ सेना का जमाव बढ़ा दिया और किलों की मरम्मत करके अपनी शक्ति को सुदृढ किया। राजसिंह ने नूरपुर राज्य से भी सहायता मांगी। नूरपुर और चम्बा की सेनाएं नेरटी नामक स्थान पर एकत्रित हुई, परन्तु संसारचन्द की सेना ने अचानक उस पर धावा बोल दिया और वे तितर-बितर हो गई। नूरपुर की सेनाएं युद्ध-



1905 के भू-कम्प से पूर्व प्रसिद्ध कांगड़ा दुर्ग

क्षेत्र छोड़कर भाग गई। चम्बा की सेना ने कुछ समय तक मुकाबला किया, परन्तु संसारचन्द की सेना के प्रबल प्रहार को न सह सकी। उसकी सेना के अधिकारियों ने राजसिंह को भी युद्ध-भूमि छोड़कर भागने का परामर्श दिया, परन्तु राजसिंह ने यह कह कर कि युद्ध-भूमि से भागना क्षत्रिय का धर्म नहीं, लड़ते रहने का संकल्प किया और अपने ४५ अगरक्षकों के साथ अतुल शौर्य प्रदर्शित कर युद्ध मे वीरगति पाई। रेहलू का सारा क्षेत्र कांगड़ा के अधीन हो गया। सन् १७९२ मे संसारचन्द ने मण्डी पर आक्रमण किया और नगर को लूटा। मण्डी राज्य का कुछ भाग इसने अपने अधिकार मे ले लिया, कुछ कुल्लू और सुकेत को दे दिया। मण्डी राज्य पर उसने एक लाख रुपया वार्षिक कर नियत किया। मण्डी के राजा ईश्वरीसेन जो उस समय बालक ही था यह बन्दी बनाकर उसको सुजानपुर टीरा ले गया। बारह वर्ष तक ईश्वरीसेन संसारचन्द का बन्दी या उसके सरक्षण मे रहा। सन् १८०५में गोरखाओं ने उसको इस बन्धन से मुक्त किया था। सुकेत के राजा के भाई किशनसिंह की लड़की संसारचन्द को ब्याही थी। अत उसकी सुकेत राज्य को ध्वस्त करने की कठोर नीति न रही। पश्चिमी क्षेत्र के सभी बड़े राज्य, चम्बा,

नूरपुर, कुल्लू, मण्डी और सुकेत ससारचन्द के राज्य-काल के आरम्भिक वर्षों मे ही उसकी पकड मे आ गये थे। कागडा क्षेत्र के छोटे-छोटे राज्य, हरिपुर गुलेर, सीबा, दादारपुर आदि उसके वशधरो के ही राज्य थे, पर ससारचन्द कर सभी से लेता था। इन अधीनस्थ राजाओं को कर देने के अतिरिक्त समय समय पर विजय अभियानो में जाना पडता था। कहलूर राज्य (बिलासपुर) पर ससारचन्द ने दो बार आक्रमण किया और सतलुज के बायें किनारे के सारे क्षेत्र पर अधिकार कर लिया था। इस प्रकार थोडे ही वर्षों मे सतलुज से लेकर रावी तक के समस्त प्रदेश पर ससारचन्द का निर्विरोध अधिकार हो गया। यह स्थिति लगभग बीस वर्ष तक रही। इन राजाओ को समय-समय पर ससारचन्द के दरबार मे आना पडता था। शासन-व्यवस्था और इन अधीनस्थ राजाओ के साथ सम्बन्ध मुगल परम्परा के अनुरूप था। उत्तराधिकार की स्वीकृति राजा ससारचन्द देता था और उत्तराधिकार प्राप्त करते समय ससारचन्द को नजराना देना पडता था। ससारचन्द नये राजा को सम्मानार्थ उपहार, वस्त्र आदि खिल्लत के रूप म देता था। उस युग के राजा व दरबारी मुगलो की तरह वस्त्र पहनते थे। सिर पर मुगल ढग की पगडी, लम्बा चोगा और कमरबन्द बहुमूल्य कपडो के होते थे।

विलियम मूरक्रॉफ्ट सुजानपुर टीरा मे—

सन् १८२० की वर्षा ऋतु मे मूरक्राफ्ट नाम का एक अग्रेज पर्यटक सुजानपुर टीरा मे ससारचन्द का सम्मानित अतिथि रहा। मूरक्राफ्ट ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार के अश्व विभाग का अध्यक्ष था और लद्दाख के मार्ग से घोडे खरीदने बुखारा जा रहा था। उसने अपने यात्रा विवरण मे राजा ससारचन्द की तत्कालीन स्थिति का रोचक उल्लेख किया है। तब कागडा के किले और सतलुज के पार समस्त पहाडी क्षेत्र पर रणजीतसिंह का अधिकार था। यह अधिकार सन् १८०९ म हो चुका था। मूरक्रॉफ्ट के अनुसार राजा ससारचन्द को निरन्तर यह भय रहता था कि रणजीतसिंह कभी-भी उसके राज्य को हस्तगत करके उसको पदच्युत कर लेगा। साल म कम-से-कम एक बार उसको रणजीतसिंह के दरबार म जाना पडता था। सिख राजा के विजय-अभियानो मे भी उसको सैन्यसहायता देनी पडती थी। अब ससारचन्द का राज्य कागडा क्षेत्र मे ही सीमित था। उत्तर से दक्षिण को इसकी लम्बाई ४० कोस और पूर्व मे पश्चिम की चोडाई १५ से ४० कोस के बीच मे थी। अपने उत्कर्ष के समय सिन्ध स सतलुज तक का क्षेत्र इस के अधीन था। उस समय ससारचन्द की आय ३५ लाख रुपये थी, परन्तु तब यह केवल ७० हजार थी। इसी म उसको अपनी सेना, नौकर-चाकर, विशाल अन्त पुर, हरम और राज्य एवं दरबार के सभी खर्च निभाने पडते थे। राजा ससारचन्द ६० वर्ष की आयु का वृद्धव्यक्ति था, उसका रग सावला पर मुखाकृति सुन्दर और अभिव्यक्तिपूर्ण थी। उसका पुत्र अनिरुद्धसिंह गौर-वर्ण और स्थूलकाय था। ससारचन्द के दरबार म कई चित्रकार और गान-बजान वाले थे। चित्र-रचना का विषय महाभारत के आख्यान, और राधा-कृष्ण सम्बन्धी थे और ब्रज भाषा के गीत गायन के विषय थे। राजा ससारचन्द [illegible] बजे तक

का समय पाठ-पूजा मे व्यतीत करता था और तदुपरान्त मध्यान् काल तक राज्य का काम-काज करता था। दोपहर के भोजनोपरान्त वह दो-तीन घण्टे विश्राम करता था सायं काल का समय नृत्य-गायन या चौपड खेलने मे व्यतीत होता था। ओ'ब्रीन नाम का एक अंग्रेज अधिकारी सेना का अध्यक्ष था। वह चौदह सौ के लगभग सैनिको को प्रशिक्षित करता था। यह अंग्रेजी सेना का भगोडा था। राजा ससारचन्द के यहां उसने नौकरी स्वीकार की। जेम्स नाम का एक और अनपढ़ अंग्रेज राजा के यहां नौकरी करता था। वह लोहार के काम को जानता था, वह राजा के लिये बन्दूकें बनाता था। व्यास के पार टीरा मे ससारचन्द के पूर्वजो के महल थे, परन्तु संसारचन्द ने अपने लिये टीरा के सामने व्यास के दाहिने किनारे पर महल बनाया हुआ था। वही बगीचे मे अपने उपयोग के लिये और मकान भी बनाये हुये थे। कहते हैं कि एक बार रणजीतसिंह ने ससारचन्द को कहा कि मैंने सुना है कि सुजानपुर टीरा के महल बहुत सुन्दर और दर्शनीय हैं। मैं उनको देखना चाहता हू। संसारचन्द रणजीतसिंह से दूर ही रहना चाहता था। वह उसकी लोलुप प्रवृत्ति से परिचित था। अत उसने कहा कि वहा आपके देखने योग्य कोई आकर्षण नहीं है और रणजीतसिंह के वहा के पहुचने से पहले ही ससारचन्द ने टीरा के पुराने महलो का कुछ भाग खण्डहर कर दिया। मूरक्रॉफ्ट के सुजानपुर मे रहते हुए, दो स्त्रिया सती हुई थी, जिनमे से बडी की आयु केवल चौदह वर्ष की थी। उसी अवधि में ससारचन्द का छोटा भाई फतेहसिंह बहुत बीमार हुआ। वैद्य और हकीमो का उपचार व्यर्थ हो गया। मूरक्रॉफ्ट स्वय डॉक्टर था, पर उस पर विश्वास के अभाव में आरम्भ मे उससे उपचार नही कराया गया। उसकी अन्तिम अवस्था जब निकट आ गई और अन्तिम क्रिया करने के लिये उसको जमीन पर रख दिया गया और उसके हाथ से गाय-दान किया जाने वाला था तो एक ब्राह्मण ने सुझाव दिया कि फिरंगी द्वारा इलाज भी करके देख लिया जाय। तत्काल मूरक्रॉफ्ट को बुलाया गया। उसकी दवाई से बीमार को कुछ चेतना आई और दो-तीन दिन के उपचार के उपरान्त फतेहसिंह की हालत आशाजनक हो गई। एक हफ्ते के बाद वह बिलकुल स्वस्थ हो गया। इससे राज-परिवार और प्रजा में हर्ष की लहर दौड गई। मूरक्रॉफ्ट के प्रति राजपरिवार की कृतज्ञता शब्दो मे व्यक्त नहीं की जा सकती थी। वहां तो फतेहसिंह की रानियां उसकी चिता मे सती होने की तैयारियां कर रही थी और वहां फिरंगी के इलाज से उसको पुनर्जीवन प्राप्त हुआ। इस उल्लास मे सारा परिवार मूरक्रॉफ्ट के प्रति बहुत कृतज्ञ था। परम्परागत विधि से फतेहसिंह और मूरक्रॉफ्ट मे धर्म भाई बनने की रस्म सम्पन्न की गई। फतेहसिंह ने मूरक्रॉफ्ट का टोप अपने सिर पर रखा और फतेहसिंह की पगडी मूरक्रॉफ्ट ने अपने सिर पर रखी। दोनो ने एक दूसरे के सिर पर रुपये वार करके गरीबो को दिये। ससारचन्द ने मूरक्रॉफ्ट को जागीर देने का प्रस्ताव भी किया, परन्तु वह तो एक विशिष्ट ध्येय के लिये लम्बी यात्रा पर जा रहा था। अत जागीर लेने से उसने इन्कार किया। ये घटनाएं राजा ससारचन्द के पराभव काल की हैं।

गोरखाओं का आगमन—

ससारचन्द का पराभव सन् १८०३ से आरम्भ हुआ। अट्ठारहवी सदी के अन्तिम चरण मे नैपाल के शासक गोरखाओ ने पश्चिम की ओर पहाडी क्षेत्र मे अपने राज्य का विस्तार आरम्भ किया। सन् १७९२ तक उन्होने कमाऊ और गढवाल पर अधिकार कर लिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय दून और भाबर क्षेत्र मे सिरमौर का अधिकार था। वैसे यह गढवाल-राज्य का अग था, पर उस अनिश्चितता के युग मे सीमावर्ती क्षेत्रो पर अधिकार बदलता रहता था। उस समय गढवाली राज्य की स्थिति बहुत कमजोर थी। परिणामत उस क्षेत्र मे सिरमौर का अधिकार था। गोरखा विजेताओ ने सिरमौर राज्य के साथ मित्रता की सन्धि की और भागीरथी जिसको भूल से अलकनन्दा भी कहा गया है, सिरमौर और गोरखा राज्य की सीमा मानी गई। यह सन्धि और सीमा निर्धारण सन् १७९२ मे हुआ। उसके बाद नैपाल की कुछ आन्तरिक घटनाओ के कारण गोरखाओ की शक्ति का विस्तार लगभग दस वर्ष के लिये पश्चिम दिशा की ओर रुक गया। परन्तु सन् १८०३ मे नैपाल का विस्तारवाद पुन आरम्भ हुआ और दो वर्षों मे सन् १८०५ तक गोरखा सैन्य शक्ति सतलुज के किनारे तक पहुच गई। सिरमौर, शिमला क्षेत्र के बाहर बडी और अट्ठारह छोटी ठकुराइया, नालागढ़ और बिलासपुर सभी राज्य गोरखा विस्तारवाद की परिधि के अन्दर आ गये। ऐसा उल्लेख मिलता है जिसका विस्तार से आगे वर्णन किया जायेगा कि सन् १८०६ म सिरमौर म हण्डूर (नालागढ) और ससारचन्द की सेनाओ की नैपाली और सिरमौर की सेना के साथ दो बार मुठभेड हुई। पहली बार नैपाली हार गये, परन्तु दूसरी बार जब अमरसिंह थापा स्वय लडाई मे भाग लेने आया तब कागडा और नालागढ की सेनाए हार गई। सम्भव है उन समय ससारचन्द और गोरखा कमाण्डर अमरसिंह थापा या रुद्रवीरशाह के मध्य एक सन्धि हुई थी जिसमे अन्य बातो के अलावा सतलुज तक गोरखा राज्य की सीमा निश्चित की गई थी। उधर ससारचन्द के अधीनस्थ सभी राज्य उसकी दमननीति के कारण उससे छुटकारा पाने के लिये छटपटा रहे थे। इनमे कुल्लू और चम्बा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये सभी राज्य ससारचन्द के विरुद्ध सगठित होना चाहते थे, परन्तु इन मे पारस्परिक अविश्वास था और ससारचन्द से वे भयत्रस्त थे। बिलासपुर का राजा महाचन्द ससारचन्द से बदला लेने के लिए सबसे अधिक आतुर था क्योकि ससारचन्द ने बिलासपुर राज्य के सतलुज पार के क्षेत्र पर अधिकार कर लिया था। गोरखा कमाण्डर अमरसिंह थापा बिलासपुर तक पहुच चुका था। वह ऐसे अवसर की ताक मे था। अमरसिंह थापा को बिलासपुर, चम्बा, सिरमौर कागडा क्षेत्र के राज्यो ने सहायता का आश्वासन दिया। सन् १८०६ मे गोरखा सेना ने सतलुज नदी पार करके सन्धि को तोडा और शीघ्र ही कागडा दुर्ग को घेर लिया। यह घेरा सन् १८०९ तक चला। अन्त म ससारचन्द ने रणजीतसिंह से सहायता मागी। रणजीतसिंह ने इस शर्त पर सहायता देना स्वीकार किया कि कोट-कागडा पर उसका अधिकार होगा और

संसारचन्द का कांगड़ा क्षेत्र में केवल अपने पैतृक राज्य पर ही शासन रहेगा। उसके बदले रणजीतसिंह ने गोरखाओं को सतलुज पार भगा दिया। सन् १८०९ से कांगड़ा समुदाय के सभी राज्य लाहौर दरबार के अधीन हो गये और सन् १८४६ तक इसी रूप में रहे।

८. बारह बड़ी और अठारह छोटी ठकुराइयों में गोरखा-प्रसार

यमुना और सतलुज का मध्यवर्ती क्षेत्र—

सतलुज और यमुना नदियों के मध्यवर्ती क्षेत्र में बहुत प्राचीन काल से कई ठकुराइयां थीं। इनमें से कइयों का अस्तित्व तो दसवीं-ग्यारहवीं सदी से आरम्भ माना जाता है, परन्तु अधिकांश का उदय पन्द्रहवीं सदी के लगभग या उसके भी बाद हुआ प्रतीत होता है। इसी क्षेत्र में तीन बड़े राज्य भी थे। इन बड़े राज्यों के नाम थे—बिलासपुर, सिरमौर और बुशैहर। बिलासपुर राज्य दक्षिण-पश्चिमी सीमा पर था, सिरमौर पूर्व-दक्षिण में और बुशैहर उत्तर और उत्तर-पश्चिमी सीमा पर स्थित था। टौंस और यमुना इस क्षेत्र की पूर्वी सीमा बनाती थी और सतलुज पश्चिमी सीमा पर बहती थी। बुशैहर के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र कनौर को सतलुज दो भागों में बांटती है। इस प्रकार सतलुज की उपरि उपत्यका कनौर कहलाती है। बिलासपुर राज्य को भी सतलुज दो भागों में बांटती है, सतलुज-वार और सतलुज-पार का क्षेत्र सतलुज-पार का क्षेत्र कांगड़ा के साथ लगता था। यहां पहले कांगड़ा के कटोच राजाओं का अधिकार था और बाद में रणजीतसिंह का शासन स्थापित हुआ। इन तीन बड़े राज्यों से घिरे बीच में लगभग तीस ठकुराइयां थीं। इनके शासक राणा या ठाकुर कहलाते थे। इन ठकुराइयों के क्षेत्र को आधुनिक युग में, अंग्रेजों के शासन-काल में, शिमला-पहाड़ी क्षेत्र कहते थे। सतलुज और यमुना के मध्यवर्ती पहाड़ी राज्यों पर अंग्रेजों का अधिकार सन् १८१५ में गोरखाओं को युद्ध में पराजित करने के बाद हुआ। इससे पहले सन् १८०३ से १८१४ तक यह क्षेत्र लगभग ग्यारह वर्ष तक गोरखाओं के अधीन रहा। गोरखा-युद्ध के समय अंग्रेजों को इस इलाके का ज्ञान हुआ। सतलुज-पार के क्षेत्र, पंजाब पर पूर्णरूप से इसके लगभग इकतीस वर्ष बाद सन् १८४६ में अंग्रेजों का अधिकार हुआ था। आरम्भ में शिमला-क्षेत्र के राज्यों और ठकुराइयों से सम्पर्क स्थापित करने के लिये, लेफ्टिनैण्ट रौस को सहायक पोलिटिकल एजेण्ट नियुक्त किया गया। इसका कार्यालय स्पाटू में था। उसके बाद सन् १८१८ से मेजर कैनेडी इस पद पर आया, इसने सबसे पहले अपना कार्यालय शिमला में स्थापित किया। लेफ्टिनैण्ट रौस ने गोरखा युद्ध के समय हण्डूर(नालागढ) की सेना का नायकत्व किया था और बन्दला के मार्ग से उतरकर हण्डूरी सेना ने इसके अधीन बिलासपुर नगर पर अधिकार किया था। लेफ्टिनैण्ट रौस ने सबसे पहले यमुना और

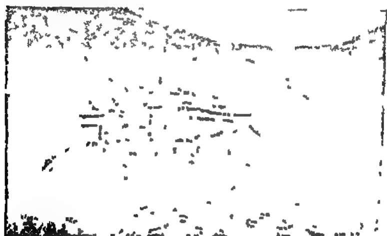
सतलुज के मध्य स्थित बारह बडी और अठारह छोटी ठकुराइयो का उल्लेख किया। १२ बडी ठकुराइया के नाम इस प्रकार थे —

१ क्योथल, २ बघाट, ३ कुठाड, ४ कुनिहार, ५ भज्जी, ६ धामी, ७ महलोग, ८ कोटी, ९ क्यारी (मधाण) १० कोटगढ (कोटखाई), ११ ठयोग और १२ बाघल।

१८ छोटी ठकुराइया—

१. जुब्बल, २ बलसन ३ कुमारसेन ४ खनेटी ५ डेलट, ६ राबी ७ कुरागुलू ८ उत्तरोच (थरोच), ९ कुनैंटू १० बेजा ११ सागरी १२ नावर १३ सारी १४ रतेश, १५ डोडरा क्वार १६ घुण्ड १७ भरोली और १८ शिली (दरकोटी)।

उपरोक्त राज्यो मे बडी और छोटी ठकुराइया का भेद सर्वथा तर्क हीन प्रतीत होता है। बडी ठकुराइयो म कुठाड, कुनिहार ठयोग महलोग कोटी (मधाण) भज्जी जैसी छोटी ठकुराइया को सम्मिलित किया गया है जबकि जुब्बल, बलसन और कुमारसेन



१८ वी सदी मे निर्मित राणा जुब्बल का महल

जैसी बडी ठकुराइया को छोटे राज्यो म सम्मिलित किया गया है। सम्भवत लेफ्टिनैण्ट रौस को जैसे किसी ने सूचना दी, उसने वैसे ही यह सूची बनाई हो। भौगोलिक दृष्टि से १८ छोटी ठकुराइया नि स देह एक-दूसरे की पडोसी थी और उसी प्रकार बडी ठकुराइया भी इस दृष्टि से एक ही क्षेत्र म स्थित थी सिवाय कोटी, ठयोग और मधाण के। फिर अग्रेजा के आगमन के समय इनमे से कई ठकुराइया समाप्त प्राय हो चुकी थी। कुरांगुलू और कर्नंटू जो नारकण्डा के निकट छोटी ठकुराइया थी, कुमारसेन राज्य म मिल गई थी। यह विलय बुशैहर के प्रभाव के कारण हुआ था। गोरखा युद्ध से पहले कुमारसेन राज्य का अधिपति बुशैहर था। इसी प्रकार सारी डोडराक्वार और नावर का भी

विलय बुशैहर राज्य मे हो गया था। अंग्रेजो का राजनैतिक अधिकारी विलियम फ्रेजर जब सन् १८१५ के मई मास मे रोहड़ू क्षेत्र मे गया था तो सारी की विधवा रानी उसको रास्ते मे मिली थी। चादरा मे वने परदे के पीछे बैठकर उसने उस अधिकारी से अपने राज्य को पुन प्राप्त करने की प्रार्थना की थी परन्तु इसका परिणाम कुछ नही निकला। इनमे बडी ठकुराइया छोटी-छोटी ठकुराइया का अधिपति होने का दावा करती थी, जैसे जुब्बल रावी और शिली(दरकोटी)पर अपना अधिकार मानता था। कई छोटी ठकुराइयो पर दो से अधिक बड़े राज्य अपने अधिकार का दावा करते थे। गढवाल, जुब्बल, डोडाराक्वार, उत्तरोत्त, रावी और सारी की ठकुराइयो का अधिपति बनने का प्रयास और दावा करता था। इसी प्रकार बुशैहर भी इनको अपने अधीनस्थ समझता था। ठ्योग, मधान, वलसन और रतेश का अधिपति वनने का दावा सिरमौर और क्योथल और बुशैहर तीनो करते थे। इन छोटी ठकुराइयों पर अधिकार परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता था। क्योथल, सिरमौर और बुशैहर म इन पर स्वामित्व प्राप्त करने के लिये संघर्ष होता रहता था। छोटी ठकुराइयों का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कभी नही रहा, वे सदा ही अपने से वडी राज्य-सत्ता की छत्र-छाया मे जीवित रह सकती थी।

सिरमौर राज्य का विस्तार और प्रभुत्व—

अंग्रेजो के आगमन के समय बारह बडी ठकुराइया सिरमौर के अधीन थीं। उसमे पहले इन पर बिलासपुर का अधिकार था। इनम से अधिकाश ठकुराइया निचले क्षेत्र मे थीं। ऊपर के क्षेत्र की छोटी ठकुराइया इन्ही मे से वडी ठकुराइयो के अधीन थी। बुशैहर, क्योथल और जुब्बल बड़े राज्य थे, पर इन पर शक्तिशाली राज्य सिरमौर या बिलासपुर का अधिकार होता था। सिरमौर बहुत प्राचीन राज्य था। परम्परा के अनुसार एक नटी के अभिशाप के फलस्वरूप गिरीनदी के तट पर स्थित राजवन नाम की राजधानी प्रलय-तुल्य भू-कम्प से ध्वस्त हो गई। कहते हैं कि नटी एक सूत के धागे पर नाचती हुई गिरी नदी को पार कर गई थी। उसको यह वचन दिया गया था कि यदि वह धागे पर नृत्य करती हुई फिर गिरी नदी के पार आ जाय तो उसको सिरमौर का आधा राज्य दे दिया जावेगा। वापिस आते हुये किसी ने धागा काट दिया और नटी गिरी नदी मे गिर कर मर गई परन्तु वह यह शाप दे गई कि सिरमौर राजवंश इस विश्वासघात के कारण नष्ट हो जावेगा। ग्यारहवी सदी के अन्तिम चरण मे जैसलमेर का राजकुमार उग्रसेन राव तीर्थ-यात्रा पर हरिद्वार आया हुआ था। उस समय सिरमौर की राजगद्दी वहां के राजवंश के नष्ट हो जाने से खाली पडी थी। इस राज्य के प्रतिष्ठित लोगो के आग्रह से उग्रसेन राव सिरमौर आया और लोगो ने उसको राजगद्दी पर बिठाया। अब उसकी राजधानी राजवन से हटकर यमुना पार कालसी मे स्थापित की गई जहां कई पीढिया तक इस वंश के राजाओ ने सिरमौर पर शासन किया। तेरहवी सदी के आरम्भ मे ममरप्रकाश नाम के राजा ने उत्तर मे रतेश क्षेत्र को जीता, यह इलाका गिरी नदी के तट पर था। उसके पुत्र सूर्य प्रकाश ने धूण्ड, ठ्योग, मारी, रावी,

बलसन और जुब्बल को जीता और यहा अपने वशजों को नियुक्त किया। सम्भव है कि बलसन, जुब्बल और उत्तरोच (थरोच) की ठकुराइया की स्थापना इसी समय हुई हो—इन राज्यों के शासक सिरमौर के वशधर माने जाते थे। पन्द्रहवी सदी के आरम्भ मे राजा नक्तप्रकाश गद्दी पर बैठा। तब तक सिरमौर का राज्य-विस्तार गिरी-पार के क्षेत्र मे काफी दूर उत्तर मे हो गया था। अत नक्तप्रकाश का अधिक समय उत्तरी क्षेत्र रतेश मे ही व्यतीत हुआ। उसने नौरी नामक स्थान पर अपनी राजधानी बनाई, कोट, गरजडी और जोगरी के किलों का निर्माण किया। लगभग आधी शताब्दी तक सिरमौर राज्य का मुख्य केन्द्र रतेश क्षेत्र म रहा, परन्तु दक्षिणी क्षेत्र का केन्द्र कालसी ही रहा। सन् १६२१ मे राजा कर्मप्रकाश ने राजधानी कालसी से बदल कर नाहन में स्थापित की। क्यारदादून, जौनसार-बावर और यमुनापार का दून क्षेत्र तब सिरमौर के अधीन थे। कालसी इस क्षेत्र के मध्य मे स्थित था। परन्तु बाद मे गिरी नदी की उपरि घाटी को जीतने के बाद रतेश कुछ काल के लिये सिरमौर राज्य का केन्द्र रहा। कालसी गर्म स्थान था और साथ ही नाना प्रकार की बीमारियो का केन्द्र भी। नाहन जलवायु की दृष्टि से अधिक आकर्षक था। सत्तरहवी सदी के प्रथम चरण मे नाहन सिरमौर की राजधानी बनी। परन्तु इसका प्रभाव क्षेत्र उत्तरी पहाडी ठकुराइयो पर बहुत प्राचीनकाल से था। उत्तरी क्षेत्र मे स्थित छोटी ठकुराइया प्राय सिरमौर के अधीन ही रही प्रतीत होती हैं। इसके साथ ही कुछ ठकुराइयो पर बुशैहर का अधिकार था। बुशैहर की सीमा के साथ लगने वाली ठकुराइयां जैसे कोटगढ, खनेटी मधाण, कोटी आदि अधिकाशत बुशैहर के प्रभाव क्षेत्र मे ही रही।

बिलासपुर का प्रभाव-क्षेत्र—

गोरखा-आक्रमण से पहले १२ बडी ठकुराइया पर बिलासपुर का अधिपत्य बताया जाता है। बिलासपुर के राजा देवीचन्द का शासन-काल अहमदशाह दुरानी के आक्रमणो का समय था। वह लूटमार का युग था। देवीचन्द ने कागडा, गुलेर और जसवा क्षेत्र को लूटा जिसके फलस्वरूप दुरानी के फौजदार ने इसको पकड कर लाहौर मे बन्दी बनाकर रखा। बाद मे जम्मू के राजा ने एक लाख रुपये की फिरौती देकर इसको छुड़ाया। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके बाद राजा देवीचन्द ने सतलुज-पार की पहाडी ठकुराइया को जीता। अठारहवी सदी के अन्तिम चरण मे इन बारह ठकुराइयो पर बिलासपुर का अधिकार था। बिलासपुर राज्य के वृत्तान्त के अनुसार १२ ठकुराइयां और उनसे प्राप्त होने वाला वार्षिक कर इस प्रकार से था —

(१) बाघल १००० रु०, (२) बघाट १०० रु०, (३) क्योथल ३००० रु०, (४) बेजा १०० रु०, (५) मांगल १०० रु (६) भज्जी ७०० रु०, (७) महलोग ७००रु०, (८) धामी ३०० रु०, (९) कुठाड १०० रु०, (१०) कोटखाई ३०० रु०, (११) कुनिहार १०० रु०, और (१२) बलसन २०० रु०।

सन् १७६० के लगभग ये ठकुराइया बिलासपुर के प्रभाव से मुक्त हो गईं,

तब राजा देवीचन्द का देहान्त हो चुका था और उसका उत्तराधिकारी महाचन्द अभी बालक ही था। राज्य का शासन वजीरों की सहायता से राजमाता नागरदेवी चला रही थी, परन्तु बिलासपुर और उसके अधीनस्थ ठकुराइयों को हड़प करने के लिए हण्डूर (नालागढ़) और कांगड़ा एक तरफ से और सिरमौर दूसरी ओर से संघर्ष-रत थे।

आरम्भिक गोरखा सैन्य अभियान—

सन् १७९१-९२ में यमुना और शारदा नदी के मध्य स्थित कुमाऊं और गढ़वाल राज्यों पर नैपाल की गोरखा-सत्ता ने आक्रमण किया और एक वर्ष के अन्दर दोनों राज्यों को अपने अधीन कर लिया। सन् १७४२ से पहले नैपाल में कई छोटे-छोटे राज्य थे। काठमाण्डू के आस-पास और उत्तरी भाग में २४ ठकुराइयां थी और २२ ठकुराइयां पश्चिम में करनाली उपत्यका में थी। इनको बाइसी और चौबसी राज कहते थे। ये प्रायः स्वतंत्र राज्य थे। नाममात्र के लिये वे मुगल-सत्ता के अधीन थे परन्तु मुगल-शासन इनके आन्तरिक मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता था। काठमाण्डू से उत्तर-पश्चिम में चौबीसी राज्यों में गोरखा राज्य था। इस राज-वंश में पृथ्वीनारायणशाह नाम का राजा सन् १७२२ में उत्पन्न हुआ और सन् १७४३ में उसका राज्यारोहण हुआ। तब से लेकर ३३ वर्ष तक वह इन ४६ राज्यों को जीतने में व्यस्त रहा। नैपाल उपत्यका से पश्चिम में शारदा (काली) नदी तक का क्षेत्र उसने इस अवधि में अपने अधीन कर लिया। सन् १७६८ में उसने काठमाण्डू राज्य पर अधिकार किया और अगले वर्ष पाटन और भटगांव राज्यों को भी अपने अधीन कर लिया। नैपाल उपत्यका में ये तीन प्राचीन राज्य थे। सन् १७७५ में पृथ्वीनारायणशाह की मृत्यु के समय तक नैपाल में सुदृढ़ गोरखा राज्य की स्थापना हो चुकी थी। गोरखा, गुरुंग, मगयार और ठाकुर आदि खश्या जाति के ही वंशधर थे। अठारहवीं सदी में गोरखा वर्ग का विशेष अभ्युदय हुआ। इसी जाति को नैपाल से लेकर कांगड़ा तक के क्षेत्र को जीतने की धुन सवार हुई। पृथ्वीनारायणशाह के उत्तराधिकारियों ने सन् १७९० तक नैपाल के समस्त विजित क्षेत्र पर अपने पांव दृढ़ता के साथ जमा लिये और पूर्व की ओर सिक्किम की सीमा तक के क्षेत्र में गोरखाशक्ति का प्रसार हो गया। इस प्रकार आधुनिक नैपाल का जनक पृथ्वीनारायणशाह समझा जाता है। जब नैपाल में इस सत्ता का संगठन अच्छी प्रकार हो गया तो सन् १७९० में गोरखा सेना ने कालीनदी पार कर कुमाऊं में प्रवेश किया। नैपाल के ख्याति-प्राप्त इतिहासकार डी० आर० रेगमी के अनुसार नैपाली सेना की संख्या बीस हजार थी, जिनमें से बारह हजार सैनिकों के पास तत्कालीन बन्दूकें थी। इस सेना का संचालन अनुभवी सेना नायक अमरसिंह थापा, जगजीत पाण्डेय, सूरवीर थापा और राजा वंश के बन्धु-त्रय, ब्रह्मशाह (बमशाह), हस्तीदलशाह और रुद्रवीरशाह थे। इस आक्रमण से चार वर्ष पहले कुमाऊं के राजा मोहनचन्द और गोरखा राज्य के मध्य एक मैत्री सन्धि हुई थी जिसमें दोनों पक्षों ने यह स्पष्ट व्यक्त किया था कि वे एक दूसरे पर आक्रमण नहीं करेंगे एवं नैपाल का शत्रु कुमाऊं का शत्रु होगा, नैपाल राज्य का मित्र

कुमाऊ का मित्र और ऐसे ही कुमाऊ का मित्र या शत्रु गोरखा राज्य का मित्र या शत्रु माना जावेगा। परन्तु तत्कालीन सिद्धान्तहीन राजनीति में इस प्रकार के सम्बन्धों का कोई महत्व नहीं था। गोरखा-शासक समस्त हिमालय क्षेत्र में नेपाली साम्राज्य स्थापित करना चाहते थे जिसकी पूर्वी सीमा सिक्किम या भूटान होती और पश्चिमी सीमा काश्मीर या हजारा क्षेत्र होता।

भागीरथी नदी तक गोरखा साम्राज्य का विस्तार—

नेपाली सेना ने शीघ्र ही समस्त कुमाऊ क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। उस समय कुमाऊ में दरबारियों के दो दल थे जिसके कारण राज्य की आन्तरिक स्थिति बहुत दुर्बल थी। इस फूट के कारण गोरखाओ को इस क्षेत्र पर नियन्त्रण करने में आसानी रही। अगले वर्ष सन् १७९१ मे गोरखा सेना ने गढ़वाल में प्रवेश किया। गढ़वाल के तत्कालीन शासक प्रद्युम्न शाह एक दुर्बल राजा था। गोरखाओ ने उस पर एक सहायक सन्धि जैसी शान्ति-सन्धि के नाम से थोपी और नौ हजार रुपये वार्षिक नजराना निश्चित किया। ऐसा प्रतीत होता है कि गढ़वाल के राजा प्रद्युम्नशाह ने गोरखाओ का मुकाबला करने के लिये सिरमौर के राजा जगतप्रकाश से सहायता मांगी। सिरमौर की सेना गोरखाओ का सामना करने गई, परन्तु गढ़वाल के राजा प्रद्युम्नशाह ने नैपालियो के साथ शान्ति-सन्धि कर ली और उधर सिरमौर की सेना के लिये खाद्य-सामग्री की व्यवस्था नही हुई। फलत जगतप्रकाश को भी गोरखा-सेना नायको के साथ सन्धि करनी पड़ी जिसके अनुसार दून और भाबर क्षेत्र मे भागीरथी नदी को गोरखा राज्य और सिरमौर के बीच सीमा माना गया। कुछ इतिहासकारो ने अलकनन्दा को सीमा माना है, परन्तु यह क्षेत्र देवप्रयाग से दक्षिण का इलाका था। देवप्रयाग में अलकनन्दा भागीरथी से मिल जाती है और उससे आगे यह गंगा या भागीरथी कहलाती है। नेपाल सरकार के राजगुरु गजराज मिश्र के अनुसार उस सन्धि के अनुसार गोरखा-राज्य की सीमा हरिद्वार के निकट तक पहुच गई थी। सिरमौर के राजा जगत प्रकाश के साथ हुई सन्धि भी शान्ति-सन्धि थी। यह सन्धि सन् १७९२ मे हुई थी। वापिस लौटते हुये राजा जगतप्रकाश बीमार हो गया और भागीरथी के किनारे लक्कड़घाट नामक स्थान पर इसकी मृत्यु हो गई। लगभग दो वर्षो में नैपाली सेना ने कुमाऊ पर पूरी तरह अधिकार कर लिया एवं गढ़वाल शान्ति-सन्धि के अन्तर्गत गोरखा साम्राज्य का भाग बन गया। नैपाल सरकार ने श्रीनगर गढ़वाल मे कालू खवास और बीर रौतया को अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया। सन् १७९२ में नेपाल पर तिब्बत के मार्ग से चीन का आक्रमण हो गया और नैपाल का अपना अस्तित्व ही खतरे मे पड़ गया। इसका परिणाम यह हुआ कि पश्चिम की ओर गोरखा-सेना की गति रुक गई। नैपाली राजा ने गढ़वाल और कुमाऊ से सेनाओ को वापिस बुला लिया। अभी गोरखा-सेना पूर्वाभिमुख हुई ही थी कि उधर नैपाल सरकार और चीन के बीच सन्धि होकर शान्ति स्थापित हो गई। पर अगले दस वर्ष तक गोरखाओ द्वारा विजित कुमाऊ

और गढवाल की स्थिति वैसी ही बनी रही। गोरखा शासकों ने इस अवधि में इन क्षेत्रों का अमानवीय ढग से शोषण किया, यहा तक कि गाव निर्जन हो गये, खेत बजर पड गये और चारो ओर भय व आतक छाया रहा।

गढ़वाल पर पुनः गोरखा आक्रमण—

सन् १७९४ से १८०३ तक नेपाल दरबार की अपनी आन्तरिक स्थिति इतनी भयावह थी कि इसमे षड्यन्त्र और रक्त-पात का कुचक्र चलता रहा। फलत सन् १८०३ तक नेपाल साम्राज्य का विस्तार पश्चिम की ओर रुका रहा। परन्तु सन् १८०३ मे पुन एक विशाल नेपाली सेना ने कुमाऊ से चलकर उत्तर-पूर्वी मार्ग से गढवाल मे प्रवेश किया। उसी वर्ष गढवाल मे एक भयकर भू-कम्प आया था जिससे श्रीनगर शहर राजमहलो समेत ध्वस्त हो गया था, खेत व गाव नष्ट हो गये, पानी के स्रोत सूख गये। गढवाल का राजा प्रद्युम्नशाह गोरखा-सेना का मुकाबला न कर सका। वह अपने परिवार और सैनिको के साथ बाडाहाट (उत्तर काशी) के मार्ग से देहरादून पहुच गया। मार्ग मे एक-दो स्थानो पर गोरखा और गढवाली सेनाओं मे मुठभेड हुई, परन्तु गढवाली सैनिक प्रशिक्षित गोरखा सैनिको के सामने टिक न सके। गोरखा-सेना के साथ अमरसिंह थापा, बमशाह, रुद्रवीर शाह, भक्ति थापा, रणजौरसिंह थापा जैसे अनुभवी सेना नायक थे। नैपाली सेना ने प्रद्युम्नशाह का पीछा किया।

प्रद्युम्नशाह ने अपना सोने का सिंहासन और बद्रीनाथ मन्दिर के स्वर्ण पात्र और हीरे-मोती डेढ लाख रुपये पर बन्धक रखे और लण्ढौरा (सहारनपुर) के राजा रामदयालसिंह से बारह हजार सैनिक लेकर गोरखाओ का मुकाबला करने का साहस किया। देहरादून मे यह युद्ध हुआ, परन्तु गढवाली सेना हार गई। राजा प्रद्युम्नशाह अपने तम्बू के सामने घोडे पर सवार था। उस समय गोरखा-सेना की गोली से वह धराशायी हो गया और गढवाली सेना मे भगदड पड गई। इस युद्ध मे एक हजार गढवाली सैनिक मारे गये। राजा के मरने के समाचार से सारे दून और गढवाल क्षेत्र मे आक्रोश और क्षोभ से सनसनी फैल गई। राज-परिवार राजा के पुत्र सुदर्शनशाह सहित ज्वालापुर चला गया जहा वह सन् १८१५ तक प्रवास और विपन्नता के दिन झेलता रहा। दून और गढ़वाल क्षेत्र पूरी तरह से गोरखा-सेना के अधिकार मे आ गया।

राजाओं की आपसी फूट गोरखा प्रसार मे सहायक—

उधर कागडा, बिलासपुर, सिरमौर और हण्डूर (नालागढ) मे ऐसी महत्वपूर्ण घटनाए इसी अवधि मे हो रही थी जिसके फलस्वरूप ये राज्य गोरखा-सैन्य शक्ति के प्रभाव या सघर्ष की लपेट मे जल्दी आ गये और नेपाली देहरादून मे आने के तीन वर्ष के अन्दर ही कागडा क्षेत्र तक पहुच गये। उस समय हण्डूर मे रामसिंह नाम का एक अत्यन्त महत्वाकाक्षी राजा था, कागडा मे ससारचन्द अपने उत्कर्ष के चरम बिन्दु पर था। बिलासपुर का तत्कालीन राजा महाचन्द अभी नाबालिग था। शासन राजमाता और मत्री चलाते थे। सिरमौर मे कर्मप्रकाश नाम का राजा बहुत क्रूर और अत्याचारी

शासक था। बहुत से दरबारी और सिरमौर के गण्य मान्य व्यक्ति इसके विरुद्ध थे। राज्य मे लगभग विद्रोह की स्थिति थी। बारह बडी ठकुराइया बिलासपुर के हाथ से निकल चुकी थी और अब नाम मात्र के लिये ये सिरमौर के अधीन थी। कागडा समुदाय के राजा भी ससारचन्द के दमन, शोषण और स्वेच्छाचारी शासन से तग थे और वे ससारचन्द से छुटकारा पाना चाहते थे, पर सगठित होकर मुकाबला करने का किसी मे साहस नही था। चम्बा, मण्डी, कुल्लू सभी मन से ससारचन्द का पतन चाहते थे। दून मे ठहरा गोरखा-स्कन्धावार (सैन्य-शिविर) ससारचन्द सहित सभी के पतन और विनाश का सूचक था। हण्डूर का राजा रामसिंह बिलासपुर की दुर्बल स्थिति से लाभ उठाना चाहता था। ससारचन्द ने सन् १७६६ मे पहले ही कहलूर (बिलासपुर) राज्य का कुछ भाग हडप लिया था। रामसिंह और ससारचन्द ने मिलकर अब बिलासपुर के विरुद्ध अभियान आरम्भ किया। इसमे मुख्य लाभ ससारचन्द को ही था, वह सतलुज पार के क्षेत्र पर पूरी तरह अधिकार करना चाहता था। हण्डूर के राजा रामसिंह को उसने १२ बडी ठकुराइयों के अधिकार का प्रलोभन देकर अपने साथ मिला लिया।

उस समय १२ बडी ठकुराइया सिरमौर के अधिकार मे थी, पर सिरमौर की आन्तरिक अवस्था विद्रोह और अशान्ति से क्षुब्ध थी। राजवश का कुवर किशनसिंह विद्रोहियो का नेता था। वे कर्मप्रकाश का अन्त करना चाहते थे। राजा कर्मप्रकाश नाहन से भाग कर क्यारदा दून मे एक ऊची पहाडी पर स्थित कागडा नाम के किले मे छिप गया। सेना भी इसके विरुद्ध हो गई। सेना ने इस किले को घेर लिया और एक व्यक्ति जिसकी शक्ल राजा से मिलती थी, मारा गया। राजा कर्मप्रकाश भाग कर यमुना पार कालसी चला गया। उधर हडूर और कागडा की सेनाओ ने सिरमौर के उस क्षेत्र को लूटना आरम्भ कर दिया जो हडूर राज्य की सीमा के साथ लगता था और नाहन के निकट तक पहुच गई। राजा कर्मप्रकाश दून मे अमरसिंह थापा के पास गया और उससे पुरानी मैत्री-सन्धि के आधार पर सहायता मागी। गोरखा सरदार ने भक्ति थापा के नायकत्व मे एक हजार सैनिक हडूर और कागडा की सेनाओ का मुकाबला करने के लिये भेजे, परन्तु गोरखे हडूर और कागडा की सयुक्त सैन्य शक्ति का मुकाबला न कर सके। यह युद्ध नाहन के सामने जमटा की धार मे हुआ था। इस पराजय के बाद अमरसिंह थापा स्वय गोरखा सेना को लेकर नाहन की ओर चला। उसने कागडा और हडूर की सेनाओं को खदेड दिया और साथ ही विद्रोहियो को भी दबाया। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय ससारचन्द और नैपालियो के मध्य कोई सन्धि हुई थी। इस सन्धि के अनुसार सतलुज को कागडा की सीमा माना गया और गोरखा शक्ति ने कागडा पर ससारचन्द के शासन को मान्यता प्रदान की। यह एक प्रकार से मैत्री-सन्धि थी, परन्तु कागडा क्षेत्र पर गोरखाओ द्वारा आक्रमण के समय तक नैपाल सरकार ने इसकी पुष्टि नही की थी। अमरसिंह थापा ने सिरमौर पर अधिकार कर लिया और कर्मप्रकाश को सिरमौर राज्य पर नाम मात्र का अधिकार दे दिया। पर वास्तविक सत्ता अमरसिंह थापा के हाथ मे थी। सन् १८०४मे अमरसिंह थापा ने यमुना पारकरके सिरमौर म प्रवेश किया

और मई १८०६ मे उसने सतलुज को पार करके कागडा की ओर प्रस्थान किया। लगभग दो वर्ष का समय उसने यमुना और सतलुज नदियो के बीच के क्षेत्र मे लूट-पाट और दर्जनो छोटी-बडी ठकुराइयो को अपने अधीन करने मे बिताए। नाहन मे रहते हुये उसने इस क्षेत्र के छोटे-बडे सभी ठाकुर और राणाओ को वहा बुलाया। कुछ ठकुराइयो पर अधिकार करने के लिये सम्भव है कि उसने कुछ सैनिको को उत्तर दिशा की ओर भेजा हो। बघाट और जुणगा के राणाओ ने विशेष रूप से इस अभियान मे गोरखाओ की सहायता की, ऐसा मेजर कनेडी के विवरण से प्रतीत होता है। इन ठाकुरो की कोई सगठित सेना नही होती थी। लडाई या लूट-पाट के समय ये ठाकुर शासक प्रजा को बुलाकर धनुष-बाण, तलवार, खड्ग और कभी-कभी बन्दूकें लेकर धावा बोलते थे अथवा सकट के समय अपने क्षेत्र की रक्षा करते थे। सकट समाप्त होने पर ये अपने-अपने घरो को लौट जाते थे। इस प्रकार के गैर-पेशावर जन-समूह का मुकाबला करना, प्रशिक्षित सैनिको के लिये कोई कठिन काम नही होता था। नैपाली सैनिक प्रशिक्षित और अस्त्र-शस्त्रो से सुसज्जित थे। नैपाली सेना का सगठन और प्रशिक्षण प्राय ईस्ट-इण्डिया कम्पनी सरकार की सैनिक प्रणाली पर था। अत ऐसी सैनिक टुकडियो को और ठकुराइया को जीतना कोई कठिन काम नही था।

अमरसिंह थापा शिवालिक क्षेत्र मे—

नाहन मे अपनी स्थिति सुदृढ करने के बाद और इन छोटी-छोटी ठकुराइया को डरा-धमका या लडाई के द्वारा अधीन करने के पश्चात् अभी गोरखा सेनापति अमरसिंह थापा को, बिलासपुर और हडूर (नालागढ) के राजा रामसिंह को अपने अधीन करना था। हडूरी राजा रामसिंह ने न केवल सिरमौर और उसके अधीनस्थ ठकुराइया मे हस्तक्षेप किया था, बल्कि बिलासपुर का क्षेत्र भी इसके अतिक्रमण और लूट-पाट से बहुत क्षुब्ध था। अमरसिंह थापा सिरमौर के राजा कर्मप्रकाश और कई ठकुराइयो के शासको के दल को लेकर हडूर की ओर चल पडा। हडूर राज्य दक्षिणी शिवालिक क्षेत्र मे बाघल और सतलुज नदी के मध्यवर्ती इलाके मे फैला था। यह सारा शिवालिक का आचल क्षेत्र था। उत्तरी भाग मे शिवालिक की शृखलाओ की चोटियो पर कई किले थे, रामगढ, तारागढ, सूरजगढ, नालागढ, अजयगढ आदि। गोरखा सैनिका ने आसानी से इन सभी किलो पर अधिकार कर लिया। इसी क्षेत्र के राज्य जैसे अरकी, बघाट, कुनिहार, बेजा, कुठाड आदि पहले ही गोरखा-आतक और अधिकार की परिधि मे आ चुके थे। जिन्होंने चुपचाप गोरखा अधिकार को स्वीकार कर लिया, वे तो अपने प्राणो को बचा सके, जिन्होने थोडा भी विरोध किया वे गोरखाओ के कोप-भाजन हुये और उनको अपने प्राण बचाने के लिये अन्यत्र भागना पडा। कइयो को उन्होने पदच्युत किया और कइयो को उन्होंने सर्वस्वहीन किया। गोरखा बहुत क्रूर और कठोर फौजी शासक थे। उनकी स्मृति पहाडी क्षेत्र में लूट-पाट और कठोरता एव आतक से सम्बद्ध अधिक है और उदारता, दया, करुणा, क्षमा आदि मानवीय गुणो से बहुत कम है।

बिलासपुर का राजा महाचन्द हडूर और ससारचन्द के द्वारा हस्तगत किये इलाको को पुन प्राप्त करने के लिये आतुर था। यही नही वह ससारचन्द से बदला लेना चाहता था। उधर कागडा समुदाय के राजा भी गुप्तरूप से ससारचन्द के विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहे थे। अमरसिंह थापा का शिवालिक क्षेत्र मे आना, महाचन्द और अन्य राजाओ को ससारचन्द से बदला लेने का एक स्वर्णिम अवसर-जैसा लगा। महाचन्द ने सब से पहले गोरखा सरदार को कागडा पर आक्रमण करने के लिये प्रेरित किया। महाचन्द गोरखा शक्ति के सम्मुख नतमस्तक हो गया। गोरखा सरदार का ज्योतिषी शिवदत्त महाचन्द का परामर्शदाता बनकर बिलासपुर मे सर्वेसर्वा था। महाचन्द तो नाम मात्र के लिये कहलूर का राजा था। इस अवधि मे अमरसिंह थापा न यमुना नदी और सतलुज नदियो के मध्य समस्त पहाडी क्षेत्र को अपने अधीन कर लिया था। कहलूर राज्य के दक्षिण-पूर्व म स्थित हडूर के सभी महत्वपूर्ण किला पर गोरखा सरदार का अधिकार था। उसने रामसिंह को नालागढ से खदेड दिया। उसने अपने राज्य मे स्थित गंदानी क्षेत्र मे पलासी के दुर्ग मे शरण ली। अमरसिंह ने हडूर के इस किले को हस्तगत नही किया था। इसका परिणाम कागडा अभियान के समय उसके लिये सामरिक दृष्टि से घातक सिद्ध हुआ।

दो वर्षों की अल्प अवधि मे समस्त यमुना-सतलुज क्षेत्र पर गोरखा-सैन्य शक्ति की दुन्दुभि बजने लगी, १२ बडी और १८ छोटी ठकुराईया, सिरमौर, कहलूर और हडूर राज्य देखते-देखते गोरखा-शक्ति के सम्मुख बिखर गये। अमरसिंह थापा को यह सब अप्रत्याशित सफलता प्रतीत हुई। तब तक अमरसिंह थापा को नैपाल सरकार की ओर से "काजी" की सब से ऊची सैनिक उपाधि मिल चुकी थी। यह उपाधि आधुनिक युग की 'जनरल' की उपाधि के समक्ष प्रतीत होती है। यह स्मरण रहे, उस समय अमरसिंह थापा की आयु ७० वर्ष से अधिक थी। काजी का लक्ष्य तो काश्मीर विजय था, वह हजारा और गिलगित तक के क्षेत्र को गोरखा साम्राज्य की सीमा के अन्तर्गत लाना चाहता था। उसके मार्ग मे बाधा कोट-कागडा था। सिरमौर मे वह ससारचन्द की सैन्य-शक्ति को भी आजमा चुका था।

कोट कांगडा पर गोरखा आक्रमण—

अपनी आशातीत सफलता पर मुस्कराते हुए, थापा ने मई १८०६ मे सतलुज नदी पार की और कहलूर क्षेत्र मे उस भाग मे प्रवेश किया जिसको ससारचन्द ने कहलूर से छीना था। मोहाल मोरी नामक स्थान पर थापा की पहली मुठभेड कागडा की सेना से हुई और आसानी से गोरखाओ ने ससारचन्द की फौज को खदेड दिया। परन्तु उस समय गोरखा सरदार को पता लगा कि ससारचन्द का एक फौजी दस्ता दक्षिणी भाग मे सतलुज को पार करके हडूर राज्य म रामसिंह की सेना मे जा मिला है। उस समय गोरखाओ का मुख्य केन्द्र अरकी था। अरकी का राजा भाग कर सुकेत मे रह रहा था और अरकी के महलो मे गोरखा सरदार रह रहे थे। अरकी, बिलासपुर और नालागढ़ क्षेत्र से फौजी मार्ग गुजरता था और सेना के लिये रसद इसी मार्ग और

क्षेत्र से आती थी। हडूर का राजा रामसिंह कांगडा की सहायता से इस क्षेत्र में लूट-मार और गोरखा सैन्य केन्द्रों पर आक्रमण कर रहा था। उसने अपने कुछ किले गोरखाओं से छीन लिये। उधर थापा अपनी मुख्य सेना को लेकर जुलाई तक कागडा पहुच गया और उसने किले का घेरा डाला। ससारचन्द सुजानपुर टीरा के किले में था जहा वह अर्की-नदौण सैन्य-मार्ग पर गोरखा सैनिकों पर घात लगाकर रसद व अन्य सामग्री को आने-जाने में बाधा पहुचा रहा था। कोट कांगडा में ससारचन्द का लडका अनिरुद्धसिंह और अन्य अधिकारी थे। एक अन्य गोरखा सरदार भक्ति थापा ने जो अमरसिंह की भान्ति ७० वर्ष से ऊपर एक अनुभवी सेना-नायक था, सुजानपुर टीरा के किले का घेरा डाला, परन्तु उसको यह घेरा उठाना पडा क्योंकि हडूर का राजा रामसिंह गोरखा रण-क्षेत्र के पृष्ठ भाग में उत्पात मचा रहा था। भक्ति थापा को उसका दमन करने के लिये वापिस कहलूर और हडूर क्षेत्र में आना पडा, परन्तु रामसिंह ऐसे अवसर पर पलासी के किले म शरण ले लेता। सैनिकों की कमी के कारण रामसिंह को पूरी तरह पराजित करना सम्भव नही था। परन्तु उस समय काठमाण्डू से नयनसिंह नाम के गोरखा सरदार के साथ आई एव सैनिक टुकडी ने रामसिंह को नियत्रण मे रखा। इस अवधि में भक्ति थापा ने सुजानपुर टीरा का घेरा प्रबल किया। नेपाली इतिहासकार लुडविगस्टिलर के अनुसार भक्तिथापा सितम्बर १८०६ म टीरा पर अधिकार करने में सफल हुआ। परन्तु कांगडा का घेरा बिना किसी महत्वपूर्ण लडाई के चलता रहा।

किले के अन्दर पर्याप्त रसद और युद्ध सामग्री थी, यहा तक कि चार हजार सैनिकों के लिये किले के अन्दर ही अन्न पैदा हो सकता था। मुगल नवाब सैफअली खान सन् १७४४ से १७७४ तक तीस वर्ष इसी किले की उपज से अपने आप को बचा सका। पर नैपालियो को यह सान्त्वना थी कि किले म इतने अधिक लोग है कि रसद अधिक दिन तक नही चल सकेगी। और इसके भी कुछ एसे ही दुरुपयोग एव घेरा लम्बा होने से रसद समाप्त होने लगी। उधर गोरखा भी लम्बे अवधि के घेरे से तग आ रहे थे। रोग-बीमारी और गन्दगी से इनकी सख्या घट रही थी सेना अकर्मण्य-सी हो रही थी। गोरखा सरदारों ने आपस मे परामर्श किया कि इस अकर्मण्य स्थिति से कैसे निपटा जाय। नयनसिंह नामक युवक ने किले के मुख्य द्वार से आक्रमण करने का प्रस्ताव किया, परन्तु अन्य सरदार इससे सहमत न थे। नयनसिंह नैपाल के तत्कालीन प्रधानमत्री और वास्तविक शासक भीमसिंह थापा का छोटा भाई था। नयनसिंह ने अपना फौजी दस्ता लेकर किले के मुख्य द्वार से आक्रमण बोल दिया, परन्तु किले के अन्दर से गोली लगने से नयनसिंह की मृत्यु हो गई। नैपाली सेना का यह प्रयास भी विफल हुआ। यह घटना सन् १८०८ की थी।

कांगडा क्षेत्र में लूट-पाट—

अमरसिंह थापा के साथ पहाडी राजाओ और ठाकुरो का एक काफिला ही आया था। इसमें छोटी-बडी तीस ठुराइया के कई ठाकुरो के अतिरिक्त कांगडा

समुदाय के राजा भी थे, परन्तु ये उन्मुक्त होकर संसारचन्द के राज्य को लूट रहे थे। संसारचन्द के सैनिक और गोरखा घेरे में व्यस्त थे। संसारचन्द का क्षेत्र सर्वथा अरक्षित था। इसको गोरखा और अन्य ठाकुर व राजे लूट रहे थे। इसका परिणाम यह हुआ कि गांव निर्जन हो गये, खेत बंजर पड़ गये। नगरों और गांवों में भेड़िये, सियार और बाघ विचरण करने लगे। कांगड़ा का घेरा तीन वर्ष चला। इस अवधि में कांगड़ा-उपत्यका की भूमि उर्वरा अन्न के स्थान पर जंगली घास, भांग धतूरा आदि उगाने लगी। बिलासपुर और नालागढ़ क्षेत्र में भी गोरखाओं के सहायक ठाकुर और राणे लूट मार कर रहे थे। गोरखाओं को रसद देने में अड़चन पैदा कर रहे थे। एक प्रकार से इन ठाकुरों और राजाओं ने नैपालियों का विरोध करना आरम्भ कर दिया था। उधर कांगड़ा में गोरखा सेना में हैजा की महामारी फैल गई। इनकी संख्या काफी घट गई। किले के अन्दर घिरे संसारचन्द के सैनिक भी तंग थे और बाहर घेरा डाले नैपाली रसद की कमी, दुःख, बीमारी, अनिश्चितता और अकर्मण्यता की स्थिति से क्षुब्ध थे।



९. कोट कांगड़ा पर महाराजा रणजीतसिंह का अधिकार

सन्धि का प्रस्ताव

एक विवरण के अनुसार जब अमरसिंह थापा किले को आक्रमण के द्वारा न जीत सका और किले का घेरा लम्बी अवधि का होने लगा एवं थापा के साथ आये ठाकुर और राजा-राणे सहायता करने के बजाय उत्पात मचा रहे थे, उस समय थापा ने ससारचन्द से सधि का प्रस्ताव किया था, परन्तु ससारचन्द ने बड़े तिरस्कार के साथ इस प्रस्ताव को यह कहकर ठुकराया कि मैं अमरसिंह थापा जैसे खश्या के साथ सन्धि की वार्ता करने को तैयार नहीं हूँ। यदि सन्धि की बात करनी है तो राजवंश के रुद्रवीर शाह से मैं बात कर सकता हूँ, इससे कम दर्जे के व्यक्ति से मैं सन्धि की बात नहीं करूंगा। इस तिरस्कार से क्षुब्ध होकर थापा ने एक पत्र तत्काल नैपाल दरबार को भेजा कि रुद्रवीरशाह के साथ पहले की गई सन्धि का अनुमोदन न किया जावे जिसके अनुसार सतलुज कागड़ा और गोरखा राज्य की सीमा मानी गई थी और नैपाल दरबार के द्वारा कागड़ा पर ससारचन्द के राज्य को मान्यता दी गई थी। नैपाल राजवंश के बन्धुत्रय, ब्रह्मशाह, हस्तिदल शाह और रुद्रवीर शाह को अमरसिंह थापा अपना कट्टर शत्रु समझता था। उस समय उसका भतीजा भीमसिंह थापा नैपालदरबार मे प्रधान मत्री था। परिणामत थापा सरदारो का दरबार म बोलबाला था। अमरसिंह थापा ने हस्तिदल शाह को तत्काल गढ़वाल के सूबा (राज्य पाल) पद से हटवाया और रुद्रवीरशाह को सेना के नायकत्व स अलग करवा दिया। सम्भवत सधि का यह प्रस्ताव घेरे के पहले या दूसरे वर्ष किया गया हो जब गोरखा सना आक्रमण के द्वारा किले को न जीत सकी हो और विवश होकर उसको लम्बी अवधि का घेरा डालना पड़ा हो। उस समय की स्थिति का कुछ आभास थापा के एक पत्र स मिलता है जो उसने अग्रेज अधिकारी अखतलोनी को लिखा था। उस पत्र मे अमरसिंह थापा ने यह शिकायत की थी

"करोड़ो रुपयो का व्यय करके और कई सनिको के प्राणो को खोकर मैंने किले का घेरा डाला। ससारचन्द ने यह प्रार्थना की कि उसको किला छोड़ने का अवसर दिया जाय, परन्तु उसको भी अपने जीवन निर्वाह के लिए कुछ चाहिए। इस पर हम दोनो के मध्य एक समझौता हुआ और धर्म और ज्वालामुखी की शपथ खाकर यह समझौता पक्का किया गया। इसके अनुसार कोटकागड़ा और तारागढ़ (नालागढ़ क्षेत्र

मे स्थित) किले पर मेरा अधिकार होना था और संसारचन्द ने चार हजार रुपये वार्षिक कर के रूप मे देना माना था। सुजानपुर टीरा के किले और सारे कागड़ा क्षेत्र पर संसारचन्द का अधिकार होना था। दस दिन के पश्चात इस समझौते को कार्यान्वित किया जाना था। मैंने यह स्वीकार किया और किले के दक्षिण द्वार, गणेश घाट से अपनी सेना हटा ली। संसारचन्द इस दस दिन की अवधि मे दिन के समय अपने परिवार और धन सम्पत्ति को किले से बाहर निकालता था और रात के समय किले मे अनाज और अन्य रसद भरता था। दस दिन की समाप्ति पर जब उससे किला खाली करने को कहा तो उसने दो दिन की और मोहलत मांगी। यह भी दी गई।"

"इसके बाद संसारचन्द ने नोरङ्ग पटोन को किले का भार सम्भाला और स्वयं मुहम्मदखान रोहेला के साथ रात को भाग निकला। यदि मैं उसके द्वारा ली गई शपथ और दिये गये वचन पर विश्वास न करता तो, यह, उसकी सारी धन-दौलत, परिवार और किला मेरे हाथ आ जाता, पर उसका बाल भी बांका नहीं हुआ और वह किले से भाग निकला। तब संसारचन्द ने रणजीतसिंह को बुला लिया। रणजीतसिंह ने मुझे सूचित किया कि मैं ज्वालामुखी तीर्थ-यात्रा पर आ रहा हूं। अतः स्वार्थी लोगों द्वारा फैलाई अफवाहों पर ध्यान न दिया जाय। परन्तु रणजीतसिंह संसारचन्द के साथ कागड़ा की ओर बढ़ा। नेपाल सरकार और रणजीतसिंह के बीच दो सन्धियां हुई थी जिनके अनुसार नेपाल सरकार के शत्रु व मित्र रणजीतसिंह के शत्रु व मित्र होंगे और इसी प्रकार सिख-दरबार के शत्रु व मित्र नेपाल-दरबार के शत्रु व मित्र होंगे। इनके होते हुए भी रणजीतसिंह हमारे विरुद्ध कागड़ा मे आया। दो लड़ाइयां हुई, पहली नगर मे और दूसरी गणेश घाट पर। इन लड़ाइयों मे हमारा एक सरदार और ६० सैनिक मारे गए तथा १०० घायल हो गये। रणजीतसिंह के १००० आदमी मारे गये और १२०० घायल हुये। उसने चारों ओर से मेरी घेरा बन्दी कर दी और मुझे रसद की कमी हो गई। उधर हुडूर के राजा रामसिंह ने उत्पात मचाया हुआ था। उसका दमन करने के लिए मैं कांगड़ा से चल पड़ा, परन्तु मेरे पहुंचने से पहले ही रामसिंह भाग गया। नाहन का राजा कर्मप्रकाश भी मेरे विरुद्ध हो गया था।"

"कर्मप्रकाश के सम्बन्ध मे तथ्य यह है कि उसकी प्रजा ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। इस विद्रोह का नेता कुंवर किशनसिंह था। लोगो ने कर्मप्रकाश को अपने ही इलाके से निकाल भगाया था। मैंने उसका राज उसको दिलाया। यह लिखित रूप मे तय हुआ था कि वह अपनी सेना को लेकर मेरे साथ कांगड़ा आवेगा, पर उसने ऐसा कुछ नहीं किया। इसके विपरीत वह बिलासपुर मे लूटमार करता रहा। उसने हडूर में जिन किलो पर मेरा अधिकार था उनको छीन लिया। उसने मेरे वकील (राज-दूत) विष्णुदत्त उपाध्याय की हत्या करदी। वह ब्राह्मण था। उसने ब्रह्महत्या की। मैंने अपने लड़के रणजोर को उसको समझाने के लिये भेजा। परन्तु वह मेरे भय के मारे भाग गया। अब मेरे पुत्र ने नाहन के निकट सब किलो पर अधिकार कर लिया है।"

रणजीतसिंह से सहायता की माँग और सन्धि—

एक अन्य विवरण के अनुसार जब किले का घेरा काफी लम्बी अवधि का हो गया, किले में रसद की कमी अनुभव हो रही थी और कोई निर्णायक परिणाम नहीं दिखाई दे रहा था तो राजा संसारचन्द ने अपने छोटे भाई फतेहसिंह को सहायता मांगने के लिए रणजीतसिंह के पास लाहौर भेजा। १ जून १८०९ में रणजीत सिंह पठानकोट में पहुंचा। जब पहाड़ के राजाओं को रणजीत सिंह के आने का समाचार मिला तो जो नाम मात्र के लिये अमरसिंह थापा के साथ थे, वे सब भी रणजीतसिंह के साथ मिल गये और नेपालियों को उन्होंने रसद देना बन्द कर दिया। रणजीतसिंह भी यही चाहता था। जुलाई मास में रणजीतसिंह ज्वालामुखी में अपना सैनिक शिविर डाले हुये था। यहां पर राजा संसारचन्द और रणजीतसिंह के मध्य एक सन्धि हुई। इस सन्धि के अनुसार कोट-कांगड़ा पर रणजीतसिंह का अधिकार हुआ और इसके साथ ही ६६ गांवों की कारदारी जो अकबर के समय में किले की रक्षा और रख रखाव के लिये राजा टोडरमल ने स्थापित की थी, उस पर भी रणजीत सिंह का अधिकार माना गया। शेष कांगड़ा क्षेत्र संसारचन्द को दे दिया गया। कांगड़ा के कुछ गांव जो सम्भवतः उस समय अन्य राज्यों के पास थे, रणजीतसिंह ने जीत कर संसारचन्द को वापिस देने का वचन दिया। रणजीत सिंह ने नेपालियों को सतलुज और यमुनापार भगाने की प्रतिज्ञा की। इस सन्धि की सत्यता को सिख गुरुओं और ज्वालामुखी की शपथ लेकर पुष्टि की गई। यह सन्धि पंजाबी भाषा में लिखी गई थी और रणजीतसिंह ने केसर में हाथ रंग कर, उस पर अपने हाथ की छाप लगाई थी। इस परिच्छेद के अन्त में इस सन्धि का हिन्दी रूपान्तर दिया गया है।

कांगड़ा से नेपालियों का निष्कासन —

कांगड़ा में पहुंच कर रणजीतसिंह ने गोरखाओं की नाकेबन्दी आरम्भ कर दी जिससे उनको रसद पहुंचना कठिन हो गया। दो लड़ाइयां जिनका उल्लेख अमरसिंह थापा ने अपने पत्र में किया, किले के बाहर हुई। इन में दोनों पक्षों के सैनिक हताहत हुए। एक विवरण के अनुसार गोरखा सरदार महाराजा रणजीतसिंह को प्रचुर धन देकर उससे छुटकारा पाना चाहता था, परन्तु इसमें वह सफल न हो सका। फिर यह दांव पेंच भी चला कि गोरखा सरदार और रणजीतसिंह दोनों मिलकर किले पर अधिकार कर लें। उधर संसारचन्द भी यह देख रहा था कि वह भी इस स्थिति से कुछ लाभ उठाये और किला उसके हाथ से न जाय, परन्तु जब रणजीतसिंह को इन दावपेचों का आभास हुआ तो उसने संसारचन्द के ज्येष्ठ पुत्र अनिरुद्धसिंह को बन्धक के रूप में लेकर किले में प्रवेश किया। किले पर अधिकार तब तक संसारचन्द के सैनिकों का था। तब रणजीतसिंह ने नेपाली सरदार अमरसिंह थापा को स्पष्ट शब्दों में किला छोड़ देने को कहा। थापा के पास कोई चारा न था। उसका तीन वर्ष का परिश्रम और प्रयास विफल हो गया। रोग बीमारी और युद्ध

मे नष्ट हुई बची-खुची सेना लेकर थापा ने भारी मन से सतलुज को पार कर कहलूर (बिलासपुर) मे प्रवेश किया। काठमाण्डू से सन् १८०३ मे चलकर थापा ने कभी पराजय का मुह नही देखा था। गढवाल, दून क्षेत्र, सिरमौर, हडूर, कहलूर और १२ बडी और १८ छोटी ठकुराइयो को रौंदता हुआ वह कागडा के किले के बाहर वाण-गगा के किनारे पर पहुचा था जहा तीन वर्ष तक वह लडाई और महामारी से अपनी सेना का नि.सहाय सहार देखता रहा। रणजीतसिंह ने कुछ ही दिनो मे उसके कश्मीर-विजय के स्वप्न को भग कर दिया। मुडता हुआ वह वापिस आकर हडूर, सिरमौर और छोटी-बडी ठकुराइयो पर टूट पडा। सिरमौर के राजा कर्मप्रकाश और सभी ठाकुरो ने थापा के साथ विश्वास-घात किया था। वे सभी उसके कोप-भाजन बने। गोरखाओ द्वारा सतलुज और यमुना के मध्यवर्ती पहाडी ठकुराइयो और शिवा-लिक क्षेत्र के बडे राज्यो की विजय कागडे के घेरे के समय सर्वथा भ्रामक और क्षण-स्थायी सिद्ध हुई। नैपाली दमन और बर्बरता मे सिद्धहस्त थे, परन्तु विजित क्षेत्रो मे सुव्यवस्थित शासन प्रबन्ध स्थापित करने मे वे कुमाऊ, गढवाल एव पश्चिमी हिमालय क्षेत्र मे सर्वथा विफल रहे।

गोरखा सैनिक शासन :—

नैपाली सेना के सरदारो को विजित क्षेत्रो मे जागीर प्रदान की जाती थी। ये सरदार या सेना-नायक अपनी जागीर की आय से अपने अधीन सेना का भरण-पोषण करते थे, उनका अपना वेतन और सैनिको का वेतन इसी जागीर से प्राप्त होता था। इनकी उपाधि फौजदार थी। ये फौजदार अपनी जागीर के सैनिक और असैनिक प्रबन्ध चलाते थे। सैनिक और उनके नायक अपनी अपनी आवश्यकता के अनुसार प्रजा का शोषण करते थे। इनका व्यवहार सर्वथा स्वेच्छाचारी और बर्बतापूर्ण होता था। गढवाल मे, विशेष रूप से, इन्होने प्रजा पर बहुत अत्याचार किये। पुराने जमीदार और अन्य प्रतिष्ठित वर्ग की हत्या करके समूल नष्ट किया और अपनी ओर से नये वर्ग और अधिकारियों का सृजन करने का प्रयास किया। बहुत से जमीदार लगान के अपने पुराने रिकोर्ड को लेकर भाग गये। इसका परिणाम यह हुआ कि इन सैनिक शासकों के पास लगान नियत करने का कोई आधार, परम्परा या मापदण्ड न रहा, मन चाहे ढग से इन्होने लोगो का शोषण किया। जो लगान या दण्ड का भुगतान न कर सके, वे या तो गुलाम बनाकर बेच दिये गये अथवा वे अपने घर और गाव को छोड कर अन्यत्र अपने प्राण बचाने को भाग गये। पश्चिमी हिमालय क्षेत्र की शासन व्यवस्था के सम्बन्ध मे कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती है। इस क्षेत्र मे इनको अधिक समय तक रहने का अवसर भी नही मिला। पहाडो के ऊपर जहां-जहा किले थे, वहा गोरखाओ के सैनिक रहते थे। वे ही उस क्षेत्र के शासक थे और मनमाने ढग से रसद और अन्य आवश्यकता की वस्तुए ये लोगो से प्राप्त करते थे। पर गढवाल की भाति इस क्षेत्र मे दमन-चक्र की गाथाए कम हैं।

थापा ने हंडूर राज्य के सभी किलों पर पुन अधिकार कर लिया था और उनमे गोरखा सैनिको को रखा। हंडूर का राजा शिवालिक के आंचल मे पलासी के किले मे जा छिपा। शिवालिक क्षेत्र के छोटे-छोटे राज्य जैसा कुठाड बेजा महलोग अपने कनिहार, अरकी, बघाट, कोयल आदि अमरसिंह थापा की पकड मे थे। नाहन की ओर थापा ने पुत्र काजी रणजोर को पहले ही भेज दिया था। उसने सिरमौर क्षेत्र के किलो पर अधिकार किया और स्वय नाहन के किले मे रहने लगा। राजा कर्मप्रकाश ने अपने जागीरदार खुशहालसिंह से स्पाटू मे शरण मागी, परन्तु उसके पुत्र नारायणसिंह ने उसको शरण देने से इन्कार कर दिया। आस-पास के राजाओ ने भी नेपालियो के भय से उसको शरण या सहायता नही दी। अन्तत कर्मप्रकाश अम्बाला मे बरिया नामक स्थान पर रहने लगा। सन् १८२६ म यही इसका प्राणान्त हुआ। इस क्षेत्र म बेजा का एक छोटा सा राज्य था। गोरखा आक्रमण के समय किशनचन्द नाम का ठाकुर इसका शासक था। यह आयुर्वेद का ज्ञाता था। वैद्य होने के नाते वह गोरखा अधिकारियो का विशेष कृपा पात्र था। परन्तु सन् १८१४-१५ के गोरखा और अ ग्रेजो के युद्ध मे अन्य राजा-राणाओं की भान्ति वह भी अग्रेजो का पक्षधर बन गया।

राजा ससारचन्द और महाराजा रणजीतसिंह के मध्य हुई सन्धि का हिन्दी रूपान्तर.—

महाराजा रणजीतसिंह और राजा ससारचन्द के मध्य श्रावण, सम्वत् १८६६ वि० (तदनुसार २० जुलाई सन् १८०९) को ज्वाला मुखी मे हुई सन्धि का हिन्दी रूपान्तर

राजा ससारचन्द के साथ यह सन्धि का इकरारनामा किया जाता है जिसके द्वारा राजा ससारचन्द कोट-कागडा एव सघात क्षेत्र को लाहौर दरबार को अधोलिखित शर्तों पर, हस्तान्तरित करना स्वीकार करता है :—

(इन धाराओ की पुष्टि हेतु इकरारनामा पर हस्ताक्षर करके एव मुहर लगाकर यह राजा को दे दिया गया है।)

धारा (I) गुरु अकाल की कृपा से सब गोरखाओ को सतलुज और यमुना के पार भगा दिया जावेगा।

धारा (II) अपनी भरसक शक्ति क अनुसार नीचे लिखे क्षेत्र जो गोरखा-शक्ति के आगमन के पश्चात राजा ससारचन्द से छीन लिय गये थे, उनको राजा को सौंप दिया जावेगा। वे क्षेत्र हैं, मरोट, नेहरा (खालसा जी उनको अपने अधिकार मे नही रखेंगे), चौकी बलम, सिव, चनोर, घोसन, चतगढ, तलहट चडियार, चन्दो, बैरा आदि। य मण्डी क्षेत्र मे हैं।

धारा (III) उन सभी क्षेत्रो की आय जो गोरखा आगमन से पूर्व राजा ससार चन्द को प्राप्त होती थी, वह राजा जी के अपने उपयोग के लिये निर्वाध आगे भी इसी प्रकार मिलती रहेगी। और जब तक उपरोक्त व्यवस्था स्थापित नही हो जाती भाई फतेहसिंह कोट-कागडा के अन्दर रहेगा। लेकिन यदि उपरोक्त क्षेत्रो मे से एक या दो

क्षेत्रो का अधिकार राजा जी को न भी दिलाया जा सके तो तब भी खालसा की सेना को कांगडे के किले मे प्रविष्ट कर दिया जावेगा और जो स्थान रह गये हो उनको बाद मे जीत लिया जावेगा।

धारा (IV) कांगडे के किले और सम्घात क्षेत्र को छोडकर लाहौर दरबार को राजा के जीवन, धन-सम्पत्ति, मान और सम्मान पर कोई अधिकार नही होगा और न ही उससे किसी प्रकार की सेवा तलब की जावेगी। सघात क्षेत्र के बदले पहाड मे अन्य स्थानो को जीत कर राजा ससार चन्द को दिया जावेगा।

धारा (V) इस इकरारनामा की उपरोक्त सभी धाराओ को पूरी तरह कार्यान्वित किया जावगा और दोनो पक्षो के बराबर इसमे किसी का प्रकार भी परिवर्तन नही करेंगे।

मैं, अकाल पुरख जी, श्री ज्वालामुखी जी, श्री बाबा नानक जी, श्री गुरू हर जी, श्री अमृतसर जी, श्री गुरू अर्जुन जी, श्री गुरूगोविन्द सिंह जी, श्री बाबा गुरदिता जी और श्री आनन्दपुर जी की शपथ लेकर कहता हू कि मैं निष्ठापूर्वक इस सन्धि का अपनी पूरी शक्ति से पालन करू गा।

यह पक्की सन्धि लिखित रूप मे की गई है ताकि यह निर्विवाद और सम्पूर्ण इकरारनामा बना रहे। यह इकरारनामा ५ श्रावण सम्वत् १८६६ तदनुसार २० जुलाई १८०९) को मंगलवार के दिन श्री ज्वालामुखी जी मे लिखा गया।

सन्धि का स्पष्टीकरण —

इकरारनामा के आरम्भ मे ही ऊपरी भाग मे महाराजा रणजीतसिंह के गुरमुखी मे हस्ताक्षर और मुहर की छाप लगी थी। दूसरी धारा मे जिन स्थानो का उल्लेख है, वे मण्डी ने गोरखा आक्रमण के समय जीत लिये थे। तब कांगडा क्षेत्र मे अराजकता फैली थी। सन्धि की धारा तीन के अनुसार रणजीत सिंह को तत्काल किले पर अधिकार नही सौंप दिया गया था। इसमे यह अपेक्षा की गई थी कि पहले गोरखाओ को सतलुज पार भगाया जाय और ससारचन्द से छीने गये इलाको को उसको वापिस दिलाया जाय तब रणजीतसिंह को किले का कब्जा सौंपना था। आरम्भ मे ससारचन्द का छोटे भाई मियां फतेहसिंह ही किले का अधीक्षक था। इस सन्धि मे यमुना नदी का उल्लेख अनावश्यक था क्योकि उस वर्ष १२ अप्रैल १८०९ को रणजीतसिंह ने अमृतसर मे अग्रेजो के साथ सन्धि की थी जिसके अनुसार सतलुज नदी लाहौर दरबार और अग्रेजो के राज्य की सीमा मानी गई थी। यमुना के पार गोरखाओ को भगाना रणजीतसिंह की शक्ति से बाहर था। कांगडा पहुचने पर गोरखाओं और सिखो के मध्य दो लडाइयो का स्पष्ट उल्लेख है। पहले नगर मे किले के सामने और बाणगंगा के तट पर गणेश घाट मे। इसके बाद सिखो ने गोरखाओ के शिवर चारो ओर से घेर लिया और नावे बन्दी करके रसद के सब मार्ग बन्द कर दिये। यह स्थिति कुछ दिन तक रही। जब कोई निर्णायक परिवर्तन न हुआ तो अन्त मे रणजीतसिंह ससारचन्द के

पुन अनिरुद्धसिंह को बन्धक के रूप मे लेकर किले मे प्रविष्ट हुआ। अविश्वास की भावना तत्कालीन राजनीति मे बहुत अधिक थी। रणजीतसिंह को ससारचन्द पर पूरा विश्वास नही था। अतः उसको अनिरुद्धसिंह को बन्धक बनाने की जरूरत मालूम पडी। किले मे प्रवेश करके रणजीतसिंह ने अमरसिंह थापा को घेरा उठाने को लिखा और आश्वासन दिया कि मैं अवसर पडने पर गोरखाओं की अंग्रेजों के विरुद्ध सहायता करूंगा। थापा को यह पता था कि तीन महीने पहले तो अंग्रेजों और रणजीतसिंह के मध्य शान्ति सन्धि हो चुकी है और ऐसा आश्वासन देकर वह थापा को बेवकूफ बना रहा है। शेष मे थापा ने रणजीतसिंह के दूत को कैद कर लिया इसके प्रतिकार मे सिखो ने एक बडा आक्रमण गोरखा-शिविर पर किया। अब अमरसिंह थापा को निराश होकर सतलुज नदी की ओर प्रयाण करना पडा। इस सन्धि मे कांगडा समुदाय के ग्यारह राज्यो का जो पहले ससारचन्द के अधीन थे, कोई उल्लेख नही है। सम्भवत. यह इस लिये कि तब ये सभी राज्य स्वतत्र हो चुके थे और गोरखाओ के साथ मिलकर ससारचन्द के विरुद्ध लड रहे थे या लडने का अभिनय कर रहे थे। ये राज्य रणजीतसिंह की विजय-लालसा के लिये छोड दिये गये हो। छोटे-छोटे राज्य तो अपने आप ही रणजीतसिंह के कृपा-पात्र बनने के लिये पहले ही उसकी छत्र-छाया मे आ गये थे। अगले पांच-छ. वर्षों मे कुल्लू, मण्डी, सुकेत और चम्बा को छोड शेष राज्यो के शासकों को रणजीतसिंह ने पदच्युत कर जागीर प्रदान की और उनके राज्यो का अपने क्षेत्र मे विलय कर दिया।



१०. अंग्रेजों और नैपाल के मध्य संघर्ष

उत्तरी राज्यों की विजय—

कांगड़ा से पराजित होकर अमरसिंह थापा ने यमुना और सतलुज नदियों के मध्यवर्ती राज्यों को पुनः हस्तगत करने का प्रयास किया। जिन्होंने उसको कांगड़ा के घेरे के समय धोखा दिया था, वे उसके कोप-भाजन बने। सिरमौर का राजा कर्मप्रकाश और नालागढ़ (हडूर) का राजा रामसिंह उनमें प्रमुख थे। कर्मप्रकाश तो भाग कर अंग्रेजों के इलाके की ओर चला गया। रामसिंह ने पलासी के किले में शरण ली। बिलासपुर का राजा महाचन्द थापा का सहायक अबाध रूप से रहा। थापा का प्रतिनिधि शिवदत्तराय बिलासपुर में राजा महाचन्द का परामर्शदाता बना हुआ था। थापा ने सबसे प्रथम हडूर राज्य के पलासी को छोड़ नालागढ़ से लेकर मलौण तक सभी किलों पर अधिकार कर लिया। अरकी और उसके आस-पास के छोटे-छोटे राज्य पहले ही गोरखाओं के अधिकार में थे। काजी अमरसिंह का लड़का रणजोरसिंह थापा पहले ही सिरमौर राज्य का स्वामी बन गया था। रणजोरसिंह ने नाहन के किले को अपना मुख्य केन्द्र बनाया और आस-पास की पहाड़ियों पर स्थित किलों में गोरखा सैनिकों को रखा। इनमें प्रमुख राजगढ़, मोरनी और जैथक के किले थे। जैथक का किला नाहन के सम्मुख उत्तर-पश्चिम दिशा में एक पहाड़ी पर स्थित था। पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में अंग्रेज और गोरखाओं के मध्य संघर्ष में जैथक का प्रमुख स्थान रहा है, उत्तरी पहाड़ी क्षेत्र में कई छोटे-छोटे राज्य थे जो नाम मात्र के लिए सन् १८०४ से ही गोरखा राज्य के अन्तर्गत समझे जाते थे, परन्तु गोरखाओं का प्रभुत्व अब सर्वथा क्षीण हो गया था। सन् १८११ के लगभग काजी अमरसिंह थापा ने इन छोटी-छोटी उत्तरी रियासतों की ओर ध्यान दिया। कहा जाता है कि एक छोटे से राज्य, बलसन ने तीन बार नगान नाम के किले पर गोरखाओं को हराया। इसी प्रकार पुन्नरियों ने भी मातिल नामक स्थान पर गोरखाओं को परास्त किया। बलसन के तत्कालीन राणा जोगराज सिंह ने पहाड़ी राजाओं को एकत्र किया और मिलकर इनका मुकाबला करने की योजना बनाई। उसने बुशहर के राजा से भी सहायता मांगी। ऐसा प्रतीत होता है कि तब तक बुशहर तक गोरखाओं की पहुंच नहीं हुई थी। काजी अमरसिंह थापा का अधिकांश समय सिरमौर, नालागढ़, बिलासपुर और कांगड़ा क्षेत्र में ही व्यतीत हुआ। सन् १८०३ से लेकर १८१० तक इधर की ही समस्याओं से वह निपट सका। सन् १८१० के उपरान्त वह उत्तरी क्षेत्र की ओर ध्यान दे सकता। राणा बलसन के हाथों 'नगान' में गोरखा पराजय से काजी अमरसिंह बहुत चिन्तित हुआ। फलतः सन् १८११ के ग्रीष्म काल में वह स्वयं एक

विशाल सेना लेकर स्पाटू मे चला और नगान के स्थान पर उत्तरी राज्यो की सगठित सेना से उसका मुकाबला हुआ। गोरखा सेना प्रशिक्षित और तत्कालीन युद्ध-कला मे निपुण थी। पहाडी राजाओ की सेना तो आधुनिक स्वय-सेवक दल के समान होती थी। ये प्रजा के लोग ही होते थे और उन्हीं के अपने अस्त्र-शस्त्र होते थे। इनके हथियार मुख्यत धनुप-बाण, तलवार, खड्ग, कुल्हाडी और कुछ-कुछ नालीदार बन्दूकें भी होती थी, नगान के युद्ध मे अमरसिंह थापा ने सभी पहाडी राजाओ को परास्त किया। इनमे प्रमुख जुब्बल, ठियोग, कोटखाई, धनेटी, बुशैहर आदि थे।

नैपालियों का बुशैहर मे प्रवेश—

इन छोटे-छोटे राज्यो को परास्त करने के बाद अमरसिंह थापा ने सतलुज की उत्तरी घाटी मे प्रवेश किया। इस घाटी मे मुख्यत बुशैहर राज्य था। उस समय बुशैहर की स्थिति अच्छी नही थी। उससे एक वर्ष पूर्व सन् १८१० मे इस राज्य के राजा उग्रसिंह की मृत्यु हुई थी। उसका उत्तराधिकारी राजा महेन्द्रसिंह तब लगभग चार-पाच वर्ष का बालक था। राजमाता वजीरो की सहायता से राजकाज चला रही थी। गोरखा सेना के पहुचने पर रामपुर मे भगदड जैसी मच गई। गोरखा आक्रमणकारी क्रूर और निर्दय थे, लूटमार और रक्तपात इनके विजय अभियान के अभिन्न अ ग थे। राजपरिवार भागकर कनौर मे पुरानी राजधानी कामरू मे चला गया। कहते हैं कि गोरखाओ ने रामपुर शहर को बुरी तरह से लूटा। राजमहल मे सुरक्षित पुराने दस्तावेजो को इन्होने जला दिया और शहर के कुछ भाग को भी जला दिया। आतकित होकर बहुत से लोग अपन खेतो और घरो को छोडकर सतलुज पार कुल्लु क्षेत्र मे चले गये। गोरखा आक्रमण के पहले प्रहार मे ही सारा बुशैहर काँप गया।

बुशैहर और गोरखाओं के मध्य समझौता—

परन्तु दरबारियो न बडे धैर्य से गोरखाओ के साथ लम्बी बातचीत के उपरान्त एक समझौता किया। इसके अनुसार सतलुज पार का बुशैहर राज्य का भाग बुशैहर के राजा को दे दिया गया और सतलुज वार का क्षेत्र गोरखाओ न अपने शासन मे रखा। यह भी आश्वासन गोरखा सरकार से प्राप्त हुआ कि सतलुज पार के क्षेत्र पर राजा का स्वच्छन्द शासन होगा और इसके बदले म बुशैहर दरबार गोरखाओ को १२००० रुपये वार्षिक नजराना देगा। ऐसा प्रतीत होता है कि वागतू से आगे कनौर का सारा क्षेत्र बुशैहर को दे दिया गया। इसमे सतलुज के आर-पार का सारा क्षेत्र सम्मिलित था वाँगतू का पुल सम्भवत गोरखा शासित क्षेत्र और बुशैहर के अधीन कनौर के मध्य सीमा थी। उस समय बस्पा की घाटी में स्थित कामरू का किला राज-परिवार का निवास-स्थान रहा। यह सतलुज के पार के क्षेत्र में आता है, परन्तु इसकी भौगोलिक स्थिति ऐसी थी कि यह गोरखा क्षेत्र में सम्मिलित नहीं किया जा सकता था। शेष सारा बुशैहर जिसमें रामपुर क्षेत्र और रोहड को पबर उपत्यका सम्मिलित थी, गोरखाओ के शासन में था, जे० बी० फ्रेजर के अनुसार सारे बुशैहर राज्य से नैपाल

दरबार को ८०,००० रुपये की वार्षिक आय थी। सम्भवत: इसमें १२००० रुपये वार्षिक कर के भी सम्मिलित हों। स्थान स्थान पर जो नेपाली सैनिक दस्ते और अधिकारी रहते थे, उनका वेतन भत्ता और अनुचित साधनों स प्राप्त आय इससे अतिरिक्त थी। नारकण्डा के निकट हाटू धार से लेकर रावींगढ़ तक की पर्वत श्रृंखला पर कई किले थे, सम्भवत ये ठाकुरों के पुराने किले थे, तत्कालीन रण-नीति के अनुरूप ऐसे किले पहाड़ों की चोटियों और धारों पर सर्वत्र थे, परन्तु गोरखाओं ने इन किलों को अधिक सुदृढ़ किया और उनमें पानी संग्रह करने की सुविधाओं को बढ़ाया। इन किलों में गोरखा सैनिक रहते थे और आस-पास के गांवों से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। हाटू का किला इनका प्रमुख केन्द्र था। इस सारे क्षेत्र का प्रमुख सैनिक अधिकारी इसी किले में रहता था। इसका नाम कीर्ति राणा था। यह नेपाल राज्य के अन्तर्गत पल्पा के राजवंश का था। उसकी आयु ७० वर्ष से कम नहीं थी पर अमरसिंह थापा की भांति यह क्रूर और निर्दय नहीं था। इस क्षेत्र में जब गोरखा सैनिक शासन पूरी तरह स्थापित हो गया, तो कीर्ति राणा ने लोगों के साथ न्याय और कोमलता का व्यवहार किया —ऐसी जनश्रुति प्रचलित है। छोटे-छोटे सैनिक अधिकारी और सिपाही प्राय लोगों का शोषण करते थे। गोरखा आक्रमण के समय जो लोग अपने घरों और गावों को छोड़कर कुल्लू या अन्यत्र चले गए थे, धीरे-धीरे वापिस आने लग पड़े। इस क्षेत्र में गोरखा सैनिक-शासन केवल चार वर्ष सन् १८११ से १८१५ तक रहा। नीचे के पर्वतीय भाग में जो मुख्यत शिवालिक के उपगिरि क्षेत्र में आता है, गोरखा शासन कुछ अधिक समय तक रहा। उपरिपर्वतीय क्षेत्र में बुशैहर के अतिरिक्त, कुम्हल, कोटगढ़, क्योंथल, ठियोग, बलसन आदि छोटे-छोटे राज्य आते हैं।

किंवदन्ति : बुशैहर में प्रचलित किंवदन्ति के अनुसार जब राज-परिवार कनौर में कमरू के किले में चला गया तो गोरखाओं ने कनौर पर हमला किया। वे कामरू के किले में स्थित बुशैहर के खजाने को लूटना चाहते थे। परन्तु वांगतू से कुछ आगे चौगांव के निकट कनौरी ने उन पर आक्रमण किया और आगे बढ़ने से रोका। एक अन्य वृतान्त के अनुसार पवारी बिष्ट वजीर टिकमदास ने लकड़ी के बड़े-बड़े सन्दूक जिन पर मजबूत ताले लगे हुए थे, यह कह कर कि इनमें बुशैहर का मूल्यवान खजाना भरा है, गोरखाओं को दिये। चाबियां पीछे भूल जाने का बहाना किया गया। कहा जाता है कि उन सन्दूकों में पत्थर भरे हुये थे। इस किंवदन्ति का उल्लेख शिमला क्षेत्र की रियासतों के गजेटियर में भी किया गया है। नेपाली ऐसे भोले-भाले मूर्ख नहीं थे। जब की यह घटना है तब नेपाली सिक्किम की सीमा से लेकर सतलुज नदी तक के पहाड़ी क्षेत्र पर अपना साम्राज्य स्थापित कर चुके थे। यदि वे बुशैहरियों के इस प्रकार के बहकावे में आ जाते तो इतने बड़े साम्राज्य को स्थापित करना उनकी बल-बुद्धि से परे होता। गोरखा राजनीतिक दाव-पेच में भी किसी से हार खाने वाले नहीं थे। अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी में गोरखा इन दाव पेचों में अंग्रेजों को मात करते रहे। उनकी राजनैतिक सूझ-बूझ के कारण से ही नेपाल अपने आप को अंग्रेजों के चंगुल से

बघा गया। अत पत्थर मे भरे सन्दूक का वृतान्त एतिहासिक दृष्टि से महत्वहीन है। यह एक भोली मानसिक कल्पना मात्र है। बुशैहर दरबार और नैपाली सेनाधिकारियो के मध्य उपरोक्त समझौता एक ऐतिहासिक तथ्य है। इस समझौते के बाद बुशैहर के वजीर टिकमदास और बदरीदास बुशैहरी सैनिको के साथ काजी अमरसिंह थापा के प्रमुख सेनानी बन गये और थापा की सेना के साथ विजय अभियान मे निरन्तर जाते रहे। यह स्थिति सन् १८११ से मार्च १८१५ तक रही। सन् १८१५ मे गोरखा सेना कई स्थानो पर अंग्रेजो से हारती गई। पश्चिमी सीमा पर थापा, अंग्रेज कमान्डर अक्तरलोनी से जब पराजित होने वाला था तब बुशैहर के वजीर टीकमदास ने थापा का साथ छोड़ दिया और धीरे धीरे अंग्रेजों के पक्ष म चला गया।

अंग्रेज और गोरखा शक्तियों के मध्य विवाद और संघर्ष—

रणजीतसिंह के कारण कोट कांगड़ा म अमरसिंह थापा के काश्मीर-विजय के स्वप्न पर पानी फिर गया। सन् १८१० से सन् १८१४ तक की छोटी अवधि मे गोरखा शक्ति और अंग्रेजो के मध्य सीमा सम्बन्धी विवाद उत्पन्न हो गया। गोंडा और गोरखपुर के तराई क्षेत्र मे अंग्रेजो और गोरखाओ की सीमा लगभग ११०० किलो मीटर तक मिलती थी। इस क्षेत्र में बटवाल और शिवराज की दो बड़ी जागीरदारियाँ थीं। ये क्षेत्र पहले अवध के नवाब-वजीर के राज्य के अन्तर्गत नेपाल के अधीनस्थ राजा पलपा की जागीर थी। परन्तु लार्ड वेलजली की सहायक सन्धि के अन्तर्गत नवाब वजीर को अंग्रेजो की सहायक सेना रखने के बदले या तो धन देना पड़ता था या अपने राज्य का कुछ भाग अंग्रेजो को हस्तानान्तरित करना पड़ता था। अवध के नवाब वजीर की आर्थिक स्थिति इतनी अच्छी नही थी। अत उसने अपने राज्य का तराई वाला भाग अंग्रेजो को सहायक सेना के व्यय के लिये दे दिया। इसमे उपरोक्त दो जागीरें भी थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार ने पलपा के राजा के साथ नया इकरारनामा किया जिसके अनुसार बटवाल की जागीर के लिये राजा ने ३२००० रुपये सालाना कम्पनी सरकार को देना शुरू किया। नैपाल सरकार को पलपा के राजा का यह कार्य अच्छा न लगा। नैपाल दरबार पहले से ही किसी अन्य कारण से पलपा के राजा से रुष्ट था। उसको काठमाडू बुलाया गया। कुछ दिन बन्दी रखने के बाद पलपा के राजा को मृत्यु-दण्ड दिया गया और बटवाल की जागीर नैपाल ने गुल्मी के राजा को दे दी। फलत अंग्रेजो और नैपाल सरकार के मध्य एक विवाद उत्पन्न हो गया। नैपाल दरबार का कहना था कि पलपा का राजा नैपाल के अधीन है। अतः उस जागीर का स्वामित्व का निर्णय नैपाल दरबार स्वय करेगा। नैपाल सरकार उस जागीर को उन्ही शर्तों पर रखने को तैयार थी जिन पर नवाब वजीर से पलपा के राजा के पास थी। परन्तु कम्पनी सरकार यह मानने को तैयार नहीं थी। उसका कहना था कि एक प्रभु-सत्ता सम्पन्न सरकार दूसरी सरकार का मुजारा नही बन सकती। विवाद उत्पन्न होने पर उसको सुलझाने का क्या साधन होगा ? क्या युद्ध करना पड़ेगा ? उधर इसी क्षेत्र में सीमा सम्बन्धी विवाद भी था। जितने क्षेत्र को अंग्रेज अपनी जागीर के अन्तर्गत

मानते थे, उसको नेपाल सरकार मानने को तैयार नहीं थी। दो राज्यों के मध्य सुनिश्चित सीमा का निर्धारण प्राय अनिश्चित ही था। उस अव्यवस्थित समय में राज्यों की सीमाएं निरन्तर बदलती रहती थी। यह सीमा विवाद दो-तीन वर्ष तक अंग्रेजो और गोरखाओ के बीच चलता रहा। कोई शान्तिपूर्ण समाधान न निकलने पर अन्त मे सन् १८१४ मे सैनिक संघर्ष की नौबत आई। वस्तुत सिक्किम से लेकर सतलुज नदी तक के क्षेत्र मे उस युग म अंग्रेजो और गोरखाओ के मध्य अनिश्चित सीमा थी। ये दोनो शक्तियाँ एक दूसरे के आमने-सामने थी और सारे क्षेत्र मे दोनो राज्यों की अनिश्चित सीमाएं एक दूसरे को छूती थीं इसमे रोचक बात यह थी कि सन् १८०३ और १८११ के मध्य नेपाल ने कालीनदी से सतलुज नदी तक के पहाडी क्षेत्र पर अधिकार कर लिया था और मैदानी प्रदेश अंग्रेज सत्ता का प्रभाव क्षेत्र था। सन् १८०६ मे रणजीतसिंह और अंग्रेजो के मध्य अमृतसर की सन्धि हुई थी। इसके अनुसार सतलुज नदी अंग्रेजो और रणजीतसिंह के राज्यो की सीमा निश्चित की गई। परन्तु हिमालय के आंचल मे नेपाल और अंग्रेजो के राज्य के मध्य कोई ऐसी प्राकृतिक सीमा रेखा नहीं थी।

अंग्रेजी साम्राज्य का विस्तार और नेपाल की स्वतन्त्रता—

उन्नीसवी सदी के पूर्वार्द्ध मे तीन महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाएं हुई जिन्होने अंग्रेजो राज्य की सीमाए आने वाले समय के लिए निश्चित कर दीं। उनमे से नेपाल युद्ध सबसे प्रथम था, इसके बाद सन् १८१८ को मरहट्टो के साथ सधि और अन्तिम घटना सिखो और अंग्रेजो के मध्य युद्ध था। जिसके उपरान्त भारतवर्ष पर अंग्रेजी राज्य असम से गुजरात तक और उत्तर मे काश्मीर तक और दक्षिण म कन्याकुमारी तक पूर्णरूपेण स्थापित हो गया। इसके साथ ही नेपाल की स्वतन्त्रता और अखण्डता भविष्य के लिये सुनिश्चित हो गई। हिमालय के आंचल म नेपाल एव अंग्रेजी राज्य के मध्य निर्विवाद सीमा स्थापित हो गई। सन् १८१५ मे पश्चिम हिमालय क्षेत्र का यह भाग भी अंग्रेजो के प्रभाव मे आ गया जो यमुना और सतलुज के मध्यवर्ती था और जो बाद मे शिमला क्षेत्र के नाम से विख्यात हुआ। नेपाल के लिए सबसे बडी उपलब्धि यह थी कि नेपाल के तत्कालीन सेना-नायक और राजनैतिकों की देश-भक्ति और दूरदर्शिता के कारण हिमालय का एक मात्र यह राज्य अंग्रेजी साम्राज्य ब्याल के घेरे से बच सका। राष्ट्रीयता और देश-भक्ति जैसे भाव जब इस देश म अभी अंगडाई भी नहीं ले रहे थे, तब नेपालियो ने असाधारण देशभक्ति और राजनयिक दूरदर्शिता और सूझ-बूझ का परिचय दिया। नि सन्देह नेपाल की पहाडी क्षेत्र मे एक साम्राज्य स्थापित करने की महत्वकांक्षा पर तो तुषार-पात हुआ, कुमाऊ, गढवाल एव यमुना और सतलुज के मध्य का पहाडी प्रदेश एव दूनक्षेत्र सभी को छोडना पडा और तराई क्षेत्र की सभी कारदारियां भी अंग्रेजो को अर्पित करनी पडी, परन्तु मूल नेपाल की क्षेत्रीय एकता और राष्ट्रीय सार्वभौम सत्ता अक्षुण्ण रही जबकि इस उपमहाद्वीप की सैंकडो स्वतन्त्र

राज्य-सत्ताएं और इमाइया सदा के लिए अपना स्वतन्त्र अस्तित्व को खो बैठी और सवग्राही अंग्रेजी साम्राज्य में समा गई।

सीमान्त क्षेत्रों मे नेपाल और अंग्रेजों मे संघर्ष—

उन्नीसवीं सदी के आरम्भिक वर्षों मे दो शक्तियां उत्तरी भारत मे अपनी सत्ता का प्रसार कर रही थीं, मैदानी भाग मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार और पर्वतीय क्षेत्र मे गोरखा शक्ति। दोनो का लक्ष्य क्षेत्रीय प्रसार था। मुगल-सत्ता नाम मात्र के लिये दिल्ली और उसके आस-पास के क्षेत्र तक ही सीमित रह गयी थी। मैदानी भाग मे सतलुज के बाये क्षेत्र तक अंग्रेजी-सत्ता का प्रभुत्व था और उस पार दाहिने भाग वाले इलाके मे महाराजा रणजीतसिंह का शासन था। पटियाला, नाभा, जीन्द आदि सिख राज्य जो सतलुज के इस पार थे, अंग्रेजो के सरक्षण मे थे। ऐसी परिस्थिति मे क्षेत्रीय प्रसार की महत्वकांक्षी शक्तियो मे कही न कहीं संघर्ष होना अवश्यभावी था। सन् १८०६ मे जब सम्पन्न सिरमौर, बिलासपुर और नालागढ राज्यो पर गोरखा अधिकार हो गया तो सिरमौर राज्य के तीन गांव, पजौर, नारायणगढ और लखनपुर और हडूर (नालागढ) के दो गाव, बुधा और पलासी जो मैदानी भाग म स्थित थे, उन पर गोरखा सरदार अमरसिंह थापा ने अपना अधिकार इस आधार पर स्थापित करना चाहा कि ये उन राज्यों के भाग हैं जिन पर गोरखा शासन है। हडूर और सिरमौर दोनो अमरसिंह थापा के अधीन राज्य थे। पर अंग्रेज अधिकारी अखतरलोनी ने थापा के इस दावे को स्वीकार नही किया। सन् १८१० मे कम्पनी सरकार ने नेपाल के साथ "सीमान्त के सिद्धान्त" को स्वीकार करवाया था। यह कोई बड़ा सिद्धान्त नहीं था। यह ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार और नेपाल दरबार की एक प्रकार से मिली भगत थी। इसके अनुसार दोनो सरकारो के मध्य यह तय हुआ कि मैदानी भाग मे क्षेत्रीय प्रसार की छूट अंग्रेजो को होगी और पहाडी क्षेत्र मे गोरखाओ के इलाको को हस्तगत करने की छूट होगी। इस क्षेत्र के अंग्रेज सैनिक अधिकारी अखतरलोनी को उसकी सरकार का यह आदेश था कि अंग्रेज सरकार के सरक्षण प्राप्त राजाओ का यदि कोई इलाका पहाड में हो तो उसकी रक्षा का दायित्व कम्पनी सरकार पर नही होगा। उसी प्रकार मैदानी क्षेत्र मे पहाड़ी राज्यो के गावो और इलाको पर नेपाल सरकार का कोई अधिकार नही माना जावेगा। सिरमौर और हडूर राज्य के उपरोक्त गावो के विवाद के सम्बन्ध मे पजौर के स्थान पर अमरसिंह थापा और अखतरलोनी के मध्य १० नवम्बर १८१३ को एक मुलाकात हुई जिसमे बात-चीत के द्वारा दोनो के मतभेद दूर कर दिये गये। इसके बाद गोरखा सरदार ने इन विवादास्पद गांवों पर अधिकार छोड दिया। इसी प्रकार कालका के निकट बटोली क्षेत्र के कुछ गांवो पर थापा ने अधिकार कर लिया था। ये गांव पटियाला राज्य के थे और पटियाला अंग्रेजो के सरक्षण मे था। इस मुलाकात से इन गावो पर से भी थापा ने गोरखा अधिकार छोड दिया। परन्तु नेपाल-तराई क्षेत्र की बुटवाल कारदारी का विवाद समाप्त न हो सका। सन् १८१४ म

इसने उग्र रूप धारण कर लिया। सबसे पहले अंग्रेजो ने नेपाल के साथ सारे व्यापारिक सम्बन्ध समाप्त कर दिये।

युद्ध आरम्भ—

उस समय लार्ड हेस्टिंग्स, ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार का गवर्नर जनरल था। अंग्रेजो की धाक सारे हिन्दुस्तान मे फैल चुकी थी। दिल्ली तक इनका प्रभुत्व हो चुका था। सन् १८०६ की अमृतसर-सन्धि के अनुसार रणजीतसिंह के साथ अंग्रेजो का प्रत्यक्ष रूप से मैत्री सम्बन्ध था। उत्तरी भारत मे केवल गोरखाओ ने अंग्रेजो को चुनौती दी थी। यह अंग्रेज शक्ति की प्रतिष्ठा का प्रश्न था। अभी तक तो अंग्रेज किसी से नही दबे थे। गोरखा-शक्ति के सम्मुख झुकना अंग्रेजों को कहां सह्य था ? अत पूरे उत्साह के साथ सन् १८१४ की वर्षा ऋतु के पश्चात् युद्ध की तैयारी होने लगी। नेपाल की तराई से लेकर बिलासपुर मे सतलुज नदी तक लम्बा सीमान्त था जहां गोरखा-साम्राज्य और अंग्रेजी साम्राज्य की सीमा आमने सामने थी। युद्ध चार मोर्चों पर हुआ, चार स्थानो से अंग्रेजी-सेना ने गोरखा-क्षेत्र की ओर प्रयाण किया। दो मोर्चे पूर्वी क्षेत्र में थे ; एक सैनिक दस्ता मुख्य नेपाल उपत्यका की ओर गोरखपुर से चला। इस दस्ते का लक्ष्य नेपाल की राजधानी काठमण्डू की ओर जाना था। मार्ग के अज्ञान और विकटता के कारण इस दस्ते को कोई विशेष सफलता नही हुई। पूर्वी क्षेत्र मे अंग्रेजी सेना का दूसरा लक्ष्य कुमाऊ था। इसमे अंग्रेजी सेना को आरम्भ मे कोई उल्लेखनीय सफलता नही मिली, परन्तु चार महीने के कठोर अभियान के बाद अप्रैल १८१५ मे अल्मोडा समेत समस्त कुमाऊं पर अंग्रेजो का अधिकार हो गया।

अंग्रेजों की रण-नीति—

पश्चिमी क्षेत्र मे अंग्रेजी सेना ने दो स्थानों से पहाडी इलाके मे प्रवेश किया। रोपड से नालागढ और बिलासपुर की ओर, दूसरा सहारनपुर से देहरादून की ओर। गढ़वाल पर सन् १८०३ से पूरी तरह से गोरखाओ का अधिकार था, परन्तु गढ़वाल में प्रवेश करना अंग्रेजो ने सामरिक दृष्टि से सुरक्षित नही समझा। उनकी नीति इस क्षेत्र पर अधिकार करने के बाद गढवाल मे गोरखाओं के विरुद्ध विद्रोह उत्पन्न करना था ; परन्तु इसमे उनको सफलता नही मिली। पश्चिमी हिमालय क्षेत्र मे जिसमे सतलुज और यमुना के मध्य के राज्य थे, वहा गोरखाओ ने अधिकांश राजाओ राणाओं और ठाकुरो को पदच्युत किया हुआ था, लार्ड हेस्टिंग्स के विचार से गोरखाओ के प्रति असन्तोष के द्वारा वह अपना पक्ष सुदृढ़ करना चाहता था फिर इस क्षेत्र का मुख्य सेना-नायक काजी अमरसिंह थापा अरकी मे बैठा सारे इलाके का नियन्त्रण कर रहा था। उस पर प्रहार करना आवश्यक था। इस क्षेत्र को हस्तगत करने के बाद दो दिशाओं से अंग्रेजो ने सतलुज और यमुना के मध्यवर्ती राज्यो पर आक्रमण करने की ठानी। परन्तु ये दोनों रण-क्षेत्र स्वतन्त्र रूप से रण-नीति अपना रहे थे। एक ओर रोपड़ की ओर से मेजर-जनरल अखतरलोनी ने नालागढ़ राज्य मे प्रवेश किया और

बडी विचार शील युद्ध-नीति को अपना कर धीरे-धीरे नालागढ से उत्तर-पश्चिम मे स्थित आठ दर्जन के लगभग पर्वतारूढ नालागढ राज्य के किलो को जीतता हुआ विलासपुर पहुचा। इसमे उसको लगभग छ महीने का समय लग गया। देहरादून क्षेत्र की ओर से अग्रेजी सेना ने नेपालियो को चकमा देने के लिये पौंटा के पास यमुना को पार नही किया गया, बल्कि दक्षिण-पश्चिमी दिशा मे सहारनपुर के निकट के स्थान पर जाकर किश्तियो के बेडे से यमुना पार किया और काला अम्ब के मार्ग से नाहन नगर मे प्रवेश किया। क्योकि देहरादून के मार्ग से सिरमौर मे प्रवेश करना लॉर्ड हेस्टिंग असुरक्षित समझता था। पश्चिमी क्षेत्र मे लडाई मुख्यत तीन मोर्चों पर हुई थी, देहरादून मे नालापानी के स्थान पर, सिरमौर मे नाहन के सामने उत्तर-पश्चिमी दिशा मे स्थित जैथक के किले के पास और तीसरा हडूर मे विलासपुर के पूर्व मे स्थित शिवालिक की एक चार हजार फुट ऊची पहाडी पर स्थित मलौण मे।

नालापानी की लडाई—

अक्तूबर सन् १८१४ मे अग्रेजो ने नेपाल सरकार के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और तत्काल नेपाल उपत्यका और नेपाल द्वारा विजित पहाडी क्षेत्र की ओर अग्रेजी सेना ने चार स्थानो से कूच किया। पश्चिमी क्षेत्र मे अग्रेजी सेना का जमाव सहारनपुर और रोपड मे हुआ। सहारनपुर के पास एकत्र सेना ने दून क्षेत्र की ओर प्रयाण करना था और रोपड वाली सेना ने हडूर (नालागढ) की ओर जाना था। दून क्षेत्र का सेना-पति मेजर जनरल गिलस्पी था और हडूर क्षेत्र का सेना-नायक कर्नल अखतर लोनी था, पर दोनो मे स्वभाव और सेना-सचालन की योग्यता मे बडा अन्तर था, गिलस्पी उतावला और चचल स्वभाव का था, परन्तु अखतरलोनी सैन्य-पद मे कनिष्ट होने पर भी बहुत चतुर और रण-सचालन मे निपुण था। पश्चिमी क्षेत्र मे सफल सैन्य सचालन का श्रेय मुख्यत अखतरलोनी को है। सन् १८१४, १६ अक्तूबर को गिलस्पी की सेना ने सहारनपुर से दून क्षेत्र की ओर कूच किया। इस सेना मे ४४०० लडाकू सैनिक थे जिनमे ६०० सैनिक योरुपियन थे। असैनिक कर्मचारियो और अधिकारियो के व्यक्तिगत सेवको को मिला कर सारे दल-बल की सख्या पन्द्रह हजार से कम न थी। आधी रात के समय इस सेना ने दून क्षेत्र की ओर प्रयाण किया और दूसरे दिन रात के समय सेना का अग्रिम भाग दून की घाटी मे पहुचा। देहरादून से तीन मील पूर्व-उत्तर दिशा की ओर नालापानी मे एक छोटे से किले मे गोरखा सेना थी। इस सैनिक टुकडी का नायक अमरसिंह थापा का भतीजा बलभद्र थापा था। यह किला जगल से घिरे एक छोटे पहाडी टीले पर था। रात के समय अग्रेज अधिकारी ने एक पत्र बलभद्र थापा को इस आशय का भेजा कि वह किले को अग्रेजो को समर्पित कर दे। कहते हैं कि थापा ने यह कह कर पत्र को लाने वाले के सामने ही फाड दिया कि मैं असमय पर न मैं पत्र लेता हू और न ही उत्तर देता हू। हां, साहब को कह देना कि मैं युद्ध भूमि मे मिलूगा। २४ अक्तूबर प्रात: काल के

समय अंग्रेजों ने चार ओर से आक्रमण करने की योजना बनाई। मेजर जनरल गिलस्पी की योजना के अनुसार एक साथ चारों ओर से अंग्रेजी सेना ने किले पर धावा बोलना था। अलग-अलग दस्ते निर्दिष्ट स्थानों को भेज दिये गये और उनको आदेश था कि तोप की विशेष ध्वनि-संकेत के मिलने पर सब दस्ते मिलकर किले पर आक्रमण करें, परन्तु गिलस्पी के उतावलेपन के कारण प्रातः काल से ही तोपों की गड़गड़ाहट आरम्भ हो गई। फलत: धावा योजना के अनुसार न चल सका। किले में नेपाली सेना की संख्या चार-पांच सौ से अधिक न थी। आक्रामक अंग्रेजी सेना की संख्या २३५४ थी। इसमें नौ सौ के लगभग सैनिक रिजर्व में थे। कर्नल कारपेंटर के दस्ते ने सब से पहले किले की दीवार पर गोलाबारी की और एक अंग्रेज अधिकारी ने दीवार को लांघने या गोलाबारी करने के लिये दीवार पर सीढ़ी लगाई, परन्तु किले के अन्दर से एक गोली लगने से लै० एलिस नाम का वह अंग्रेज अधिकारी धराशाही हो गया। उससे ३० गज की दूरी पर मेजर जनरल गिलस्पी एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में अपना टोप लेकर सिपाहियों को प्रोत्साहित कर रहा था। वह किले के मुख्य द्वार के निकट था। इतने में किले के अन्दर से एक गोली आई और जनरल का मृत शरीर भूमि पर छटपटाने लगा। किले के अन्दर से गोलियों, तीरों और पत्थरों की बौछारों से अंग्रेजी सेना के सिपाही बड़ी संख्या में हताहत और घायल हो रहे थे। किले के अन्दर से गोरखाओं की स्त्रियाँ घात लगाकर पत्थरों से प्रहार कर रही थीं जिसे कई सिपाही बुरी तरह से घायल हो गये। इस आक्रमण में अंग्रेजी सेना को भारी क्षति हुई, सेना नायक गिलस्पी के अतिरिक्त, चार अन्य अधिकारी मारे गये, पन्द्रह घायल हुये, सताईस अन्य अधिकारी और सिपाही मारे गये। कुल २१३ सैनिक घायल हुये। अंग्रेजी सेना के मुकाबले में, मुट्ठीभर नेपालियों ने शत्रु को भारी क्षति पहुंचाई। अंग्रेजों को विश्वास था कि गढ़वाल के लोग नेपालियों के विरुद्ध मिलकर विद्रोह कर देंगे, परन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ। वे लोलुप नाला पानी के युद्ध-परिणाम की प्रतीक्षा कर रहे थे। विलियम फ्रेजर नाम के राजनैतिक अधिकारी को यह काम सौंपा गया कि वह स्थानीय लोगों की सहायता सेना तैयार करें, परन्तु एकाएक गोरखाओं का साथ छोड़ने के लिये लोग तैयार नहीं थे। इस अनिश्चित स्थिति से लोग इतने अधिक आतंकित थे कि दून-क्षेत्र लगभग निर्जन जैसा लगता था। नालापानी के एक छोटे से युद्ध में अंग्रेजी सेना की जो क्षति हुई उससे अंग्रेजों की प्रतिष्ठा पर एक धब्बा लगा और लोगों का उनकी शक्ति पर विश्वास शिथिल पड़ने लगा। पहली पराजय के बाद अंग्रेजी सेना नालापानी से हटकर देहरादून की दिशा में आ गई और पूरे एक महीने तक युद्ध स्थगित रहा। आरम्भिक प्रयत्न से यह स्पष्ट हो गया कि बिना बड़ी तोपों के किले को जीतना सम्भव नहीं है। बड़ी तोपों से किले की दीवारों को उड़ाना किले को जीतने के लिए आवश्यक था।

अपार क्षति के बाद नालापानी का पतन —

२४ नवम्बर को २४ पौण्ड का गोला बरसाने वाली तोपें किले से कुछ दूरी पर

स्थापित की गई और किले की दीवारों को उड़ाने का प्रयत्न आरम्भ हुआ। निरन्तर गोलाबारी से किले की दीवारें धराशायी कर दी गई, लेकिन तब भी किले के अन्दर प्रवेश करने की किसी को हिम्मत नहीं हुई। सारे दिन और आधी रात तक दोनो ओर से गोलाबारी होती रही। अंग्रेजों की सेना को इस दिन के युद्ध मे भी भारी क्षति उठानी पड़ी। ३६ हिन्दोस्तानी अफसर और ४३१ सिपाही घायल हुये। तीन अंग्रेज अफसर मारे गये। अगले दिन गणना करने से मालूम हुआ कि इस दिन की लड़ाई मे ४७८ अफसर और सिपाही मारे गये और घायल हुए। नालापानी की दो लड़ाइयो मे कुल हताहत और मृतकों की संख्या ७५० हो गई जबकि किले के अन्दर नैपालियो की संख्या चार-पाँच सौ से अधिक नहीं थी। इस क्षति से तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड हेस्टिंग—और इंगलैंड की सरकार स्तब्ध रह गई। उसी दिन आधी रात के समय बच हुये नैपाली जिनकी संख्या ७० से अधिक नहीं थी, बलभद्र थापा के साथ भाग निकले। लेकिन अंग्रेजों की हिम्मत नहीं हुई कि वे किले मे प्रवेश करें। सुबह चार बजे के लगभग ढोल बजाने वाले एक लड़के ने साहस करके किले मे प्रवेश किया और उसने चिल्ला कर कहा—"खाली है, खाली है।" इसके बाद अधिकारियो ने किले में प्रवेश किया। अभी अंधेरा ही था। घायल और मरणासन्न नैपालियो का क्रन्दन उस अंधेरे में सुनाई दे रहा था। चारो ओर नैपालियो के मृत शरीर बिखरे हुए थे। कहीं-कहीं एक दूसरे के ऊपर पड़े थे। किले से भारी दुर्गन्ध आ रही थी। एक स्त्री जिसकी टांग कटी थी, 'पानी-पानी" कह रही थी। एक अन्य स्त्री जो स्वयं तो अनाहत थी, परन्तु उसका घायल बच्चा उसका स्तन-पान कर रहा था। दो छोटी छोटी बालिकाए, एक चार वर्ष की और दूसरी एक वर्ष की पड़ी थी, उनके माता-पिता हताहत हो चुके थे। एक नवयुवक गोरखा जिसके सिर पर चोट लगी, विक्षिप्त अवस्था में पड़ा चेतना-शून्य होकर जमीन में अगुली से रेखाएं खीच रहा था। जमीन मे जहां तहां दो-दो फुट गहरी खन्दकें खुदी थीं। वस्तुत गोरखाओ ने किले की जमीन को खोदकर गहरा कर दिया था। जिससे बाहर से आने वाली गोलियो का उन पर सीधा प्रहार नही होता था। कई शव किले के अन्दर ही इधर उधर अधूरी कब्रो में दबाये हुये थे। अंग्रेजी सेना ने ६७ शवो को जो इधर उधर पड़े थे एकत्र करके जलाया। यह वीभत्स और भयावह दृश्य देखकर अंग्रेज अधिकारी बलभद्र थापा और उसके बहादुर सिपाहियों की प्रशंसा किये बिना न रह सके। इस किले के एक-एक पत्थर को उखाड़ कर समतल कर दिया गया परन्तु अंग्रेजो ने बलभद्र थापा और उसके वीर सिपाहियो की स्मृति मे यहां एक स्मारक स्थापित किया।

नालापानी का स्मारक—

This is inscribed as tribute of respect for our gallant adversary Balbhadar Commander of the fort and his brave Gorkhas who were afterwards in service of Ranjit singh shot dawn in their rank to to the last man by the Afghan artillery

स्मारक की दूसरी ओर यह अभिलेख है —

On the highest point of the hill above this tomb stood the Fort Kalanga (Nalapani) After Two assaults on 31st Oct and 27 th Nov 1814 it was captured by the British Troops on 30th Nov 1814 and completely raised to ground

जे० बी० फ्रेजर ने जिसने स्वयं गोरखा युद्ध में अंग्रेजों के परामर्शदाता के रूप में काम किया था, नालापानी के युद्ध में नेपालियों के व्यवहार और नैतिक नियमों के पालन की भूरि-भूरि प्रशंसा की है, उनका कहना है, "अन्यत्र गोरखाओं का युद्ध में चाहे कैसा भी व्यवहार रहा हो, पर यहाँ नालापानी में न तो उन्होंने घायलों और बंदियों के प्रति क्रूरता प्रदर्शित की, न ही विषाक्त बाणों का प्रयोग किया और ना ही उनके व्यवहार में प्रतिहिंसा की भावना देखने में आई। उन्होंने युद्ध में न्याय-संगत व्यवहार किया और उदारता दिखाई। मृतकों के शरीर का उन्होंने कभी अपमान नहीं किया और जब तक हमने शव को नहीं उठाया तब तक उन्होंने उनको छुआ तक नहीं। और ना ही उन्होंने हमारे मृतक सिपाहियों को वस्त्र और शस्त्रहीन करके लूटा जबकि युद्ध में प्रायः सर्वत्र ऐसा होता है। उन्होंने हम पर जो विश्वास व्यक्त किया उससे हम फूले नहीं समाये। जब कभी उन्होंने हमसे चिकित्सा संबंधी सहायता माँगी, वह हमने उनको दी। एक बार तो एक अनन्य घटना हुई, जब जोरों से गोलाबारी हो रही थी, तो किले की टूटी दीवार से एक सिपाही हाथ हिलाता हुआ दिखाई दिया। तुरन्त गोलियाँ चलनी बन्द हो गई। वह हमारी तोपों के पास आया। देखने से ज्ञात हुआ कि वह एक गोरखा सिपाही है जिसका निचला जबड़ा गोली के प्रहार से उखड़ गया था। ऐसी अवस्था में वह अपने शत्रु से सहायता प्राप्त करने आया था। यह सहायता उसको मिली और जब वह कुछ दिनों में ठीक हो गया तो उसने अपनी सेना में वापिस जाने की आज्ञा माँगी। इस प्रकार युद्ध-काल में उदारता और विनम्रता की भावना व्यक्त करता हुआ उसने व्यक्तिगत और राष्ट्रीय भावों को एक-दूसरे से भिन्न रखा एवं हमारी जाति के व्यक्तियों में विश्वास प्रकट किया, परन्तु सामूहिक रूप से हमारे विरुद्ध लड़ने के लिये अपना कर्तव्य (धर्म) समझ कर वापिस चला गया।

गढ़वाल में गोरखा आतंक—

नालापानी का युद्ध नेपाल की दृष्टि से कोई महत्वपूर्ण युद्ध नहीं था, इस क्षेत्र का सामरिक महत्व केवल गंगा और यमुना नदियों पर बने यातायात के घाटों पर नियंत्रण में था। इन घाटों के मार्ग से रणजोरसिंह और अमरसिंह थापा का सम्पर्क गढ़वाल, कुमाऊं और नेपाल से था, इन घाटों पर नालापानी की लड़ाई के बाद अंग्रेजों का अधिकार होने पर भी गोरखाओं को यह सम्पर्क कायम रखने में कोई अधिक कठिनाई नहीं हुई क्योंकि वे इस क्षेत्र के भागों से अच्छी तरह परिचित थे, परन्तु अंग्रेजों को इसमें कठिनाई थी, उनको इस क्षेत्र से कोई विशेष परिचय नहीं था। अंग्रेजी सेना के राजनैतिक अधिकारी, विलियम फ्रेजर के पास तुलेराम नाम का गढ़वाली नौकर था।

उसके माध्यम से वि० फ्रेजर ने गढ़वाल के प्रतिष्ठित जमींदारों से सम्पर्क स्थापित करने का प्रयास किया, विशेष रूप से मसूरी के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र जौनपुर परगने के लोगों के साथ। पर उनके पत्रों से पता चलता है कि वे गोरखाओं से कितने आतंकित थे और उनके भय के कारण वे गुप्तरूप से भी अंग्रेजों के साथ सम्बन्ध रखने को तैयार नहीं थे, वे नैपालियों को ही अपना शासक मानते थे। यह नैपालियों के प्रति किसी राज-भक्ति या श्रद्धा से नहीं बल्कि उनकी बर्बरता और भय के कारण था। वे गोरखाओं के मन में अपने प्रति किसी प्रकार का सन्देह पैदा करना नहीं चाहते थे। पृथ्वीसिंह नाम के एक व्यक्ति के एक पत्र से जो उसने वि० फ्रेजर के सेवक तुलेराम को लिखा था पता लगता है कि लोगों का विश्वास अंग्रेजों की अजेयता पर से, नालापानी की प्रारम्भिक पराजय के कारण, उठ रहा था। उसने व्यंग्य के साथ लिखा कि अंग्रेज नालापानी में मुट्ठी भर नैपालियों को न जीत सके तो और क्या करेंगे? और यदि दून क्षेत्र तक ही आना उनका ध्येय था तो हम लोगों को क्यों खींच रहे हैं? यदि अंग्रेज दो या तीन सौ सिपाही हटूर या चमूर की ओर भेजते तो भागीरथी के दाहिने किनारे की ओर का गढ़वाल का तीसरा भाग अंग्रेजों के नियंत्रण में आ जाता। परन्तु लोगों के आग्रह पर भी अंग्रेजों ने गढ़वाल क्षेत्र में प्रवेश करना उचित नहीं समझा। फलतः गढ़वाल क्षेत्र में कहीं भी गोरखाओं और अंग्रेजों के मध्य मुठभेड़ नहीं हुई। देहरादून पर अंग्रेजों का अधिकार होने पर टौंस और भागीरथी के मध्यवर्ती क्षेत्र जिसमें जौनसार और गढ़वाल का सकल्याना क्षेत्र आते हैं वे भी अंग्रेजी सेना के नियंत्रण में आगये। इस क्षेत्र में कालसी, जौतगढ़, विराट और चमूर के किले थे। इन पर भी अंग्रेजों का अधिकार हो गया। कैप्टन कारपेन्टर को इस इलाके का नियंत्रण सौंपा गया। भागीरथी, यमुना और टौंस नदियों के घाटों पर गोरखा सैनिकों को रोकना इसका काम था। भागीरथी के दाहिने किनारे पर स्थित चमूरगढ़ के किले का अधिकारी सि० मेटीय था। उसने यह शिकायत की कि भागीरथी के जल मार्ग के तीस मील लम्बे क्षेत्र में सभी घाटों पर नियंत्रण रखना उसके लिये कठिन है क्योंकि उसके पास केवल २५० अनियमित सैनिक ही थे।

दून से नाहन की ओर अंग्रेजी सेना का कूच—

उधर देहरादून में नालापानी के गढ़ को ध्वस्त करने के बाद मौबी नाम के अधिकारी के नेतृत्व में मुख्य सेना मैदानी मार्ग से नाहन की ओर चली। लॉर्ड हेस्टिग्स के आदेशानुसार क्यारदादून जिसको आधुनिक समय में पौंटा की घाटी कहते हैं, के मार्ग से जाना विघ्न-बाधाओं से मुक्त नहीं था, वैसे देहरा क्षेत्र से सिरमौर राज्य में प्रवेश करने का मुख्य मार्ग यही था जैसा कि आज भी है। सेना का शिविर नाहन से लगभग पाँच मील पीछे मोधीनन्द नाम के गाँव के पास स्थापित किया गया। यहाँ जमीन कुछ समतल थी और पानी की पर्याप्त सुविधा थी।

दिसम्बर १८१४ में गिलस्पी के स्थान पर नये मेजर जनरल मार्टिनडल की नियुक्ति हुई और नाहन में उसने सेना-कमाण्ड सम्भाली। मोधीनन्द के शिविर में

मार्टिनडल को यह सूचना मिली कि नैपालियों ने नाहन को छोड़ दिया है और वे नाहन के सामने जैथक नाम की चोटी पर स्थित किले में चले गये हैं। सिरमौर क्षेत्र में गोरखा सेना का कमाण्डर अमरसिंह थापा का पुत्र रणजोरसिंह थापा ने पहले से ही जैथक के किले को सुदृढ़ बना दिया था। लोक स्मृति बताती है कि उस समय नाहन के किले और अन्य मकानों को गिरा कर पत्थर जैथक की चोटी पर पहुंचाये गये और उस किले को सुदृढ़ किया गया। यह कार्य सावधानी के रूप में सम्भवतः तब सम्पन्न कर लिया गया था जब अंग्रेज देहरादून में नालापानी के युद्ध में व्यस्त थे। मार्टिनडल ने इस शुभ सूचना की सत्यता की छान-बीन के लिये मेजर लूडलो को एक फौजी टुकड़ी के साथ नाहन की ओर भेजा। उस जमाने में नाहन पहुँचने का मार्ग बहुत विकट था। मार्ग में कई ऊंट गिरकर पंगु हो गये। बड़ी कठिनाई से अन्य सैन्य सामान को नाहन पहुंचाया गया। पर मुख्य शिविर मोघोनन्द में ही रहा। जैथक का किला नाहन से उत्तर-पश्चिम दिशा में नाहन से लगभग ६०० फुट ऊंचा था और इसकी दूरी आकाश मार्ग से दो या तीन मील होगी, यह किला ३६ फुट लम्बा और २४ फुट चौड़ा था और नाहन से एक चिड़िया के घोंसले की तरह दिखाई देता था। लॉर्ड हेस्टिंग ने इसका घेरा डालने की सलाह दी थी, परन्तु इस पर पहुंचने के कई मार्ग थे, सब की नाकेबन्दी करना सम्भव नहीं था। नाहन या अन्य मार्गों से तोपों को पहुंचाना भी कठिन था। अतः मेजर जनरल मार्टिनडल ने नाकाबन्दी की बजाय आक्रमण करना अधिक उपयुक्त समझा। जैथक के दाहिनी और बाई ओर दो ऊंचे टीले थे, उनमें से एक या दोनों पर से इस किले पर गोलाबारी की जा सकती थी। इन टीलों पर अधिकार करने की योजना बनाई गई। २६ दिसम्बर की रात को दो फौजी दस्ते, एक मेजर लुडलो की कमाण्ड में जिसमें ८०० सिपाही थे और दूसरा मेजर रिचर्ड की कमाण्ड में जिसमें ५०० लड़ाकू सैनिक थे, भेजे गये। लुडलो ने नाहन से चलकर बाई ओर के टीले को लेना था और रिचर्ड ने उत्तर पूर्वी दिशा वाले दाहिने ओर की चोटी पर अधिकार करना था। दोनों ने सुबह तक पहुंचकर एक साथ आक्रमण करना था, परन्तु रिचर्ड का मार्ग कुछ लम्बा था। अतः वह ग्यारह बजे रात को चल पड़ा जब कि लुडलो रात के एक बजे चला। उन दोनों दस्तों के पास ६ पौण्ड का गोला बरसाने वाली तोपें थी जिनको हाथियों पर पहाड़ पर चढ़ाने का प्रयास किया गया। मेजर लुडलो के दस्ते का अग्रिम भाग प्रातःकाल ही जमटा नाम के गांव के पास की चोटी पर पहुँचा। उसको पथ-प्रदर्शकों ने बताया कि जैथक की ओर से नैपालियों की एक फौजी टुकड़ी उस ओर आ रही है उसके आगे थोड़ी दूर पर एक गोरखा चौकी थी। लुडलो के पास केवल चार सौ सैनिक उस समय पहुँच चुके थे। उसने उचित यही समझा कि तत्काल निकट की चौकी पर आक्रमण किया जाय और कुमुक के पहुँचने से पहले उस चौकी पर अधिकार कर लिया जाय। उसने संगीनों से गोरखाओं पर आक्रमण करने का आदेश दिया और उन्होंने आगे जाकर भागते हुये नैपालियों का पीछा किया। अगली जमटा की चौकी थी। तब तक जैथक से आने वाली कुमुक भी पहुंच चुकी थी। नैपालियों ने खुंखरियों से अंग्रेजी सेना पर धावा बोला। चमकती खुंखरियों से अंग्रेजों की

सेना भयभीत हो गई और उसमें भगदड मच गई। तब तक अंग्रेजी सेना के अग्रिम दस्ते के पास जो कारतूस थे वे भी समाप्त हो चुके थे। फलत लुडलो ने वापिस भागने का हुक्म दिया। ऐसी भगदड पड़ी कि अंग्रेजी सेना के सिपाही पहाडी ढलान मे लुढकते, भागते, गिरते, अपनी टाग तुडाते, पेडो और झाडियों को पकडते हुए किसी प्रकार अपने प्राणो को बचाते हुए उस पत्थरी पहाडी ढलान पर लुडकते गये। फलत १५१ घायल और हताहत हुए। मृतको की सख्या एक दर्जन के लगभग थी जिसमे ले० माऊण्ट भी था। उधर रिचर्ड के अधीन सैनिक दस्ते को निर्दिष्ट स्थान पर पहुचने के लिए १६ मील का मार्ग तय करना था। यह मार्ग भी विकट था। जब यह दस्ता नाहन से चला तो उस समय वहा पर्याप्त कारतूस नहीं थे। कारतूस मुख्य शिविर मोघीनन्द से लाने थे। सैनिक टुकडी चल पडी और अतिरिक्त कारतूस बाद में भेजने का निश्चय किया गया। आधी रात के समय जब कारतूस मोघीनन्द से पहुचे तो एक सारजेण्ट की कमाण्ड मे इनको भेज दिया गया, परन्तु गलती से उसके साथ पथ प्रदर्शक नही भेजा। परिणाम यह हुआ कि रात के अंधेरे मे वे रास्ते से भटक गए। एक गाव म इन कारतूसो को रख कर वह पुन वापिस पथ-प्रदर्शक लाने के लिये गया। परन्तु जब वापिस उस गाव म पहुचा तो तब तक गोरखा भेदिये उन कारतूसो को लेकर चम्पत हो चुके थे, अंग्रेजी सैनिक टुकडी को इस प्रकार साठ हजार कारतूसो से हाथ धोना पडा और अगले दिन की लडाई मे कारतूसो की कमी अंग्रेजी सेना के विनाश का मुख्य कारण बनी। सुबह आठ बजे रिचर्ड की सेना का अग्रिम भाग जैथक से ढाई मील पूर्व की ओर पहाड की धार पर पहुचा। कुछ समय विश्राम करने के बाद उसने जैथक से १००० गज की दूरी पर, जिस चोटी का अंग्रेज इतिहासकारो ने 'ब्लैक हिल" नामकरण किया, अपनी चौकी स्थापित की। इस चोटी से जैथक मे नैपालियो की गति विधियाँ स्पष्ट नजर आ रही थी। रिचर्ड ने पश्चिमी दिशा मे लुडलो के लिय निर्दिष्ट की हुई पहाडी को सेना की गतिविधि से शून्य देखकर यह अनुमान लगाया कि अब उसको अकेले ही १५०० के लगभग नैपालियो का सामना करना पडेगा। एक बजे वे लगभग जैथक के किले के बाहर ढोल-नगाडे के युद्ध-नाद पर नैपाली सैनिक किले के बाहर अंग्रेजो का सामना करने के लिये चल पडे। साय चार बजे से सात बजे तक दोनो सेनाओं मे गोला-बारी होती रही, नाहन से अंग्रेजी सेना की सहायता के लिये न तो अतिरिक्त कारतूस पहुचे और ना ही कोई और कुमुक ही, बल्कि अंधेरा होने तक मार्टिनडल के दो आदेश इस आशय के मिले कि सेना वापिस आ जाय। रिचर्ड इन आदेशो को देख कर स्तब्ध रह गया। तब तक जो थोडे कारतूस थे वे भी समाप्त हो चुके थे। अंग्रेजी सेना की ओर से जब गोलाबारी में शिथिलता आने लगी तो नैपाली आक्रमण अधिक उग्र और विध्वसकारी होने लगा। जब शत्रु का सामना करने की शक्ति और सामग्री शिथिल होने लगी तो रिचर्ड ने पीछे हटने का आदेश दिया। फिर वैसी ही भगदड पडी जैसी लुडलो की फौजी टुकडी मे पडी थी। कई सिपाही मारे गये और कई पकड लिये गये और

कई नीचे पथरीली ढलान में गिरते-पड़ते घायल हो गये। उन तीन-चार घण्टों की लड़ाई में अंग्रेजी सेना के आधे से अधिक सैनिक घायल या हताहत हुये। ३०६ घायल हुए और ८१ हताहत सैनिकों में तीन अधिकारी भी मारे गये। ये अधिकारी थे, थेकरे, स्टालकर्ट और विल्सन। थेकरे बाद में ख्याति-प्राप्त उपन्यासकार विलियम एम० थेकरे का चाचा था। सुदलों की टुकड़ी में मृत ले० माउण्ट समेत इन चार अधिकारियों की समाधि नाहन में पक्के जोहड़ में अभी भी सड़क के किनारे सुरक्षित है। इस अनियन्त्रित भगदड़ में कुछ सिपाही भटकते हुये उत्तर दिशा में रेणुका की ओर चले गये। उधर ग्रामवासियों ने उनको खाना दिया और कई दिनों के बाद ये वापिस नाहन में अपने शिविर में पहुंचे। ले० टरनर बड़ी कठिनाई से नेपालियों के हाथ से बचा। एक ऊंचे स्थान से छलांग लगाकर उसने पीछा करते हुये गोरखाओं से अपने प्राण बचाये। वह रास्ता भूल कर दो दिन तक जंगल में इधर-उधर भटकता रहा। अन्त में एक ग्रामीण बुढ़िया ने उसकी सहायता की और अपने लड़के के साथ उसको नाहन के शिविर में पहुंचाया।

कठिन शीत की मार—

२७ दिसम्बर की इस पहली मुठभेड़ में जैथक के किले पर अधिकार करने के लिये, अंग्रेजों को अप्रत्याशित लज्जाजनक पराजय का मुंह देखना पड़ा। एक साधारण सी लड़ाई में इतने अधिकारियों और सैनिकों का मारा जाना एवं दोनों चोटियों के आक्रमणों में भगदड़ मच जाना रण-संचालन की दृष्टि से एक बड़ी असफलता थी। इससे यह स्पष्ट हो गया था कि पहाड़ी क्षेत्र के युद्ध में नेपाली सिद्धस्त हैं और उनको इसमें पराजित करना कोई आसान काम नहीं है। मेजर जनरल मार्टिनडल की असफल रण-नीति इस विनाश का कारण थी। वह नाहन में बैठा क्षोभ और क्रोध से हाथ मल रहा था। वह पहले भी एक असफल सेनानायक मान लिया गया था। अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने का उसको अवसर दिया गया था, परन्तु अब उसकी प्रतिष्ठा और भी मिट्टी में मिल गई थी। उधर जैथक में और नेपाली कुमुक पहुंचने वाली थी। बलभद्र थापा नालापानी से भाग कर गढ़वाल के सकल्याना क्षेत्र में लूट मार कर रहा था। श्रीनगर गढ़वाल से कुछ सिपाही और उसके साथ मिल गये थे। फलतः तीन-चार सौ सैनिक और जैथक में पहुंचने वाले थे। पहली पराजय के बाद हतोत्साह होकर मार्टिनडल नाहन में अपने आपको कोस रहा था। जैथक से उत्तर दिशा की ओर कुछ पहाड़ी चोटियां थी। इनमें से एक को अंग्रेजों ने सुविधा के लिये ब्लैक हिल और पूर्व की चोटी का नाम पीकॉक हिल दिया है, शेष दो चोटियों का नाम जमटा और नौनी स्थानीय नाम थे। प्रथम पराजय के बाद जैथक से दूर उत्तर की ओर नौनी और ब्लैक हिल नाम की चोटियों पर अंग्रेजी सेना की टुकड़ी भेजी गई। फरवरी में वर्षा, तूफान और हिमपात से नौनी चोटी पर स्थित सैनिक टुकड़ी गर्म कपड़े और तम्बुओं के अभाव में ठण्ड से अति दुखी थी—ठण्ड पड़ने के

तीसरे दिन २० सिपाही और १२ नौकर शीत-जन्य नमोनिया आदि से काल-कवलित हो गये। उधर नाहन मे भी देशी सिपाही जिन्होंने कभी बर्फ नहीं देखी थी, ठण्ड से दु खी थे। ८०० के लगभग भेड-बकरियां ठण्ड को सहने मे असमर्थ होने स मर गई। ये पशु अग्रेजी सेना के डिपो के थे। जब आसमान कुछ साफ हुआ तो मेजर लुडलो एक सैनिक टुकडी को लेकर नौनी की ओर गया और वहा स्थित सैनिकों को वापिस नाहन म भेजा। पर उनमे से ३० के लगभग सिपाही स्ट्रेचर पर नाहन पहुचे।

अनियमित सेना का सहार—

फरवरी के मध्य तक बलभद्रसिंह अपने सैनिकों के साथ जिनकी सख्या अब पाच छ सौ से कम न थी, जैथक मे पहुच गया। नैपालियों ने पीर्वांक हिल पर भी अपनी चौकी स्थापित कर ली। अग्रेजों को यह भी सूचना मिली कि नालागढ से अमरसिंह थापा ने जैथक की सहायता के लिए एक छोटी कुमुक भेजी है। विलियम फ्रेजर की सगठित की हुई अनियमित सेना जिसकी सख्या दो हजार के लगभग थी, उस कुमुक को रोकने के लिये उत्तर की ओर माईधार की ओर गई। इस सेना के साथ नाहन के विद्रोही कुवर किशनसिंह भी था। जैथक से १५ मील उत्तर दिशा की ओर जलाल नदी के ऊपर चनारागढ नामक स्थान पर रात के समय नालागढ से आई नैपाली कुमुक से इन सैनिकों का मुकाबला हुआ। सूर्योदय होने पर नैपाली सैनिको ने नगी खुंखरियो से इन पर आक्रमण किया। अनियमित सैनिक खुंखरियों को देख कर बहुत भय-भीत हुये। परिणाम यह हुआ कि उनमे भगदड पड गई। १५०० के लगभग सैनिकों ने तो भाग कर अपने प्राण बचाये, कुछ नैपालियो की खुंखरियो शिकार हुये और कुछ पहाडी ढलानो पर भागते हुये लुढकते गिरते अपने प्राणों से हाथ धो बैठे। अनियमित सेना का यह बडे पैमाने पर सहार था। इस प्रकार की सेना पर, किसी भी महत्वपूर्ण अभियान के लिये विश्वास करना, विवेक-हीन प्रतीत होने लगा। इस सेना का सृष्टा विलियम फ्रेजर था। मार्टिनडल के साथ इसके सम्बन्ध पहले ही अमैत्रीपूर्ण थे। इस विनाश के बाद उनके बीच की दरार और बढ गई। विलियम फ्रेजर अपने अनियमित पाच छ सौ सैनिकों को लेकर उत्तर दिशा की ओर चल पडा।

विलियम फ्रेजर का उत्तर की ओर अभियान—

इस अभियान का उद्देश्य उस क्षेत्र को जीतना इतना नहीं था जितना कि वहा के प्रतिष्ठित लोगों से सम्पर्क स्थापित करना था। विलियम फ्रेजर यह जानना चाहता था कि जुब्बल क्षेत्र के लोगों की भावनायें अग्रेजों के प्रति कैसी हैं, वे अग्रेजो का साथ देने को तैयार है या नहीं। ३ मार्च १८१५ को वह नाहन से चला। साईं धार और चूड चान्दनी पर्वत श्रखला को पार करता हुआ १२ मार्च को वह चौपाल क्षेत्र के सरै गांव मे पहुचा। उस समय यह क्षेत्र व सारा मार्ग बर्फ से ढका था, परन्तु इस विकट यात्रा को उसने बडे साहस के साथ पूरा किया। रात के समय

गुप्त रूप से जुब्बल के दोनों वजीर डागे और प्रेमू उससे मिले। लोगों को नैपालियों से कोई आसक्ति नहीं थी, परन्तु प्रकट रूप से वे अंग्रेजों का साथ देने को भी तैयार नहीं थे। डागे वजीर ने कोई स्पष्ट आश्वासन फ्रेजर को नहीं दिया, परन्तु परिस्थिति बदलने पर अंग्रेजों की सहायता करने का भाव प्रकट किया। वह वास्तव में दुविधा



मेजर जनरल सर डेविड अख्तरलोनी

में था। उधर चौपाल के किले में लगभग सौ नैपाली सैनिकों की टुकड़ी थी। फ्रेजर की सेना के आगमन की सूचना पाते ही, पुन्नर-निवासियों ने चौपाल के किले पर आक्रमण करने का दुःसाहस किया। परिणाम यह हुआ कि उनका एक आदमी किले के अन्दर से गोली लगने से मारा गया। पुन्नरी बहुत खूंखार लोग थे। इन्होंने पहले भी बड़ी वीरता से १८११ में गोरखाओं का मुकाबला किया था। जब गोरखा सेना

नाहन के युद्ध मे विजयी हुई और उनका इस सारे क्षेत्र पर अधिकार हो गया तो उन्होंने पुन्नरियो से चुन चुन कर बदला लिया। वे गोरखाओ के अत्याचार को नही भूले थे, उन्होने पुन्नरियो के घर और गाँव जलाये थे और कइयों को मौत के घाट उतारा था। जब उनको अग्रेजो की विजय के समाचार मिले तो कहते हैं कि पुन्नरियो ने वहा स्थित गोरखा सैनिको और अधिकारियो को रात के समय भोजन और मदिरा पान के लिये सादर आमन्त्रित किया। जब गोरखे भोजनोपरान्त मदिरा-पान से बे-सुध हो गये तो पुन्नरियों ने उन पर आक्रमण किया और लगभग सबको ही मार डाला। इस जघन्य विश्वास-घात से पुन्नरियो ने अपने प्रतिशोध को शान्त किया, परन्तु नैपालियों के प्रति यह निर्मम विश्वास घात असभ्य और अभद्र था। जब फ्रेजर अपने सैनिको सहित चौपाल मे पहुंचा तो उसने नैपाली किलेदार को आत्म-समर्पण के लिये कहा। जब नैपाली किलेदार ने आनाकानी की तो फ्रेजर ने उसको पुन्नरियो की याद दिलाई कि लोग उनके खून के प्यासे हैं, यदि व चुपचाप आत्म समर्पण नही करेंगे तो लोग उनकी भी वही दुर्गति करेंगे जो पुन्नर निवासियो ने उनके साथियो की थी। परिणामत इस नैपाली सैनिक टुकडी ने विलियम फ्रेजर के सम्मुख हथियार डाल दिये, उन सब को अग्रेजो की सेना मे ले लिया गया। चौपाल के किले मे सौ अनियमित सैनिको को रखकर फ्रेजर वापिस नाहन आ गया।

जुब्बल के डागे वजीर का अग्रेजों के साथ मिलना—

इस घटना के बाद डागे वजीर जुब्बल राज्य की सेना समेत नैपालियों से अलग हो गया और वह अग्रेजो का समर्थक बन गया। डागे वजीर जुब्बल-क्षेत्र का एक प्रभावशाली व्यक्ति था। गोरखाओ ने जब जुब्बल के राणा को पदच्युत किया तो डागे वजीर को उन्होंने अपने साथ रखा क्योकि इस क्षेत्र को नियन्त्रण मे रखने के लिये, डागे का प्रभाव महत्वपूर्ण था। सन १८११ से मार्च १८१५ तक डागे वजीर गोरखा कमाण्डर अमरसिंह थापा का साथी और सहयोगी रहा और अब उसका अग्रेजो के पक्ष मे चले जाना नैपालियो के लिये एक बडा आघात था। विलियम फ्रेजर की इस यात्रा की यह सबसे बडी उपलब्धि थी कि बिना एक बूंद खून बहाये उसने जुब्बल क्षेत्र को अपने पक्ष मे कर लिया। उधर जैथक मे किले की घेराबन्दी और बडी-बडी तोपों से गोलाबारी सर्दियों मे निरन्तर चलती रही। जैथक के किले मे अन्न के अभाव से भुखमरी आरम्भ हो गई। कई गोरखे सिपाही भाग कर अग्रेजो के शिविर मे आने लगे। ऐसे भगोडे गोरखाओ की सख्या अग्रेजी शिविर में बढने लगी। परन्तु काजी रणजोर सिंह ने विपन्न और विकट स्थिति मे होते हुये भी मई मास तक आत्म-समर्पण नही किया। १५ मई १८१५ को कमाण्डर अमरसिंह थापा ने मलौण के किले को अख्तरलोनी के हवाले करके आत्म-समर्पण की शर्तों पर हस्ताक्षर किये। रणजोर थापा ने उसके बाद २१ मई को जैथक के किले को अग्रेजो को सौंपा। इस प्रकार जैथक की लडाई लगभग पाच महीने तक चली।

पहाड़ी राजा-राणाओं के प्रति अंग्रेजों की घोषणा—

सन् १८१४ में नेपाल और अंग्रेजों के मध्य संघर्ष आरम्भ होने पर तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्डहेस्टिंग ने पहाडी राज्यों के शासकों और लोगों के नाम एक घोषणा निकाली जिसमें ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार ने पहाडी जनता और शासकों से सहायता और सहयोग की याचना की और आश्वासन दिया कि कम्पनी सरकार पदच्युत राजाओ, राणाओं और ठाकुरो को उनके परम्परागत राज्यों को उनको सौंपेगी और उनसे किसी प्रकार के आर्थिक लाभ की अपेक्षा नहीं रखेगी। इस घोषणा-पत्र का हिन्दी रूपान्तर इस परिच्छेद के अन्त में दिया गया है। अंग्रेज सरकार ने अपने वचन का पालन नही किया। निःसन्देह पहाडी शासकों को उनके क्षेत्र वापिस दिये गये, परन्तु कम्पनी सरकार ने मनमाने ढंग से उसमें काट-छाट की। कइयों को उनके पूरे राज्य वापिस नही किये गये। उन सब राज्यों को अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी और नजराने के रूप में वार्षिक कर अपनी हैसियत के अनुसार देना पड़ा। कुछ महत्वपूर्ण सैनिक अधिकारी विशेषतः कर्नल अक्तरलोनी का विचार था कि पहाडी क्षेत्रों को जीतकर अंग्रेजी राज्य में विलय कर दिया जाय क्योंकि ये शासक आपस में निरन्तर झगड़ों में उलझे रहते थे। अंग्रेज सरकार को उनके झगड़ों में मध्यस्तता करनी पड़ेगी जो अच्छे प्रशासन की दृष्टि से वाछनीय नहीं होगा, परन्तु लॉर्ड हेस्टिंग इससे सहमत नही था। उसका मत था कि अधीनस्थ शासकों की मध्यस्थता करना सर्वोपरि सत्ता का विशेष अधिकार होगा और वह स्वेच्छा से इसका प्रयोग करेगी। वास्तव में कम्पनी सरकार ने इस क्षेत्र के बटवारे का पहले ही निर्णय कर लिया था, कुमाऊ, आधा गढवाल और समस्त दून क्षेत्र को वे अपने राज्य में मिलाना चाहते थे। कुमाऊ और गढवाल क्षेत्र का तिब्बत के साथ व्यापार के लिये घनिष्ठ सम्बन्ध था। इन इलाको से तिब्बत के लिये व्यापारिक मार्ग जाते थे। अंग्रेजों को रेशम और ऊन के व्यापार का प्रलोभन बहुत अधिक था। विजय के बाद अंग्रेजो ने समस्त कुमाऊ राज्य को अंग्रेजी इलाके में सम्मिलित कर लिया। गढवाल का विभाजन किया गया, अलकनन्दा नदी से पश्चिमवर्ती भाग तत्कालीन राजा सुदर्शन शाह को दे दिया गया और पूर्वी भाग कम्पनी सरकार के क्षेत्र में मिला लिया गया। तिब्बत जाने के लिए नीति और माणा के दर्रे इस क्षेत्र में पड़ते थे। उधर सिरमौर राज्य का समस्त क्षेत्र तत्कालीन राजा फतेहप्रकाश को नहीं दिया गया। अंग्रेजों ने सिरमौर राज्य के मोरनी किले और परगने को, अपने सहायक हित-चिन्तक एवं मुसलमान सरदार को दे दिया। रतेश परगने में गिरी नदी के उत्तर का कुछ क्षेत्र क्योंथल को दे दिया। क्यारदादून जिसको आजकल पौंटा घाटी कहते हैं, अंग्रेजो ने अपने पास रखा। सन् १८३३ में राजा फतेहप्रकाश के पचास हजार रुपये नजराना देने पर क्यारदादून पुनः सिरमौर राज्य को वापिस मिला। कालसी क्षेत्र और जौनसार-बावर का परगना जो पहले सिरमौर राज्य का भाग था, अंग्रेजी राज्य में स्थायी रूप से मिला लिया गया। यह लडाई के खर्च के बदले में लिया

गया था। उसी प्रकार बघाट राज्य का तीन-चौथाई भाग ले लिया गया। क्योंथल राज्य का कुछ इलाका और बघाट का अधिग्रहीत भाग पटियाला को दो लाख अस्सी हजार रुपये के नजराने के बदले में दे दिया गया। क्योंथल ने लडाई का खर्च देने से इनकार कर दिया था। अत उसके पर्याप्त क्षेत्र का अधिग्रहण किया गया। वार्षिक कर सभी राज्यो पर लगाया गया। संक्षेपत अंग्रेजो ने अपने घोषणा में जो वचन दिये थे, उनका उल्लंघन किया।

परिशिष्ट

यमुना और सतलुज के मध्यवर्ती क्षेत्र के राजाओ और निवासियों के नाम अंग्रेजो की घोषणा—

यमुना और सतलुज नदियो के मध्यवर्ती पहाडी क्षेत्र के निवासियो को दमनकारी गोरखाओ के शासन से त्रस्त और दुखी देखकर ब्रिटिश सरकार को बहुत दुख और चिन्ता हुई, जब तक उस सत्ता के ब्रिटिश सरकार के साथ शान्ति और मैत्री के सम्बन्ध थे और ऐसा कोई कारण नही था जिससे उनकी नियत पर सन्देह किया जा सके तो ब्रिटिश सरकार को भी इसके अनुरूप ही आचरण करना अनिवार्य-जैसा था। फलत ब्रिटिश सरकार मूक दृष्टा की तरह गोरखा शक्ति द्वारा इस क्षेत्र के विनाश को चुपचाप देखने को विवश थी।

परन्तु गोरखा शक्ति द्वारा कई अनुचित क्षेत्रीय अतिक्रमणो और हिंसा की घटनाओ से विवश होकर अपने अधिकार और आत्म-सम्मान की रक्षा के लिये ब्रिटिश सरकार को उस सत्ता के विरुद्ध युद्ध का सहारा लेना पडा। ब्रिटिश सरकार इस अवसर पर सकल्प करती है कि पहाडी क्षेत्र के निवासियों की इन आततायियो के निष्कासन से उनकी स्वतन्त्रता की रक्षा करेगी और उनके पुरातन शासको को पुन. सत्तारूढ करेगी। अत पर्वतीय क्षेत्र निवासियो को आमन्त्रित किया जाता है और उनसे सच्चे दिल से आग्रह किया जाता है कि वे अंग्रेजी सेना का साथ दें ताकि वे देश के हित के इस महान लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल हो सकें। अंग्रेजी सेना के कमाण्डर को यह अधिकार और आदेश सरकार की ओर से दिया गया है कि वह ब्रिटिश सरकार की ओर से यहा के राजाओं और निवासियों को यह आश्वासन दे कि ब्रिटिश सरकार सदा इनकी गोरखा—शक्ति के आतंक से रक्षा करेगी। राजाओं और लोगो को यह वचन भी दे कि सरकार उनके परम्परागत एव पुरातन अधिकारों की सम्मानपूर्वक रक्षा करेगी। इस रक्षा और सहायता के बदले में ब्रिटिश सरकार किसी प्रकार के कर और आर्थिक हर्जाने की मांग नहीं करेगी। इसके बदले में सरकार, लोगों से युद्धकाल में केवल उत्साह पूर्वक और सहर्ष सहयोग की अपेक्षा करती है और इसके बाद भी यदि आवश्यकता पड़ी तो सरकार अंग्रेजी सेना की भांति शत्रुओं के विरुद्ध अभियान मे इसी प्रकार के सहयोग की अपेक्षा करेगी।

११. बिलासपुर क्षेत्र में संघर्ष

मलौण मे गोरखा स्कन्धावार—

गोरखा युद्ध का पश्चिमी हिमालय क्षेत्र मे तीसरा केन्द्र हडूर (नालागढ) और बिलासपुर राज्यो मे रहा। हडूर का राजा रामसिह नैपालियो का पुराना शत्रु था। कागडा के घेरे के समय रामसिह ने हडूर मे गोरखाओ को तग किया था। अत अब उसका अग्रेजो का समर्थक होना स्वाभाविक था। हडूर राज्य का केवल पलासी का किला रामसिह के अधिकार मे था। शेष सारे क्षेत्र और किलो पर गोरखाओं का अधिकार था। गोरखा कमाण्डर अमरसिंह थापा का मुख्य केन्द्र अरकी मे था, परन्तु युद्ध आरम्भ होने पर थापा ने हडूर राज्य मे स्थित मलौण के किले म अपना मुख्य केन्द्र बनाया। अग्रेजो ने इस क्षेत्र मे युद्ध के सचालन का कार्य-भार मेजर जनरल डेविड अखतरलोनी को सौंपा था। अखतरलोनी को विश्वास था कि थापा पश्चिमी क्षेत्र के युद्ध मे उलझने की अपेक्षा पूर्व मे नैपाल की रक्षा के लिये कूच करेगा क्योकि नैपाल क्षेत्र पर भी आक्रमण हो रहा था। अखतरलोनी का यह अनुमान सर्वथा निराधार निकला। थापा अग्रेजी सेना का सामना करने के लिये पूरी तरह से तैयार था। उसने अरकी को छोड कर मलौण मे अपना केन्द्र रखा। मलौण का किला बिलासपुर से दक्षिण पूर्व दिशा मे ४,५०० फुट ऊची पहाडी पर स्थित था। यह पहाडी गम्भर और गमरोला नदिया के बीच मे है। ये दोनो नदिया बिलासपुर से दक्षिण मे सतलुज नदी मे मिलती हैं। मलौण से दक्षिण-पश्चिम म शिवालिक की कई छोटी छोटी पर्वत शृखलाए हैं। इन पहाडियो पर कई किले थे। प्रमुख किलो के नाम मागू, तारागढ, चम्बा, रामगढ, आदि थे, ये सभी किले गोरखा कमाण्डर के अधीन थे। और उन सब मे नैपाली सैनिक थे। उन किलो को जीतने के बाद ही अखतरलोनी थापा के मुख्य केन्द्र मलौण पर आघात कर सकता था

अंग्रेजी सेना का नालागढ की ओर अभियान—

अग्रेजी सेना अक्तूबर के अन्तिम भाग मे रोपड नगर से चली। इस सेना म पैदल और घुडसवार सैनिको और तोपचियो को मिलाकर कुलसख्या छ हजार के लगभग थी। इसके अतिरिक्त हडूर राज्य के सैनिक सहायक के रूप मे थे। अग्रेजो के द्वारा सरक्षित सिख राज्यो, विशेष कर पटियाला राज्य की सेना की टुकडिया भी इस सेना के साथ थी। सेना शिविर के अन्य कर्मचारियो और अधिकारियो के सेवको को मिलाकर यह एक विशाल-जन समूह था, लगभग १८०० सैनिक और असैनिक कर्मचारी और सेवक। अखतरलोनी ने रोपड मे पाच हजार बैलो को सामान ढोने के लिये एकत्र किया। कुली

और अन्य साधन इसके अतिरिक्त थे। नवम्बर के पहले सप्ताह में अख्तरलोनी की सेना नालागढ़ पहुंच गई। यहां पर उसकी पहली मुठभेड़ नेपाली सैनिकों से हुई, परन्तु दो दिन के अन्दर ही नालागढ़ का किला अंग्रेजों के अधिकार में आ गया। इस लड़ाई में एक सारजेण्ट मारा गया और आधे दर्जन के लगभग सिपाही घायल हुये। अंग्रेजों की सेना शिविर गम्भर की घाटी में नोरी नामक स्थान पर स्थापित किया गया। दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में अंग्रेजी सेना ने मागू के किले पर अधिकार कर लिया। मागू के स्थान पर गोरखाओं और अंग्रेजों के मध्य पहला भीषण संघर्ष हुआ। तीन घण्टे के युद्ध में नेपालियों के १५० सैनिक इस युद्ध में मारे गये और २५० के लगभग घायल हुये। अंग्रेजी सेना के नौ सैनिक हताहत हुये और चवालीस सैनिक घायल हुये। अंग्रेजों की शक्ति उनके तोपखाने में थी, उन्होंने छः पौण्ड का गोला बरसाने वाली तोपों से नेपालियों पर मार की। परन्तु थापा के लगभग २५०० सैनिकों ने नंगी खुंखरियों से अंग्रेजी सेना पर आक्रमण किया। नेपाली अदम्य उत्साह और निर्भयता के प्रतीक मालूम होते थे। ये अपने प्राणों को हथेली पर रख कर इस प्रकार की आमने-सामने की लड़ाई में कूद पड़ते थे, इनकी नंगी खुंखरियों को देख कर अंग्रेजी फौज के सैनिक भय से आतंकित हो जाते थे और उनमें भगदड़ पड़ जाती थी। सायं काल होने पर नेपाली मागू के किले में लौट गये। इस युद्ध के बाद अख्तरलोनी ने मलौण के किले की नाकेबन्दी करने की योजना बनाई। उसने फौजी टुकड़ियां गमरोला नदी के मार्ग से मलौण की दिशा में भेजी।

बिलासपुर नगर पर अधिकार—

एक टुकड़ी लै० रौस के अधीन जिसमें मुख्यतः हडूरी सैनिक थे, बिलासपुर के उत्तर में पिछले मार्ग से बन्दला की पहाड़ी पर भेजे। इस पहाड़ी से लगभग एक हजार फुट नीचे सतलुज के किनारे बिलासपुर नगर था। इस ऊंचे स्थान से बिलासपुर पर धावा बोलना आसान था। बिलासपुर नगर की रक्षा की कोई विशेष व्यवस्था नहीं थी। रौस के हण्डूरी सैनिकों ने बिना किसी कठिनाई के नगर पर अधिकार कर लिया। बिलासपुर का राजा महाचन्द और गोरखा शिवदत्त राम जो परमर्शदाता और थापा का प्रतिनिधि था सतलुज नदी के पार के क्षेत्र में चले गये। वहां बिलासपुर राज्य का वह भाग था जहां रणजीत सिंह का प्रभुत्व था और अमृतसर की सन्धि के अनुसार इस क्षेत्र में अंग्रेज किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे। अख्तरलोनी ने रौस को यह आदेश दिया हुआ था कि हडूरी सिपाही बिलासपुर निवासियों पर किसी प्रकार का अत्याचार न करें। हडूर और कहलूर राज्यों की पुरानी शत्रुता थी और अवसर मिलने पर हडूर के सिपाही प्रतिशोधात्मक हिंसा पर उतर सकते थे। अख्तरलोनी के आदेश के अनुसार अंग्रेजी सेना उद्धारक के रूप में विजित क्षेत्र में जाय, न कि आततायी के रूप में। बिलासपुर नगर पर अधिकार होने से अंग्रेजी सेना के लिए रसद का अभाव कम हो गया और थापा के लिये रसद का यह रास्ता बन्द हो गया। उधर अमरसिंह थापा मागू और इसके निकट की अन्य चौकियों को छोड़ कर मलौण के किले की ओर गया।

इस किले से थापा की अतुल धन-राशि और उसका परिवार था। मलोण की धार पर कई मीलों तक गोरखा छावनी थी। यहीं से वह अंग्रेजों का मुकाबला करना चाहता था। अग्रतरलोनी का ध्येय थापा को इसी धार पर आके बन्दी करना था। शीतकाल का समय अंग्रेजों की सेना का शिवालिक की निचली घाटियां में बीता जो मलोण की धार से दक्षिण दिशा में थी। परन्तु गन्दगी और ठण्ड से कई सिपाही बीमार पड़ गये। धीरे धीरे सेना का अग्रिम भाग गमरोला नदी की घाटी में उत्तर की ओर बढ़ता गया। भागू के निकट रामगढ़ नाम के किले में अभी भी नेपाली सैनिक विद्यमान थे। कूपर नाम के अंग्रेज अधिकारी की कमाण्ड में तैनात एक सैनिक टुकड़ी ने बड़ी तोपों के साथ रामगढ़ पर आक्रमण किया और कुछ दिन की भारी गोला बारी ने इस किले को ध्वस्त किया। परिणामत गोरखा सैनिकों ने आत्मसमर्पण किया। यह आत्म-समर्पण उदार शर्तों पर स्वीकार किया गया। नेपालियों को अपने-अपने शस्त्र और व्यक्तिगत सम्पत्ति को ले जाने की आज्ञा मिली और उन्हें मलोण के किले की ओर सुरक्षित जाने की अनुमति भी मिली। परन्तु थापा ने इस आत्म समर्पण के लिये रामगढ से आये सैनिकों के साथ निर्दयता का व्यवहार किया। उनके नाक-कान काट दिए गये और किलेदार नायक को लोहे की बेड़ियों में जकड़ा गया। यदि भक्ति थापा हस्तक्षेप न करता तो अमरसिंह थापा उसका सिर अलग करवा देता। थापा को यह विश्वास नहीं था कि गोरखा अंग्रेजों से परास्त हो जायेंगे।

सन्धि का प्रस्ताव और अमरसिंह थापा द्वारा विरोध—

अमर सिंह थापा नेपाल से २००० सैनिकों की कुमक का प्रतीक्षा कर रहा था। उसका विश्वास था कि इस कुमुक के आने पर वह सफलता के साथ अंग्रेजों का मुकाबला कर सकेगा। उधर नालापानी की लड़ाई के बाद नेपाल दरबार से रणजोर थापा के पास एक पत्र आया जिसमें उसको यह सलाह दी गई थी कि वह अंग्रेजों के साथ सन्धि की बात-चीत आरम्भ करे। इस पत्र में तराई क्षेत्र, में देहरादून और सतलुज के मध्य का भाग छोड़ने का सुझाव दिया गया था। रणजोर सिंह ने उस पत्र की प्रतिलिपि अपने पिता अमरसिंह थापा को भेजी। थापा ने इसके उत्तर में नेपाल दरबार को लिखा कि अपमान-जनक आत्म-समर्पण से तो अन्तिम क्षण तक लड़ना श्रेयस्कर है। हमारे इन इलाकों को छोड़ने पर अंग्रेज गढ़वाल और कुमाऊ क्षेत्रों को भी मांगेंगे। अंग्रेजों का विश्वास करने का वही अन्त होगा जो टीपू सुलतान का हुआ। थापा ने एक पत्र का प्रारूप अपने पत्र के साथ भेजा। यह प्रारूप चीन के सम्राट के नाम पत्र का था जिसमें नेपाल दरबार ने अपने आप को चीन सम्राट के संरक्षण में होना स्वीकार किया और अपनी रक्षा के लिये चीन से सैन्य सहायता की प्रार्थना की। थापा ने नेपाल दरबार पर धर्म के प्रति पराङ्मुख होने का आरोप लगाया। वृद्धावस्था में भी अमरसिंह थापा निर्दय और क्रूरस्वभाव का था, परन्तु परम्परागत धार्मिक आस्था उसमें गहरी थी। युद्धकाल में कदाचित् नेपाल दरबार ने ब्राह्मणों की जागीरें भी

वापिस ले ली थी। यह आर्थिक संकट का युग था। थापा को गो-ब्राह्मण की सेवा में गहरी आस्था थी। अतः उसने नेपाल दरबार को सलाह दी कि ब्राह्मणों की दान-दक्षिणा से सेवा की जावे और उनके द्वारा देवार्चन किया जावे। उनके आशीर्वाद से नेपाल की युद्ध में विजय होगी। इसके साथ ही उसने अंग्रेजों के साथ किसी प्रकार की सुलह की बात का घोर विरोध किया। यह पत्र नेपाल न पहुंच सका। पत्र-वाहक को मार्ग में पकड़ लिया जाता था और उनसे इस प्रकार के पत्र छीन लिये जाते थे। अमरसिंह थापा के पत्र की भी यही गति हुई।

बिलासपुर, कुल्लू और बुशैहर अंग्रेजों के पक्ष में—

बिलासपुर नगर पर अंग्रेजों का अधिकार होने पर राजा महाचन्द नगर छोड़ कर सतलुज पार चला गया था। अंग्रेजी सेना द्वारा मलौण के किले का घेरा प्रगति पर था और धीरे-धीरे अमरसिंह थापा की नाकेबन्दी नेपालियों को चारों ओर जकड़ रही थी। अख्तरलोनी ने महाचन्द को अपने पक्ष में करने का प्रलोभन दिया। राजा महाचन्द स्वयं तो समझदार नहीं था, पर उसके परामर्शदाता बारह बड़ी ठकुराइयों के स्वामित्व को प्राप्त करने की चाल-बाजी कर रहे थे। कुछ वर्ष पूर्व बिलासपुर इन बारह ठकुराइयों का अधिपति था। गोरखा शासन-काल में गोरखा सैनिक अधिकारी इनके स्वामी रहे और इन पर बिलासपुर या सिरमौर का अधिनायकत्व समाप्त-सा हो गया था। अख्तरलोनी ने सतलुज पार के क्षेत्र पर बिलासपुर के शासन को मान्यता देना तो स्वीकार किया, परन्तु बारह ठकुराइयों के स्वामित्व की बात ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार की घोषित नीति से मेल नहीं खाती थी। राजा महाचन्द इतनी मान्यता प्राप्त करने से संतुष्ट था। अतः थोड़े दिनों के पश्चात् वह बिलासपुर नगर में वापिस आ गया और उसने अंग्रेजों के संरक्षण को स्वीकार किया। तत्पश्चात् राजा बिलासपुर अंग्रेजों का समर्थक और सहायक बन गया। अप्रैल के आरम्भ में कुल्लू का टीका वजीर अंग्रेजों के पक्ष में आ गया था। अभी मलौण का घेरा पड़ा हुआ था और अमरसिंह थापा व अख्तरलोनी के मध्य अन्तिम संघर्ष होना शेष था। उधर पहले ही बुशैहर का वजीर अख्तरलोनी के शिविर में पहुंच गया और उसने अपनी सहायता और समर्थन का आश्वासन अंग्रेज कमाण्डर को दिया। अप्रैल के मध्य में वजीर बदरीदास बुशैहर क्षेत्र में प्रजा को नेपालियों के विरुद्ध भड़काने और उनको इस क्षेत्र से निकालने के लिये चला गया। इसके बाद ही बुशैहर और कुल्लू की सेनाओं ने मिल कर गोरखाओं को बुशैहर और कोटगढ़ क्षेत्र से निष्कासित करने का अभियान चलाया। तब सारे क्षेत्र का सेना अधिकारी कीर्ति राणा था। कीर्ति राणा नैपाल के अधीनस्थ राज्य पाल्पा के राजवंश से था। उस समय उसकी आयु ७० वर्ष से कम न होगी, परन्तु उसमें नौजवानों जैसी स्फूर्ति और तेज था। साथ ही वह सफल प्रशासक और न्याय प्रिय अधिकारी था। रामपुर बुशैहर से आने के बाद उसने सारकण्डा के निकट हाटू टिब्बा पर कुल्लू और बुशैहर की सेनाओं का मुकाबला किया।

था। आमने-सामने की लड़ाई मे इन निर्भीक और साहसी नेपाली सिपाहियों का मुकाबला करना प्राय कठिन होता था। अंग्रेजी सेना का नायक सैमसन था। ध्योथल की चोटी पर वह दो छ पौंड का गोला बरसाने वाली तोपों को ले जाने मे सफल हो गया था। ये तोपें अंग्रेजी सेना की विशिष्ट शक्ति थीं। नैपालियों का मुख्य लक्ष्य आरम्भ से ही इन तोपों का मुंह बन्द करना था, पर वे इसमें सफल नहीं हुये। सारे दिन बडी वीरता से भक्ति थापा के सैनिक बहुत निकट से अंग्रेजों की सेना पर गोलियों की बौछार करते रहे। दोनों पक्षों मे भारी युद्ध हुआ, परन्तु कोई निर्णायक परिणाम सामने नहीं आ रहा था। सायंकाल नैपालियों ने एकाएक गोलाबारी बन्द की और अपने शिविर की ओर वापिस जाने लगे। अंग्रेजों ने युद्ध-भूमि में एक गोरखा अधिकारी का शव पड़ा देखा। शनाख्त करने पर अंग्रेजी शिविर के नैपालियों ने बड़े दुःख के साथ बताया कि यह भक्ति थापा का शव है। अख्तरलोनी ने मूल्यवान पशम की चादरों से शव को लपेट कर सम्मान के साथ अमरसिंह थापा के शिविर की ओर भेजा। नैपालियों ने भक्ति थापा के शव को देखकर कहा था 'हमारी तलवार की धार टूट गई है।' वास्तव मे अमरसिंह थापा कभी भी अपनी सेना के स्नेह और श्रद्धा का पात्र नहीं हुआ। भक्ति थापा इस स्नेह का स्रोत था। गोरखा सेना इस घटना के बाद शक्ति हीन हो गई। धीरे-धीरे सैनिक थापा को छोडकर अंग्रेज शिविर मे सम्मिलित हो रहे थे। अमरसिंह थापा के पास केवल मलौण का किला रह गया था। १६ अप्रैल के युद्ध मे अंग्रेजी सेना के ३३ सैनिकों की मृत्यु हुई और २२० सैनिक घायल हुये जबकि गोरखा मृतकों और घायलों की संख्या ५०० के लगभग थी।

गोरखा शिविर मे निराशा—

अब मलौण मे अमरसिंह थापा की स्थिति निराशापूर्ण थी। उसकी सेना लगभग आधी रह गई थी। उसके भयावह आदेश के बावजूद कि भगोड़े सिपाही को गोली से उड़ा दिया जाय, नित्य कुछ न कुछ नैपाली सिपाही भाग कर अंग्रेजी शिविर मे शरण ले रहे थे। नाके बन्दी के कारण खाद्य सामग्री का अभाव बढ़ रहा था। गोरखा अधिकारी और सिपाही इस निराशाजनक और अकर्मण्य स्थिति से खिन्न थे। वे कोई निर्णायक पग उठाना चाहते थे, परन्तु थापा अनिश्चय की स्थिति मे था। वह कुछ दिन और प्रतीक्षा करने का परामर्श दे रहा था, उसको कदाचित् नैपाल से कुमुक के पहुंचने की आशा थी, परन्तु अल्मोड़ा के पतन के बाद कुमुक के आने की सम्भावना तो समाप्त हो गई थी। अख्तरलोनी ने बारह पौण्ड का गोला बरसाने वाली तोपों का मुंह मलौण के किले की ओर कर लिया था, परन्तु यह कदम नैपालियों को आतंकित करने के लिये उठाया था। अन्त में थापा के अधिकारी (भरदार) एकत्र होकर उसके पास गये और उन्होंने कोई निर्णायक कदम उठाने के लिये उस पर जोर दिया। कोई निश्चित उत्तर न मिलने पर २६०० गोरखा भरदार (अधिकारी) और सैनिक मलौण को छोड़ कर अख्तरलोनी की शरण मे चले गये। थापा के पास केवल २५० सैनिक शेष रहे। अन्त

मे उसने अपने पुत्र रामदास को आत्म सम्पर्ण का प्रस्ताव लेकर अखतरलोनी के पास भेजा। अंग्रेज कमाण्डर ने इन मुख्य शर्तों पर थापा का आत्म-सम्पर्ण स्वीकार किया—(१) मलौण सहित यमुना और सतलुज के मध्य गोरखा सभी किलो और क्षेत्रों को खाली करे। (२) अपने व्यक्तिगत सम्पति व स्त्री-बच्चो को लेकर जो नैपाल जाना चाहे वे काली नदी के पार नेपाल को चले जाएँ। (३) जो गोरखे अंग्रेजो की सेना में भर्ती होना चाहे उनको कम्पनी सरकार अपनी सेवा मे ले लेगी। (४) अमरसिंह थापा भी अपनी स्त्रियो और बच्चो व व्यक्तिगत सम्पत्ति को लेकर ससम्मान अपने देश को जिस मार्ग से जाना चाहे जा सकता है।

१५ मई १८८५ को अमरसिंह थापा ने आत्म-सम्पर्ण किया और उक्त इकरारनामे पर हस्ताक्षर किये। इकरारनामे को परिशिष्ट के रूप म इस परिच्छेद के अन्त मे उदधृत किया गया है। अमरसिंह थापा ने अपने जीवन के लगभग २५ वर्ष गोरखा साम्राज्य के विस्तार मे व्यतीत किये। कालीनदी से लेकर सतलुज के तट तक के क्षेत्र तक गोरखा साम्राज्य की विजय-पताका फहराने का गौरव इसी वीर गोरखा का था। कागड़ा मे अवश्य उसको पराजय का मुख देखना पडा था, अन्यथा थापा की यह महत्वाकाक्षा थी कि सिक्किम से लेकर काश्मीर तक गोरखा साम्राज्य की पताका फहराये। परन्तु महाराजा रणजीतसिंह ने नगर कोट के किले मे थापा के स्वप्न को भग कर दिया और अन्त मे अंग्रेज सेना-नायक सर डविड अखतरलोनी ने मलौण मे थापा की आकाक्षाओ पर ऐसा प्रहार किया कि जिस साम्राज्य को स्थापित करने मे उसने अपने जीवन को लगाया वह उसकी आखो के सामने ही रेत की दीवार की तरह धराशायी हो गया जिसके निर्माण के लिये उसने निष्ठापूर्वक अपने जीवन का बलिदान किया, क्षणभर मे उस साम्राज्य का विघटन हो गया और सब से बडी विधि विडम्बना यह थी कि इस विघटन पर मुहर स्वय अमरसिंह थापा को लगानी पडी। नि सन्देह सजल नेत्रो से उस वयोवृद्ध निष्ठावान सेनानी ने उस दस्तावेज पर हस्ताक्षर किये होंगे जो गोरखा साम्राज्य के अन्त्येष्ठि के समय का पिण्डदान जैसा था। अमरसिंह थापा को अंग्रेजों की ओर से भी प्रलोभन दिया गया बताया जाता है। उसी प्रकार अल्मोडा में ब्रह्मशाह को भी अंग्रेजो ने प्रलोभन देने का प्रयत्न किया था परन्तु इन निष्ठावान गोरखा सेनानायको ने तिरस्कार के साथ इन प्रलोभनो को ठुकराया था और अपने देश, राज्य और कर्त्तव्य के प्रति असाधारण निष्ठा और भक्ति का परिचय दिया था। जिस सेना पर अमरसिंह थापा को गर्व था और जिसको सगठित और प्रशिक्षित करने में उसने पूरा प्रयास किया था, उसको विघटित होते हुये भी उसे देखा, उसी सेना ने थापा का परित्याग करके उसके शत्रुओ से शरण प्राप्त की। यह दृश्य भी उसने अपनी आँखो से देखा। अपने साम्राज्य और गौरवमयी सेना का पतन देख कर इस निःस्वार्थ सेना-नायक को जो मन-स्ताप हुआ होगा, उसका अनुमान लगाना कठिन

है। अखतरलोनी ने सन्धि-पत्र में अमरसिंह थापा की कर्तव्य-निष्ठा के लिए जो प्रशंसा की है, वह अमरसिंह थापा के आंसू पोंछने के समान था। इकरारनामा में थापा ने इस बात का उल्लेख करने पर जोर दिया था कि मलौण में उसने जो आत्म-समर्पण किया था वह कुमाऊं के गवर्नर ब्रह्मशाह के आदेशानुसार किया था। साधारणतः अखतरलोनी इस उल्लेख के पक्ष में नहीं था परन्तु अप्रैल में कुमाऊं के पतन के बाद ब्रह्मशाह ने अमरसिंह थापा को हथियार डालने को लिखा था। अतः इस आत्म-समर्पण की जिम्मेदारी को वह ब्रह्मशाह के माथ मढ़ना चाहता था। इसलिए यह उल्लेख कि यह आत्म-समर्पण ब्रह्मशाह के आदेशानुसार हुआ, अमरसिंह थापा की मिथ्या-प्रतिष्ठा को बचाने के लिये किया था, परन्तु मलौण में थापा की जो विकट सैन्य स्थिति हो गई थी, उसको देखते हुये आत्म-समर्पण की अनिवार्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता था। थापा का प्रयास कि पराजय और आत्म-समर्पण का अपयश ब्रह्मशाह के सिर मढ़ा जाय, आत्म प्रवंचना के बराबर था।

अन्तिम सन्धि—

अल्मोड़ा के पतन के बाद नैपाल की पराजय सुनिश्चित हो चुकी थी और सन्धि की शर्तों की रूपरेखा भी बन चुकी थी। युद्ध के आरम्भ में ही लॉर्ड हेस्टिंग्स समस्त कुमाऊं और गढ़वाल के कुछ भाग को अंग्रेजी राज्य में मिलाने का निर्णय कर चुका था। मलौण का आत्म समर्पण तो गोरखा पराजय की अन्त्येष्टि, अन्तिम पिण्ड दान के समान था। अन्तिम सन्धि जो नैपाल ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार के मध्य हुई और जो सगौली की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है के अनुसार दोनों राज्यों के मध्य पूर्ववत् शान्ति और मित्रता स्थापित की गई। काली नदी के पश्चिम में स्थित सभी क्षेत्र नैपाल को छोड़ने पड़े। इसमें सतलुज और यमुना नदियों के मध्यवर्ती प्रदेशों के अतिरिक्त गढ़वाल और कुमाऊं के प्रदेश भी सम्मिलित थे। काली नदी से तिस्ता तक के सभी तराई के इलाकों पर से नैपाल सरकार का अधिकार समाप्त कर दिया गया। नैपाल ने सिक्किम के जो क्षेत्र अपने अधिकार में लिये थे, वे सभी छोड़ने पड़े और फिर कभी उस राज्य के इलाके पर अतिक्रमण न करने का वचन दिया। दोनों राज्यों के राजदूत अपने यहां रखना स्वीकार किया। इस सन्धि की शर्तों का निर्धारण सगौली के स्थान पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से ले० कर्नल ब्रैडशा और नैपाल के तत्कालीन महाराजा विक्रम शाह की ओर से राज गुरु गजराज मिश्र और चन्द्रशेखर उपाध्याय के मध्य हुआ और बाद में दोनों सरकारों ने इसकी पुष्टि की।

परिशिष्ट

काजी अमरसिंह थापा और डेविड अख्टरलोनी के मध्य १५ मई १८१५ को मलोण में हुये अनुबन्ध का हिन्दी रूपान्तर।

काजी अमरसिंह थापा के उच्च पद और उच्च चरित्र एवं जिस वीरता और निपुणता व निष्ठा के साथ उसने अपने क्षेत्र की रक्षा की है, इन सब तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए, दोनों पक्षो ने यह स्वीकार किया कि—

(१) काजी अमरसिंह थापा मलोण और राजगढ़ में रह रहे सैनिकों सहित यहां से प्रस्थान करेगा। सैनिक अपने शस्त्र, वर्दी और ध्वज-पताका के साथ जायेंगे। उनको दो बन्दूकें और अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति को ले जाने की स्वतन्त्रता होगी। काजी अमरसिंह थापा और उसके अन्य साथी की स्त्रियों के प्रति सम्मान और संरक्षण पूरी तरह प्रदर्शित किया जावेगा।

(२) काजी रणजोरसिंह थापा के वीरतापूर्ण आचरण को ध्यान में रखते हुए यह भी स्वीकार किया गया कि वह भी जैथक के किले से दो सौ सैनिकों के साथ प्रयाण करेगा। ये सैनिक अपने शस्त्र, वर्दी, पताका और एक बन्दूक अपने साथ रख सकेंगे। इनके साथ सभी सैनिक अधिकारी (सरदार) अपने तीन सौ नि शस्त्र सैनिकों व सेवकों एवं स्त्रियों और व्यक्तिगत सम्पत्ति सहित जायेंगे। उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति और स्त्रियों के सम्मान की पूरी रक्षा की जावेगी।

(३) काजी अमरसिंह थापा और काजी रणजोरसिंह अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति और सैनिकों के साथ थानेसर, हरिद्वार और नजीबाबाद के मार्ग से काली नदी (सरजू नदी) के पार अपने देश को जा सकते हैं अथवा किसी अन्य मार्ग से भी उनको अपने देश को जाने की स्वतन्त्रता होगी। उनके सामान को नेपाल की सीमा तक ले जाने की व्यवस्था की जावेगी।

(४) काजी अमरसिंह और रणजोरसिंह मार्ग में जिससे चाहे मिल सकते हैं।

(५) काजी अमरसिंह थापा और काजी रणजोर थापा के सेवार्थ सैनिकों को छोड़कर, शेष नेपाली सैनिकों को यह स्वतन्त्रता होगी कि यदि वे चाहें तो ब्रिटिश सेना में भर्ती हो सकेंगे। ऐसे जिन सैनिकों को तत्काल नौकरी में नहीं रखा जाएगा, उनको उस समय तक निश्चित भत्ता मिलेगा जब तक दोनों राज्यों में शान्ति और मित्रता स्थापित नहीं हो जाती है।

(६) काजी अमरसिंह थापा ने बेगारियों का प्रबन्ध होने पर मलोण से अपने साज-सामान के साथ जाना स्वीकार कर लिया है।

(७) इसी प्रकार काजी ने अन्य किलों को खाली करने एवं अधिकृत अधिकारियों को सौंपने के आदेश को भी मान लिया है। ये किले हैं महानी, हाटू, मोरी, बैराठ, जगतगढ़, रावी एवं यमुना और सतलुज के मध्य अन्य सभी गढ़ जिन पर

नैपालियो का अधिकार है। इन गढो और किलो के सैनिक निर्विघ्न अपनी-अपनी सम्पत्ति को ले जा सकेंगे। इन किलो मे जो युद्ध का सामान है वह वही छोड दिया जाएगा। इसका अन्तिम निर्णय माननवर गवर्नर जनरल यथा समय करेंगे। केवल अमरसिंह थापा के सम्बन्धी जिनकी सख्या ७३ है, अपने हथियार और वर्दी समेत जाएगे।

(८) काजी अमरसिंह थापा ने यह भी मान लिया है कि वह गढवाल के अधिकारी काजी बखतावरसिंह को गढवाल के सभी गढो और किलो को खाली करने और उनको ब्रिटिश सरकार के अधिकारियो को सौपने का आदेश देगा और वहां के नैपाली सैनिक कुमाऊ के मार्ग से सब सार्वजनिक सम्पत्ति और युद्ध सामग्री को लेकर नैपाल को चले जाए।

(९) काजी अमरसिंह थापा यह स्पष्ट करना चाहता है कि वह इस आशा से दूरस्थ गढो और किलो के समर्पण के लिए तत्काल आदेश देगा ताकि दोनो राज्यों के मध्य साठ वर्ष पुरानी मैत्री पुन स्थापित हो सके। ऐसा आदेश ब्रह्मशाह और कुमाऊ के अन्य भरदारो के परामर्श से दिया है।

—o—

१२. संघर्ष विदेशी पर्यटकों की दृष्टि में तत्कालीन जीवन की झलक

विलियम मूरक्रॉफ्ट

सन् १८१५ में गोरखा युद्ध के बाद कुमाऊ से लेकर सतलुज नदी के पूर्वी तट तक समस्त पहाड़ी क्षेत्र पर अंग्रेजो की प्रभुसत्ता स्थापित हो गई। सारा कुमाऊ और गढ़वाल में अलकनन्दा से पूर्वी क्षेत्र एवं दून क्षेत्र को छोड़ कर, शेष पर्वतीय भाग पर किसी न किसी पहाड़ी राजा, राणा या ठाकुर का शासन था जिसको अंग्रेजों ने स्वीकार किया और प्रत्येक राजा के साथ अलग-अलग अनुबन्ध किए। पहाड़ी राजाओं के साथ जो अनुबन्ध अंग्रेजी सरकार ने किए उनमें मुख्य बातें ये थी, प्रत्येक राजा या राणा को अंग्रेज सरकार की प्रभुसत्ता स्वीकार करनी होगी। राज्य के साधन और आय के अनुसार उसके शासक को ब्रिटिश सरकार को कर देना पड़ेगा। अंग्रेजो के व्यापारिक माल को कर-मुक्त उस राज्य में बिकने की छूट थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार मुख्यत एक व्यापारिक कम्पनी की सरकार थी। अत अनुबन्ध या सनद मे इस सुविधाओ का प्रावधान स्वभाविक था। युद्ध-काल में अंग्रेजी सरकार की धन-जन से सहायता करना भी इस अनुबन्ध की एक धारा थी। अंग्रेजी अधिकारियों के रियासत मे यात्रा करते हुए उनको बेगार-बेगारी देना भी उस राज्य का दायित्व था। मण्डी जैसे बड़े राज्यो के अनुबन्ध मे दास-प्रथा, सती प्रथा और बाल-कन्या-वध आदि अमानवीय प्रथाओ के निषेध का उल्लेख भी किया गया था।

सन् १८१५ से १८५० तक इन राज्यो की शासन-व्यवस्था पुरानी ठकुराई परम्परा पर चलती रही। राज्य का कर खेती की उपज, घी, तेल, ऊन आदि के रूप में दिया जाता था। न्याय प्रणाली भी बहुत प्राचीन काल से प्रचलित प्रधानत दैवीय न्याय पर आधारित थी। सन् १८५४ में बुशैहर राज्य मे जमीन की पैमायश की गई और आधुनिक ढंग से नकद लगान लगाया गया; परन्तु यह नयी प्रणाली इतनी अलोकप्रिय रही कि राज्य में विद्रोह जैसी स्थिति हो गयी। सन् १८५८-५९ मे पुन पुराने ढंग से उपज के रूप में कर देने की प्रथा लागू की गई। टीका रघुनाथसिंह के शासन-काल में सन् १८६२-६३ में बुशैहर में पैमायश हुई और नकद कर लेने की व्यवस्था लागू की गई। इन सभी छोटे-बड़े राज्यो का आधुनिकिरण १८५० के उपरान्त आरम्भ हुआ और बीसवीं सदी के प्रथम चरण तक चलता रहा। इस प्रक्रिया में लगान के अतिरिक्त, न्याय व्यवस्था, तहसीलो के रूप में क्षेत्रीय प्रबन्ध मे सुधार, बेगार-बेगार प्रथा की कठोरता मे कमी, आधुनिक शिक्षा का प्रसार, नई स्वास्थ्य सुविधाएं आदि का समावेश निहित है।

उन्नीसवी सदी से पहले का क्रम-बद्ध ऐतिहासिक वृतान्त पहाडी क्षेत्र का सर्वथा दुर्लभ-जैसा है। मुगल-काल के इतिहासकारों ने भी प्रसगवश पहाडी राज्यो का उल्लेख किया है। विधिवत् वृतान्त उस काल का भी नही मिलता है। उन्नीसवी सदी के पूर्वार्द्ध मे कुछ विदेशी पर्यटक पश्चिमी हिमालय क्षेत्र मे आए। उन्होंने अपने यात्रा-विवरण मे तत्कालीन जीवन का प्रसगवश उल्लेख किया है जिससे उस समय के राजनैतिक, सामाजिक और सास्कृतिक जीवन की झलक आम मिलती है। ये पर्यटक जिस राज्य या क्षेत्र मे गए, वहा के लोगों, स्थानो और प्रभावशाली घटनाओ की उन्होंने सक्षिप्त चर्चा की है। जेम्ज बेली फ्रेजर, विलियम मूरक्रॉफ्ट और बैरन चार्ल्स ह्यू गल के यात्रा—विवरण इस दृष्टि से रोचक और महत्वपूर्ण हैं। फ्रेजर गोरखा युद्ध के समय क्यूंथल और सिरमौर क्षेत्र के लिये राजनैतिक परामर्शदाता था और उसका भाई विलियम फ्रेजर लोक सम्पर्क राजनैतिक अधिकारी (पोलिटिकल एजेण्ट) था। उस युद्ध के समय ये दोनो भाई नाहन से चलकर संधार राजगढ़, सरें, चौपाल, हाटू, थाधी, नारकण्डा, रामपुर, सरहान आदि कई स्थानों पर गये। फ्रेजर का मुख्य विषय गोरखा युद्ध का वर्णन था, पर अपने यात्रा विवरण मे उसने कई अन्य तथ्यो का उल्लेख किया है। विलियम मूरक्राफ्ट ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार के अश्व विभाग का अधीक्षक था। उसका गन्तव्य स्थान लद्दाख के मार्ग से बुखारा था, जो अच्छे घोडो के लिये उस समय ससार मे प्रसिद्ध था और उसका वहा जाने का उद्देश्य कम्पनी सरकार के लिये अच्छे घोडो का क्रय करना था। उस युग मे सैनिक और असैनिक कार्यों के लिये घोडो की वही उपयोगिता थी जो आज रेल, मोटर, हवाई जहाज आदि यान्त्रिक वाहनो की है। बैरन चार्ल्स ह्यू गल जर्मन पर्यटक था। उसका यात्रा-क्षेत्र मुख्यत पजाब और काश्मीर था, परन्तु वह बिलासपुर हरिपुर गुलेर नूरपुर आदि स्थानो से होता हुआ जम्मू गया था। उपरोक्त स्थानो के सम्बन्ध मे उसकी प्रासगिक सक्षिप्त चर्चा तत्कालीन सामाजिक अवस्था को इगित करती है।

विलियम मूरक्राफ्ट सन १८१९ मे गढ़वाल मे नीती के दर्रे को पार कर तिब्बत के मार्ग से बुखारा जाना चाहता था। वह तिब्बत के साथ ऊन और रेशम के व्यापार की सम्भावना का भी अध्ययन करना चाहता था। तब गढवाल का यह क्षेत्र अग्रेजों के अधीन आ चुका था, परन्तु मूरक्राफ्ट नवम्बर के अन्तिम दिनो मे गढवाल मे पहुचा और हिमपात से नीती का दर्रा तब बन्द हो चुका था। अत श्रीनगर से पश्चिम दिशा की ओर उसको मार्ग बदलना पडा। अब सबसे पहले उसका गन्तव्य स्थान कुल्लू रोहतांग व बारालाचा के मार्ग से लद्दाख था। श्रीनगर मे उसने अलकनन्दा नदी को पार किया। मार्ग मे उसने टेहरी के निकट एक गाव मे 'बेड्वार्त' (भुण्डा) की तैयारी होते देखा। पुराने समय में गढवाल मे भी भुण्डा की प्रथा प्रचलित थी। जिस प्रकार शिमला क्षेत्र मे निर्मण्ड, दत्तनगर और बुशैहर के कई अन्य गावो मे भुण्डा

की प्रथा थी, गढवाल मे इस धार्मिक कृत्य को 'वेड्वार्त' कहते थे। विधान में कोई अन्तर नही था। 'वेडा' (नर्तक) शब्द से वेड्वार्त की उत्पत्ति हुई प्रतीत होती है। लोगो ने मूरक्रॉफ्ट को बताया कि उस भर मेघवा वेडा टेहरी मे रहता है। टेहरी पहुचने पर साठ वर्षीय बाचू नाम का वेडा (नर्तक) अपने दो लडको के साथ, एक रस्सी का टुकडा, लकडी का घोडा जो रस्से के ऊपर रखकर नर्तक की सवारी का काम देता था तथा जो लकडी के घोडे के दोनो ओर बाधे जाते थे, को लेकर मूरक्रॉफ्ट के पास आया था। बाचू ने बताया कि रस्सा वह स्वय बनाता है। उस रस्से का एक छोड पहाड की ढलान पर किसी खम्बे, पेड या चट्टान पर बाधा जाता है और दूसरा किनारा नीचे समतल स्थान पर खम्बे पर बाधा जाता है। रस्से की लम्बाई स्थान के अनुसार अलग अलग होती है। पिछली बार बाचू जिस रस्से पर फिसला था उसकी लम्बाई १२०० हाथ थी और रस्से की मोटाई १" व्यास की थी। लकडी के घोडे को अन्दर से सवा तीन इच की चौडाई तक कोरा जाता है ताकि रस्सा उसमे ठीक समा सके। वेडा को लकडी के घोडे पर बिठाया जाता है और उसका सन्तुलन ठीक रखने के लिये दोनों ओर रेत के थैले या पत्थर बाधे जाते हैं। जब वेडा को घोडे पर बिठा कर ऊपर से रस्से पर छोडा जाता है तो लकडी के घर्षण से रस्से मे धुआ सा निकलता है। नीचे कुछ लोग आर-पार रस्सो को पकड कर प्रबल वेग से आने वाले वेडा को रोकने का प्रयत्न करते हैं। जब कभी रस्सा टूट जाता है तो वेडा की मृत्यु अवश्यम्भावी है। पुराने समय म लोग इस प्रकार गिरने वाले वेडा का तलवार से सिर धड से अलग कर देते थे, परन्तु सन् १८१५ के बाद ऐसा करना कानून का उल्लघन हो गया था। मूरक्रॉफ्ट के अनुसार बाचू अपने जीवन में सोलह बार रस्से पर फिसला था और अपने कृत्य म सकुशल सफल रहा। वेडा जब नीचे पहुचता है तो वह प्राय चेतना शून्य होता है। उसके बालो को प्रसाद रूप में ग्रहण करते हैं। लोग विपुल धन राशि उसको चढाते हैं। उसकी स्त्री और परिवार के लोग बाल खोल कर विलाप की अवस्था मे नीचे उसके परिणाम की प्रतीक्षा करते हैं। ऐटकिन्सन के अनुसार चढावा के अतिरिक्त एक रुपया प्रति सौ हाथ के हिसाब से रस्से की लम्बाई पर वेडा को श्रामिक दिया जाता है। उन्नीसवीं सदी के अन्तिमचरण मे जब ऐटकिन्सन ने गजेटियर लिखा उस समय गढवाल मे लगभग पचास गावो मे वेड्वार्त का रिवाज था। कुल्लू मे गॉव ,निर्मण्ड मे प्राय बारह वर्ष के बाद मुण्डा होता था। मुण्डा या वेड्वार्त मानव बलि का परिष्कृत रूप प्रतीत होता है। महामारी और ऐसी ही अन्य प्राकृतिक आपदाओ को टालने के लिये इस प्रकार के अनुष्ठानो का आयोजन किया जाता था। प्राकृतिक विपत्तिया दैविक प्रकोप का परिणाम मानी जाती थी। मूरक्रॉफ्ट का कथन है कि उस समय कुमाऊ मे हैजा की महामारी फैली, परन्तु लोक विश्वास के अनुसार वेड्वार्त के कारण यह क्षेत्र उस महामारी से मुक्त था। निर्मण्ड म स्थानीय देवता परशुराम की पूजा मुण्डा यज्ञ से की जाती है। इस अनुष्ठान के अन्त मे वेडा रस्से पर पडता

था; परन्तु अब बकरा डालने की प्रथा है। पुराने समय में लालवस्त्र धारी बेडा की मन्त्रोच्चारण से विधिवत् पूजा की जाती थी – यह नरमेध या अनुष्ठान जैसा था ।

श्रीनगर से बिलासपुर—

मूरक्रॉफ्ट ने श्रीनगर में लगभग पन्द्रह व्यक्तियों को अलकनन्दा नदी के रेत से सोना एकत्र करते हुये देखा। ये सभी सिरमौर राज्य के निवासी थे। इस व्यवसाय से उनको चार रुपया मासिक से अधिक आय नहीं थी। उस समय सोने का मूल्य सोलह रुपया तोला था। टेहरी नगर उस समय तक आंशिक रूप से भी नहीं बसा था। सन् १८१५ में गढ़वाल के विभाजन के बाद राजा सुदर्शनशाह को श्रीनगर छोड़कर भागीरथी के किनारे टेहरी में नई राजधानी बनानी पडी थी। मूरक्रॉफ्ट का कथन है कि टेहरी में केवल राजा का साधारण-सा मकान बना था। उसके राज्याधिकारी चार वर्ष के बाद भी तम्बुओं में रह रहे थे। श्रीनगर से टेहरी जाते हुये, उसने कई उजडे हुये गाँव देखे। यह विनाश गोरखा कुशासन और अत्याचार के कारण हुआ था। देहरादून से चलकर मूरक्रॉफ्ट क्यारदादून (आधुनिक पौंटा घाटी) में आया। उसके अनुसार गोरखा शासन से पहले इस क्षेत्र में चौरासी घने बसे गाँव थे, परन्तु उस समय केवल सात गाँव रह गये थे, शेष गाँव उजडे हुये थे। उसी प्रकार मूरक्रॉफ्ट को बिलासपुर में आधी से अधिक दुकानें उजडी पडी मिलीं। राजा महाचन्द ने राज्य का कार्यभार वजीरों को सौंपा हुआ था जो प्रजा पर नाना प्रकार के अत्याचार करते थे। राजा को अपने विलासमय, व्यसनी जीवन से राज्य की सुध लेने की फुरसत नहीं थी। मूरक्रॉफ्ट व्यावसायिक डॉक्टर था। बिलासपुर में उसने कई लोगों के मोतियाबिन्द का ऑपरेशन किया। इससे प्रभावित होकर राजा महाचन्द उसके खेमे में आया और कुछ दिन और वहाँ ठहरने का राजा ने आग्रह किया। परन्तु समयाभाव के कारण वह अधिक दिन वहाँ न ठहर सका। डहेर में सतलुज को उसके दल ने बैल के चमडे की बनी दरयाई (मशक) से पार किया। अपने यात्रा विवरण में उसने दरयाई बनाने के तरीके का विस्तार से उल्लेख किया है। वह प्रत्येक वस्तु और घटना का महत्व व्यापारिक दृष्टि से आंकता था। वह इगलैण्ड में ऐसे छोटे-छोटे उद्योगों को कदाचित् चलाना चाहता हो और फिर यहाँ से उनसे बनी चीजों का आयात करना चाहता हो। मूरक्रॉफ्ट के साथ तीन सौ आदमियों का दल था। इसके अलावा सोलह घोडे और खच्चरें और दो सौ मन के लगभग समान था। तेरह मल्लाहों ने दरयाई के द्वारा इतने लोगों और सामान, को डेढ घंटे में नदी पार करा दिया। उस समय धीमी गति से बहने वाली कई नदियों को इसी प्रकार पार किया जाता था। आज भी बिलासपुर में गोबिन्द सागर ऐसी दरयाइयाँ देखने में आती हैं। पर अब इतनी प्रयोग ग्रामीण व्यक्तिगत सुविधा के लिये करते हैं।

ज्वालामुखी मे गिलड़ को उपचार –

सुकेत से आगे मण्डी की सीमा पर नेहर के किले (आधुनिक नेहर चोक) के पास कुछ सिख अधिकारियो ने उसके दल को रोक दिया और बिना महाराजा रणजीतसिंह की आज्ञा के आगे जाने की अनुमति नही दी। अपने दल को वही पर छोड़ कर मूरक्रॉफ्ट लाहौर को चल पड़ा। मण्डी की सीमा पर उसने पहाड़ की धार पर किलो की एक लम्बी पंक्ति देखी। नेहर चौक म भी एक किला था जहाँ मण्डी के अधिकारी और सैनिक सीमा की रक्षा करते थे। मूरक्रॉफ्ट के विवरण के अनुसार जब से ससार चन्द का पराभव हुआ (सन् १८०९ स), तब स वह ज्वालामुखी मन्दिर की आय पर अपना अधिकार समझता है। पुजारी और ब्राह्मणो का अधिकार उनको दी जाने वाली दान दक्षिणा तक ही सीमित था। ज्वालामुखी के गन्धक के पानी के स्रोतों के सम्बन्ध मे उसने बताया है कि इसको पीने और बाहर से धोने से गिलड़ का उपचार होता था। प्रात काल लगभग ▯ काली मिर्च खाने के बाद निराहार एक-दो छटाक यह गन्धक वाला पानी पीना पड़ता था। और उसके बाद कुछ व्यायाम करना पड़ता था। ऐसा करने से तीन सप्ताह में गिलड़ घट जाता था। गम्भीर बीमारी की अवस्था मे अधिक समय तक यह उपचार करना पड़ता था। इस पानी को कलशों मे भर कर लोग दूरस्थ स्थानो को ले जाते थे[1]। ज्वालामुखी के पंडो ने पहले फिरगी यात्री के रूप में उसका नाम व परिचय अपनी बही म दर्ज किया।

नदौण व्यापक केन्द्र –

नदौण के सम्बन्ध मे मूरक्रॉफ्ट का उल्लेख बहुत रोचक है। उसका कहना है कि यह नगर काश्मीर और हिन्दोस्तान के मध्य व्यापारिक मार्ग पर स्थित है। यात्रियों और व्यापारियो के आराम के लिये यहाँ सब सुविधाए है। यहाँ से पशम की चादरो का आयात और निर्यात होता है। काश्मीर से पशम की चादरें यहा आती हैं और यहाँ से मैदानो के व्यापारिक केन्द्रो को जाती है। पहले यह व्यापार पजाब के मार्ग से होता था, परन्तु अट्ठारहवी सदी केअराजक युग मे पजाब का मार्ग सर्वथा अरक्षित हो गया। फलत यह व्यापार पहाड़ी राज्यो के मार्ग से होता था— नूरपुर, हरिपुर गुलेर, नदौण, बिलासपुर, नाहन होता हुआ व्यापारिक माल सहारनपुर और नजीबाबाद पहुचता था। परन्तु बाद मे पहाड़ी राजाओ के लालच के कारण, अलग-अलग राज्य भारी कर इस सामान पर लगाने लगे और कभी कभी लूट-पाट भी हो जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि व्यापार कम होने लगा। यह व्यापार मुख्यत ज्वालामुखी के गुसाइयों के हाथ मं था। वे प्रमुख व्यापारिक केन्द्रो तक पशम की चादरो को पहुचाते और उनके चेले जगह जगह जाकर इस माल को बेचते थे। अपने समृद्धिकाल मे इस माल की चुगी के ठेके से कागड़ा को राज्य नदौण से २७००० रुपये वार्षिक आय थी। परंतु मूरक्रॉफ्ट की यात्रा को समय (सन १८२०) तक यह व्यापार समाप्त प्राय हो चुका था। गोरखा शासन काल मे नदौण का

व्यापार प्राय समाप्त हो चुका था। गोरखा-शासन काल में नदौण का व्यापार और पुरातन वैभव सर्वथा नष्ट हुआ। लोग और व्यापारी नगर को छोड़कर भाग गये। भांग और धतूरा गलियों और मार्गों पर उग गया था। यहां रात के समय गीदड़ और सियार बोलते थे। वैभव-काल में यहां नर्तकियां होती थी, वाद्य और नृत्य के आकर्षण से कहावत थी कि "जो गया नदौण आवेगा कौण?" पर मूरक्रॉफ्ट की यात्रा के समय "जो बाजार पहले भीड़भाड़ से भरा रहता था अब बिल्कुल उजड़ा नजर आता है। कुछ फकीर और साधु व यात्री इधर-उधर जाते दिखाई देते हैं। दुकानदारों में से एक तिहाई दिन को भी सोते थे और एक तिहाई चौपड़ खेल रहे थे। शेष अनमने भाव से अपने काम में अर्ध-व्यस्त नजर आते थे।"

होशियारपुर—

होशियारपुर के सम्बन्ध में मूरक्रॉफ्ट ने लिखा है कि यहां की आबादी मुख्यतः जुलाहों, तरखानों, रंगसाजों अनाज के व्यापारियों और हलवाइयों की है। जुलाहे अधिकतर मुसलमान हैं। ये सूती कपड़ा और बारीक मलमल का कपड़ा बुनते हैं। यहां का पानी सूती कपड़े में चमक लाने के लिए उपयुक्त है। यहां से सफेद कपड़ा दिल्ली जाता है, लाल कपड़ा जयपुर और बीकानेर, मोटा सूती कपड़ा पंजाब और काबुल को जाता है। बारीक मलमल और दूसरा सूती कपड़ा हरात, बलख, बुखारा, यारकन्द आदि मध्य एशिया के नगरों को जाता है। यहां के नाई शल्य चिकित्सक भी हैं। ये आंखों के मोतिया बिन्द का ऑप्रेशन भी करते हैं।

सुजानपुर और वैद्यनाथपुर—

लाहौर से वापिस आने पर सन १८२० के वर्षा ऋतु का समय मूरक्रॉफ्ट ने कांगड़ा के राजा संसारचन्द के यहां सुजानपुर टीरा में बिताया। इसका वर्णन कुछ विस्तार से पिछले एक परिच्छेद में किया गया है। टीरा के प्रवास की सबसे मार्मिक घटना राजा के भाई फतेहसिंह की बीमारी, मूरक्रॉफ्ट द्वारा उसका उपचार और स्वस्थ होने पर मूरक्रॉफ्ट और फतेहसिंह का हिन्दु विधि द्वारा 'धर्म भाई" बनना है। धर्म भाई व बहिन बनाना आज भी समस्त पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में प्रचलित है। मूरक्रॉफ्ट के समय संसार चन्द का आर्थिक और राजनैतिक पराभव हो चुका था, परन्तु संसार चन्द तब भी उदार और प्रजा में लोकप्रिय था। फतेहसिंह जब बीमार था तो उसकी रानियां और रखैलियां चिता में प्रवेश करने की तैयारी कर रही थी, परन्तु मूरक्रॉफ्ट के उपचार से कुछ समय के लिये उनकी जीवन-अवधि भी बढ़ गई। टीरा से प्रस्थान करने पर वह वैद्यनाथ के मार्ग से कुल्लू को गया। उस समय भी वैजनाथ का नाम वैद्यनाथपुर था। यह प्राचीन नाम था। नवीं सदी के आरम्भ में जब यहां शिव मन्दिर की स्थापना हुई थी, उस समय इस स्थान का नाम कुग्राम था। मन्दिर में उत्कीर्ण प्रशस्ति से पता चलता है कि उस समय इस गांव के सामन्त का नाम लक्ष्मण

था और वैद्यनाथ का मन्दिर स्थापित होने पर इसका नाम वैद्यनाथपुर हुआ और यह नाम मूरक्रॉफ्ट के समय (सन १८२०) तक प्रचलित था। वैद्यनाथपुर से यह अब बैजनाथ बन गया है। इसी प्रकार इसके पास बहने वाली नदी का प्राचीन नाम बिन्दुका था, पर अब वह नाम अपभ्रंश होकर बिनवा रह गया है। मूरक्रॉफ्ट का कथन है कि वैद्यनाथपुर से लाहौर तक, १२० कोस के फासले का भाड़ा दो रुपये आठ आना प्रति पक्का मन था। एक मजदूर का वेतन २ रुपये प्रति मास था। मण्डी की गुम्मा की नमक की खान में काम करने वाले मजदूर का वेतन २ रुपये मासिक था जिसमें से एक रुपया नकद मिलता था और एक रुपये के बदले नमक लेना पड़ता था। कुल्लू में उसने ऊन की एक फुट चौड़ी और १५ हाथ लम्बी पट्टी जिसका वजन ५ पौण्ड था, तीन रुपये में बिकती देखी। उस युग में सिक्कों के रूप में धन के अभाव में चीजें बहुत सस्ती थी।

नमक की खान—

मण्डी राज्य में स्थित गुम्मा की नमक की खान का मूरक्रॉफ्ट ने विस्तार से वर्णन किया है—कैसे उनमें खुदाई होती थी, कैसे पानी बाहर निकाला जाता था और कैसे खान को छत को गिरने से रोका जाता है। खान से निकाला गया नमक राज्य की सम्पत्ति थी। दूर-दूर से व्यापारी इसको खरीदने यहां आते थे। मौसम के अनुसार खानों का उत्पादन घटता-बढ़ता रहता था। गर्मियों में तीसरे दिन दो सौ मन नमक निकलता था। और शीतकाल में इसी अवधि में पांच सौ मन नमक निकलता था। यह नमक एक रुपये का दो मन खान के पास बिकता था। इससे राज्य को सोलह हजार रुपये वार्षिक आय थी। जमींदार खान में काम करके, कुछ नमक राज्य के लिये छोड़ देते थे और कुछ अपने लिये ले जाते थे। जब सफेद नमक निकलता था, तो वह राजा के उपयोग के लिये छोड़ दिया जाता था। नमक का रंग प्रायः लाली पर होता था। दरंग की नमक की खान से मण्डी राज्य का आठ हजार रुपये वार्षिक आय थी।

राजा ईश्वरीसेन—

मूरक्रॉफ्ट मण्डी में तत्कालीन राजा ईश्वरीसेन को भी मिला। राजा के बारे में उसका कहना है कि वह ३५ वर्ष की आयु का युवक है, पर बहुत समझदार प्रतीत नहीं होता है। वह बहुत डरपोक है। उसके पिता सूरमासेन ने यह घोषणा की हुई थी कि उसके राज्य में कोई बन्दूक न चलाये। परन्तु उसके डरपोक होने का प्रमुख कारण यह था कि बाल्यकाल में वह संसार चन्द का बन्दी था। अपने जीवन के आरम्भिक बारह वर्ष उसने सुजानपुर टीरा में पराधीनता में बिताये थे। उसने मण्डी के सती-स्तम्भों का भी उल्लेख किया है।

रानी की चिता पर दासियों का 'सती' होना—

मण्डी की सीमा के पास बजौरा में उसको कुछ दिन इसलिये रुकना पड़ा कि उन दिनों कुल्लू के राजा विक्रमसिंह की विधवा का निधन हुआ था। इस राजकीय

रोग के कारण उसके लिये कुलियों का प्रबंध न हो सका। उसने बजौरा में कुल्लू की रानी के अन्तिम संस्कार का उल्लेख करते हुये लिखा है कि उसकी चिता म उसकी ग्यारह परिचारिकाए 'सती' हुई थी। रानी के साथ परिचारिकाओं का सती होना एक असाधारण सी बात थी। इसका विवेचन अन्यत्र किया गया है, कुल्लू के राजा विक्रमसिंह की मृत्यु सन १८१६ में हुई थी और उसका उत्तराधिकारी अजीतसिंह अभी दस वर्ष का था। अतः वजीर शोभाराम राज्य का संचालन कर रहा था। शोभाराम ने रणजीत सिंह द्वारा दमन और शोषण के प्रति आक्रोश प्रकट किया। उसने मूरक्राफ्ट को बताया है कि कुछ वर्ष पहले काबुल का शासक शाहशुजा जो मुलतान से रणजीत सिंह के चंगुल से भाग कर कुछ समय जास्कर क्षेत्र में छिपा रहा कुल्लू होता हुआ अंग्रेजी इलाके में चला गया। रणजीतसिंह ने शाहशुजा की सहायता करने के लिये कुल्लू के राजा पर अस्सी हजार रुपये जुर्माना किया था। गोरखा युद्ध में कुल्लू ने अंग्रेजों की कुछ सहायता की थी जिसके लिये अंग्रेजों ने कुल्लू के राजा को पांच हजार रुपये का उपहार दिया था; परन्तु रणजीतसिंह ने कुल्लू राज्य को गोरखा युद्ध में हस्तक्षेप करने के लिये पचास हजार रुपये का जुर्माना किया था। जन साधारण के जीवन के सम्बन्ध में उसने लिखा है कि इस क्षेत्र में कफ का रोग लोगों में अधिक है। और इसी प्रकार कुष्ट रोग भी लोगों में पाया जाता है। लोगों का भोजन बहुत साधारण है। इनका मुख्य खाद्य गेहूं और जौ है। यात्रा के समय लोग सत्तू खाकर निर्वाह करते हैं। लाहौल स्पिति के निवासियों के बारे म में उसने लिखा है कि ये लोग चम्बा, कुल्लू और लद्दाख के मध्य व्यापारिक माल को लाने ले जाने का काम करते हैं। य लोग स्वयं अपनी पीठ पर या घोड़े और भेड़ बकरी की पीठ पर समान को ले जाते हैं। इसके घोड़े पहाड़ी रास्तों पर चलने में निपुण होते हैं। ये कुल्लू से गेहूं और दूसरे अनाज रोहतांग और बारालाचा के मार्ग से लद्दाख ले जाते हैं और वहां से ऊन पशम और मध्य एशिया की मूल्यवान उपज कुल्लू और रामपुर बुशैहर पहुंचाते हैं। एक घोड़ा दो मन समान उठाता है। लाहौल में टण्डी से लेह तक का भाड़ा बारह रुपये मन था—इस विकट यात्रा में सोलह दिन से अधिक समय लगता था। लाहौल के अन्तिम गांव दारचा से लद्दाख तक के मार्ग म कई दिनों के पड़ाव सर्वथा निर्जन पर्वतीय क्षेत्र म पड़ते थे। टण्डी में मूरक्रॉफ्ट ने सभी भार वाहकों को अग्रिम मजदूरी दी क्योंकि उनको राजा विक्रमसिंह के चतुर्वार्षिक श्राद्ध के लिये फाँट (कर) देनी थी। प्रथा के अनुसार राजा के अन्तिम संस्कार और प्रेत-पूजा के लिए प्रजा को विशेष कर देना पड़ता था। 'चौवरखा' नाम के श्राद्ध के लिये सन १८२० में कल्लू राज्य में विशेष कर लगा था। इसका उल्लेख मूरक्रॉफ्ट ने किया है।

मौन चाय—

मूरक्रॉफ्ट ने अपने यात्रा विवरण में बुशैहर में पैदा होने वाली दो प्रकार की चाय का उल्लेख किया। वह मुख्यतः एक व्यापारिक देश का प्रतिनिधि था।

वह दो वर्ष तक लद्दाख में रहा। इस अवधि में लेह में [illegible] ...ली प्रत्येक व्यापारिक वस्तु का उसने बारीकी से अध्ययन किया। तब लेह मध्य एशिया, तिब्बत चीन और भारत के मध्य व्यापार का मिलन-बिन्दु था। बुशैहर में व्यापारियों से बात चीत करते हुये, उन्होंने मूरक्रॉफ्ट को बताया कि बुशैहर में रामपुर के निकट झाड़ी में एक पौधा, होता है। इसके पत्तों और छोटी-छोटी टहनियों को किसान काटकर बारीक करते हैं, और इसको व्यापारियों को एक रुपया मन के भाव से बेच देते हैं। व्यापारी इस सम्मिश्रण को पानी में उबालते हैं। इससे लाल पानी निकलता है। पानी को फेंक दिया जाता है और उबली हुई पत्तियों और टहनियों का हाथ से निचोड़ कर धूप में सुखाया जाता है। ये पत्तियां लद्दाख में चाय के रूप में एक रुपये की एक सेर बिकती हैं। कई बार इसको घटिया किस्म की चीनी चाय में भी मिलाकर बेचा जाता है। इसको हरी घास कहते थे। यह झाड़ी सतलज के किनारे कुल्लू और बुशैहर दोनों क्षेत्रों में पाई जाती है, यह झाड़ी सदा हरी-भरी रहने वाली वनस्पति है। जुलाई से नवम्बर तक इस झाड़ी की पत्तियों और टहनियों को एकत्र किया जाता था। इसी प्रकार कनौर में अक्षरंग गाव (१०,०००') के आस-पास भी पतझड़ वाली एक झाड़ी पाई जाती है। इसके पत्ते जुलाई और अगस्त में तोड़ लिये जाते थे और उसी प्रक्रिया से पत्तों को दबाकर बण्डल बनाया जाता था। इसको 'काली' चाय कहते थे और लेह में यह पन्द्रह रुपये मन के भाव से बिकती थी। मूरक्रॉफ्ट के विवरण के अनुसार एक सौ मन इस प्रकार की मौन चाय प्रतिवर्ष बुशैहर से लद्दाख में आयात की जाती थी। उसने लेह के चाय के थोक व्यापारी की सम्मति व्यक्त की है। इसके अनुसार चीन की घटिया चाय और बुशैहर की चाय में इतना अन्तर था कि चीनी चाय को पैक करने की प्रक्रिया दक्षतापूर्ण थी और बुशैहर की 'चाय' में इस दक्षता का अभाव था। ऐसा प्रतीत होता है कि मौन चाय को वास्तव में लेह के व्यापारी चीन से आने वाली चाय के साथ मिलावट करने के लिये प्रयुक्त करते थे। तब चाय की पहचान आम लोग नहीं कर सकते होंगे। लद्दाख के भोले भाले लोग चाय के स्थान पर इन जंगली पत्तियों को उबालते होंगे। अभी कुछ वर्ष पहले तक अमृतसर की मण्डी से लक्कड़ चाय वाली पत्तियां उत्तरी भारत में सभी जगह मिलती थीं। इस लक्कड़ चाय को काश्मीरी मूलो नमकीन चाय बना कर पीते थे। आज से लगभग १६० वर्ष पहले काश्मीर और लद्दाख में भी चीनी की चाय का प्रयोग सामन्त और अमीर व्यापारी वर्ग तक ही सीमित था। सम्भवतः जनसाधारण को व्यापारी मिलावटी अथवा मौन चाय जैसी बनावटी चाय की पत्तियां बेचते होंगे। इसीलिये यह तथाकथित मौन चाय बुशैहर से लद्दाख जाती थी। आज के प्रबुद्ध युग में भी हर प्रकार की मिलावट व्यापारिक क्षेत्रों में होती है। तब ऐसा करना काफी आसान था

था। वैसे उस जमाने में भारतीय भाषाओ और फारसी का ज्ञान होना इन सभी अधिकारियों के लिये आवश्यक था। इन भाषाओ के व्यावहारिक ज्ञान के बाद ही ये लोग भारत में आते थे। विलियम फ्रेजर दिल्ली रेजीडेंसी मे अधिकारी था। यह तत्कालीन भारतीय वेष-भूषा में रहता था– अचकन, कमर बन्द, चूड़ीदार पाजामा, लम्बी मूछें और कलमे रखता था। भारतीय संस्कृति के प्रति वह विशेष रूप से आकृष्ट था। इसीलिये गोरखा युद्ध के समय इसको पश्चिमी क्षेत्र का राजनैतिक सम्पर्क अधिकारी नियुक्त किया गया। पूर्वी क्षेत्र, अल्मोड़ा में इस प्रकार के काम को ऐडवर्ड गार्डनर करता था। वह भी भारतीय भाषा और संस्कृति का जानकार था। बड़ा भाई जे० बी० फ्रेजर राजनैतिक परामर्शदाता था परन्तु उसकी ख्याति अंग्रेज और नेपाल युद्ध का इतिहास और पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में यात्रा विवरण लिखने के कारण हुई। यह यात्रा विवरण सन १८४० में इगलैण्ड म प्रकाशित हुआ। ख्याति-प्राप्त लेखक और उपन्यासकार सर वाल्टर स्कॉट ने इस पुस्तक की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी, फ्रेजर का मुख्य विषय गोरखा युद्ध था, परन्तु दोनो भाई विलियम फ्रेजर और जे० बी० फ्रेजर साथ साथ उस काल में जन सम्पर्क के लिये पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के कई स्थानों को देखने गये। विलियम फ्रेजर का काम मुख्यतः छोटे-छोटे राजा-राणा और ठाकुरों से सम्पर्क करना, अंग्रेजों की युद्ध नीति को समझाना, उनको अपने पक्ष में करना और अनियमित सेना का संगठन करना था। ये दोनो बन्धु नाहन से चलकर सैंधा, राजगढ, हावण, थाई, पत्थरनाला होते हुये चौपाल गये। वहां से हाटू कुमारसैन, रामपुर, बहाली सराहन आदि स्थानो को भी गये और अन्त मे नहोल, धुनु के मार्ग से बाडाहाट (आधुनिक उत्तरकाशी) होते हुये देहरादून पहुंचे। इस लम्बी यात्रा मे उन्होंने जिन स्थानों को देखा, जिन लोगों को मिले और जिन महत्वपूर्ण घटनाओ का उन्होने वर्णन किया वे अत्यन्त रोचक हैं ओर तत्कालीन जीवन की झांकी प्रस्तुत करती हैं।

बुशैहर से गोरखाओ का निष्कासन

मई १८१५ को फ्रेजर बन्धुओं की यात्रा नाहन से उत्तर दिशा की ओर आरम्भ हुई। अभी नाहन मे जैथक का घेरा चला हुआ था; परन्तु काजी रणजोरसिंह थापा की शक्ति शिथिल पड चुकी थी। मलौण मे काजी अमरसिंह थापा और अखतरलोनी के मध्य लड़ाई के स्थान पर नेपालियों के द्वारा आत्म-समर्पण की बात-चीत चल रही थी। संक्षेपत युद्ध समाप्त प्राय हो चुका था। १५ मई को मलौण में अमरसिंह थापा ने पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण किया और उसके बाद २१ मई को रणजोर सिंह ने भी जैथक में हथियार डाल दिये। फ्रेजर बन्धुओं के साथ कुछ अनियमित सैनिक थे, मेवाती, गूजर, सिख, राजपूत पठान और लगभग इतने ही गोरखाओ की मिलीजुली सैनिक टुकडी थी। इनका काम मार्ग मे आत्म-रक्षा

करना था। उत्तरी क्षेत्र का मुख्य केन्द्र नारकण्डा के निकट हाटू का किला था और कीर्तिराणा इस क्षेत्र का सूबेदार था। १३ अप्रैल १८१५ को जुब्बल का वजीर डागे नैपालियों का साथ छोड़ कर अंग्रेजों के पक्ष में आ चुका था। तत्पश्चात् जुब्बल, कुल्लू और बुशैहर की सम्मिलित सेना ने गोरखाओं को हाटू, नावर गढ़, टिक्कर आदि किलों से भगाया। हाटू से निकलकर कीर्ति राणा ने नावरगढ़ में शरण ली। यह किला टिक्कर गांव से ऊपर पहाड़ पर था। स्थानीय लोगों का विश्वास था कि इस किले में देवता का वास है, अतः यह स्थान युद्ध एवं रक्त-पात के लिये वर्जित था। इसमें पानी की कमी थी और इसी प्रकार राशन की भी कमी थी। कीर्ति राणा अधिक समय तक किले की सुरक्षा में न रह सका। कहा जाता है कि उसके साथ गढ़वाल और सिरमौर के सैनिक थे। उन्होंने भी उसको गलत मार्ग पर डाला। किले से बाहर आने पर नावर-वासियों ने उनको घेर लिया और कई नैपालियों को मौत के घाट पहुंचाया। उनकी धन-सम्पत्ति भी छीन ली। कुछ नैपाली भागकर रांवीगढ़ किसी तरह पहुंच गये। शेष को जिनमें कीर्ति राणा भी सम्मिलित था बुशैहर के सैनिकों ने पकड़ लिया। कीर्ति राणा की प्रार्थना पर उनको अक्तरलौनी के शिविर में भेजा गया।

बच्चों को जल स्त्रोत् के पास सुलाना—

फ्रेजर बन्धु अपने सैनिकों के साथ जब पच्छाद क्षेत्र से गुजर रहे थे तो बाहुन नाम के गांव में उन्होंने पहाड़ में गर्मियों में बच्चों के सिर पर पानी की बारीक धार डालने का दृश्य देखा। गर्म क्षेत्रों में (४०००' से नीचे) अभी भी यह रिवाज है कि छोटे छोटे, २ से ४ वर्ष की आयु के बच्चों को गांव के निकट जहां पानी हो, छप्पर बनाकर सुला दिया जाता है और उनके सिर पर पानी की बारीक धार छोड़ दी जाती है। यह पानी नाली से बच्चे के शरीर को स्पर्श किये बिना बह जाता है। उसके केवल सिर पर पानी की धारा पड़ती है। इस शीतलता से बालक घण्टों तक मधुर निंद्रा में सो जाता है। गांव के कई बच्चे ऐसे एक स्थान पर दिन के समय सुलाये जाते हैं और प्रत्येक बच्चे की मूर्धा पर पानी की धारा पड़ती है। ग्रीष्मऋतु में जल का यह उपचार गर्मी और उससे उत्पन्न रोगों से बचने के लिये किया जाता हो। इस दृश्य को देख कर वे कुछ चकित से हुये। परन्तु जलाशय के निकट इस ढंग से बच्चों को सुलाने का रिवाज सिरमौर और शिमला क्षेत्र के गर्म स्थानों में अभी भी है।

घने वनों की व्यर्थता—

पुलवाल से पूर्व दिशा में दो नाले चूड़धार से आते हैं। चौपाल जाते हुये उन नालों के संगम पर उनका पड़ाव पड़ा। वहां से आगे इस नदी को विशारी

नाला बहते हैं। फ्रेजर के अनुसार वहा से दस मील के अन्तर पर यह नाला भोगोट नाम के गांव के पास गिरी नदी में गिरता है। पर अब इस नाम का कोई गांव वहा नहीं है। यह सर्वथा निर्जन स्थान है। उपर पहाड़ पर चढ़ते हुये वे देवदार के घने जगल से गुजरे। वहा विशालकाय वृक्ष थे और कुछ गिरकर कई वर्षों से वहीं गल रहे थे। इन विशाल वृक्षो को देख कर फ्रेजर उनके अनुपयोग पर आसू बहाते हुए क्षोभ प्रकट करता है और लिखता है कि इन देवदार के वृक्षो के स्लीपर यदि किसी तरह कलकत्ता पहुंचाये जा सकते हैं तो जहाजो के बनाने में इनका उपयोग होता, अन्यथा ये भव्य वृक्ष यहीं गिर कर मिट्टी हो जाएँगे—इनका जीवन निःसार और निरर्थक होगा। फ्रेजर भविष्य दृष्टा नही था। वह कैसे यह भविष्यवाणी करता कि बीसवी सदी के उत्तरार्द्ध में भ्रष्टाचारी ठेकेदार वन-अधिकारी आदि की मिली-भगत से इन भव्य वृक्षो की निर्मम हत्या होगी और वे अतुल धनोपार्जन करेंगे। युग परिवर्तन से आज समस्या इन वनो और वृक्षो को बचाने की है।

आरे का अभाव —

पश्चिमी हिमालय क्षेत्र मे फ्रेजर को कहीं भी लकड़ी चीरने के आरे या आरी के दर्शन नही हुये। उसका कहना है कि इस क्षेत्र के लोग इस प्रकार के औजार से सर्वथा अपरिचित हैं। यहां लकड़ी को चीरने का एक मात्र साधन कुल्हाड़ा और बसूला है। इन से लकड़ी का बहुत सा भाग व्यर्थ जाता है और तख्ते व कड़ियां बनाने में अधिक समय और श्रम लगता है। आज भी जिमला क्षेत्र के मन्दिरों और मकानों के फर्श कुल्हाड़े से काटे हुये मोटे मोटे तख्तो के बने पाये जाते हैं। सम्भवत उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध म जब अंग्रेजो ने जगलो की पैमायश करके इन का प्रबन्ध अपने हाथ म लिया तब आरे का प्रवेश इन जगलो में हुआ हो। यह तथ्य ठीक प्रतीत होता है कि इस क्षेत्र मे पुराने समय से आरे का प्रचलन नही था। वैसे आरी शब्द बहुत प्राचीन है और इसका प्रयोग व्यापक था। पांचवी सदी के शूद्रक कृत मृच्छकटिक नाटक में आरी यन्त्र का उल्लेख स्पष्ट है। वसन्त सेना के घर पर चोर जब सेंध लगाते हैं तो वे आरी से लकड़ी काटने की बात करते हैं। सम्भवत बड़े आरे का प्रचलन न हो। इसलिय फ्रेजर को यह भ्रान्ति हुई हो।

फ्रेजर जुब्बल क्षेत्र में—

चौपाल क्षेत्र पर मार्च म अंग्रेजो का अधिकार उस समय हो चुका था जब विलियम फ्रेजर थोड़े सैनिको के साथ यहा आया था। चौपाल का किला उस स्थान पर था या उसके निकट ही था जहा अब वन विभाग का विश्राम गृह है। चौपाल से अधिकांश सैनिकों को वापिस नाहन भेज कर फ्रेजर बन्धु रावी गढ की ओर गये। उनके साथ लगभग सौ अनियमित सैनिक थे। जुब्बल घाटी म स्थित धार गाव में

जुब्बल का राणा पूर्णचन्द फ्रेजर बन्धुओं को मिलने आया। उसने फ्रेजर को दो मुश्कनाफे और एक बकरा भेंट में दिया और फ्रेजर ने दो पशम के पट्टू देकर राणा को सम्मानित किया। राणा पूर्णचन्द एक साधारण नौजवान था। गोरखाओं ने उसे पद च्युत किया हुआ था। सम्भवत सन् १८११ से १८१७ तक का समय विपन्न अवस्था में उसने हाटकोटी के निकट साधारण से घर में बिताया और उसकी प्रजा ने उसका भरण-पोषण किया। उसके विपरीत वजीर डागे बहुत चतुर और प्रभावशाली व्यक्ति था। वह जब फ्रेजर बन्धुओं को मिला तो उसके साथ सशस्त्र सैनिक थे और वह हिन्दोस्तानी वेश-भूषा में था। गोरखा राज्य काल में डागे अपने पद पर बना रहा क्योंकि समस्त जुब्बल क्षेत्र उसके प्रभाव में था। फ्रेजर के अनुसार डागे वजीर चालाक और अवसरवादी था। युग धर्म के अनुरूप डागे को ऐसा बनना पड़ा। धार गाव से विलियम फ्रेजर ने रावींगढ के गोरखा किलेदार रणशूर थापा को पत्र भेजा कि वह आत्म समर्पण करदे। फ्रेजर ने रणशूर को जैथक, मलौण और अन्य स्थानों में गोरखाओं की रण-स्थिति से परिचिय कराया और उसको प्रलोभन भी दिया कि यदि वह चाहे तो अग्रेज सरकार उसको और उसके सैनिको को जिनकी सख्या १६० थी, नौकरी में ले लेगी। रणशूर थापा ने अपने उत्तर में लिखा कि युद्ध की वर्तमान स्थिति जैसा आपने बताया मैं उस पर विश्वास करता हू और निकट भविष्य में मुझे भी आत्म समपण करना पड़ेगा। परन्तु अभी मेरे पास दो मास की खाद्य सामग्री है। तत्काल हथियार डालने का कोई औचित्य मुझे नजर नही आ रहा है। यदि मैं ऐसा करू तो गोरखा राज्य के नमक के प्रति मेरा धोखा होगा। और यदि वर्तमान स्वामी को मैं धोखा दूँ तो इस बात की क्या गारण्टी है कि आपकी नौकरी स्वीकार कर आपको धोखा न दूँ। यह उत्तर गोरखा सैनिक के सच्चे और निष्ठावान् चरित्र का ज्वलन्त उदाहरण है, जहा भी ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई वहा गोरखा सैनिको ने गोरखा नमक और क्षत्राणी के दूध की लाज रखने की बात की है।

पत्थर दूर फेंकने वाली मशीन—

हाटकोटी के निकट रावींगढ़ को घेरन के लिये जुब्बल बुशैहर और कुल्लू की सेनाए एकत्रित थीं। बुशैहर के वजीर टिकमदास और बदरीदास भी वहा थे। लड़ाई में किसी प्रकार की तेजी नही थी। दोनो पक्ष बचाव के साथ लड रहे थे। टिकमदास ने फ्रेजर को बताया कि वे रामपुर से एक ऐसे व्यक्ति की प्रतीक्षा में हैं जो ऐसी मशीन बनाना जानता है जिसके द्वारा बड़े-बड़े पत्थर किले की दीवार को तोड़ने के लिये दूर से फेंके जा सकते हैं। यह मशीन बडो बडी कड़ियो को मोटे रस्सो से बाधकर बनाई जाती है। उनमें से एक पेड जैसी बड़ी को सौ-दो सौ आदमी पीछे खींच कर उसकी शक्ति से दो सौ मन तक के भारी पत्थर को लक्ष्य तक फेंक सकते हैं।

जिससे कोई भी मकान या किला धराशायी हो सकता है। इस प्रकार की मशीन को बनाने का हुनर रामपुर के एक परिवार को आता है। फ्रेजर के अनुसार यह मशीन पुरातन रोमन कैटापुल्टा की भांति होगी। रोमन लोग प्राचीन काल में इस प्रकार की मशीन का प्रयोग किलों को ध्वस्त करने के लिये किया करते थे। चार-पांच सौ वर्ष ईस्वी पूर्व की जैन गाथाओ से पता चलता है कि अजातशत्रु (कुणीक) के समय इस प्रकार का युद्ध यन्त्र जिसका नाम "महाशिलाकन्तग" था, प्रयोग में लाया जाता था।* दूसरा यन्त्र रथ-मूसल था। यह स्वचालित मूसल (गदा) रथ मे लगी होती थी। रथ तीव्र गति से शत्रु के व्यूह में प्रवेश करके भगदड़ मचा देता और जो भी उसके प्रहार-सीमा में आता, उसको धराशायी कर देता। रोमन केटापुल्टा या महाशिलाकन्तग का जनक कौन देश था, यह विवाद निरर्थक है। प्राचीन ससार म सस्कृति का आदान-प्रदान जाने अनजाने रूप से होता रहा। महाशिलाकन्तग जैसा यन्त्र अलग-अलग नाम से व्यापक रूप से पुरातन ससार में प्रचलित हो। पितृहन्ता होने से अजातशत्रु को कोसल काशी, विज्जी, मल्ल, वैशाली, कुशीनारा आदि कई राज्यो और गणो का सामना करना पडा था। जैन-गाथाओ में इस सघर्ष के सन्दर्भ में अजातशत्रु द्वारा इस युद्ध यन्त्र का उल्लेख आया है। टिकमदास ने उस युद्ध यन्त्र का नाम "ढीग" बताया। कोई आश्चर्य नही कि सदियो का युग बीतने पर भी 'शिला कन्तग' के निर्माण की कला बुशैहर जैसे दूरस्थ स्थान मे जीवित रही हो और मध्यकालीन युग मे 'ढीग' का प्रयोग ठकुराइयो के आपसी सघर्ष में होता रहा हो। प्राचीन सभ्यता और सस्कृति के कई अवशेष पर्वतीय क्षेत्र में आज भी पाये जाते हैं। रावींगढ मे 'ढीग' का प्रयोग नही किया गया क्योकि कुछ दिनो में ही अमरसिंह थापा ने मलौण में हथियार डाल दिये। और युद्ध समाप्त हो गया।

लोहा पिघलाने की भट्टियां —

हाटकोटी के आगे सडक के किनारे चादरो के पर्दे की ओट बनाकर सारी की रानी फ्रेजर को मिली। सारी का राज्य कुछ वर्ष पूर्व बुशैहर ने हड़प कर लिया था। उसने अपने खोये हुये राज्य को प्राप्त करने की प्रार्थना की। फ्रेजर सहानुभूति का आश्वासन देने के अतिरिक्त और कुछ नही कर सकता था। अग्रेजी शासन में भी सारी का राज्य जीवित न रह सका। रोहड़ू के निकट वे कराशा की धार पर चढ़े। ढ्योरा की धार को पार करके कदाचित् शेखल गाव मे उन्होने लोहा पिघलाने की भट्टी देखी। इस भट्टी की बनावट के सम्बन्ध म फ्रेजर ने लिखा कि पत्थर के छोटे से चबूतरे के ऊपर मिट्टी की बनी चिमनी रखी थी जिसकी ऊंचाई ४$\frac{१}{२}$' थी और उसका व्यास १५" से १८" तक होगा। चिमनी के ऊपर से कोयले की धूल और लोहा मिश्रित मिट्टी डाली जाती थी और निचली ओर से चार धौंकनिया एक

---

* Majumdar R. C An Advanced History of India Part 7 (1951) p 73

नाव हवा कर रही थी जिससे कोयले की धून से प्रचण्ड आग जल रही थी। लोहा पिघल कर भट्टी के नीचे बह रहा था और भट्टी के अग्र भाग में शिला का रूप धारण कर रहा था। सम्भवतः ऐसी भट्टियां अन्य गावों में भी होगी। यह लोहा स्थानीय आवश्यकता पूर्ति करने के बाद रोपड़ और लाहौर तक लोग अपनी पीठ में पहुंचाते थे। तलवार और बन्दूक बनाने के लिये नावर के लोहे की मांग पंजाब में सर्वत्र थी। इसी मार्ग पर स्थित किसी गाव में उन्होंने कोहलू देखा जिसमें चुलो का तेल निकाला जा रहा था। फ्रेजर के अनुमान चुली का तेल एक रुपये का चौदह सेर बिकता था। यह स्पष्ट नहीं कि यह कच्चा सेर था या पक्का। उस जमाने में दोनों प्रकार के तोल यहां प्रचलित थे।

नावर क्षेत्र—

नावर-निवासियों के बारे में फ्रेजर की राय अच्छी नहीं थी। वह उनको गिरे हुये आचार-विचार का मानता था। उनमें हिंसा की वृत्ति तीव्र थी। साधारण-सी तकरार पर वे रक्त पात करते थे। उसकी ऐसी धारणा क्यों थी—यह कहना कठिन है। उस युग में सभी स्थानों के लोग झगड़ा होने पर हिंसा करते थे। राज्य-सत्ता का इतना भय नहीं था। शेवन गाव में लोहे की भट्टी पर काम करने वाले स्त्री-पुरुषों के बारे में वह लिखता है कि वेष भूषा और आकृति से वे जंगली प्रतीत होते थे, परन्तु व्यवहार और भाव-भंगी से दयालु स्वभाव के थे। वास्तव में जन साधारण का यही रूप और सादगी की लोग विनीत और कोमल स्वभाव के थे। नावर की यात्रा में उन्होंने टिक्कर, नावरगढ़, हाटू और बाघी के किले देखे। उन्होंने बाघी के किले के अन्दर पेड़ों के बड़े-बड़े तने को खोद कर बनाये बड़े गहरे पानी के पात्र देखे जिनमें किले में घिरे सिपाहियों के लिये कई दिन तक पानी का संग्रह किया जाता था। फ्रेजर ने वहां पर बुशैहर के एक सैनिक का रेखा चित्र बनाया। वह अपनी पहाड़ी वेष-भूषा में धनुष-बाण, ढाल तलवार, लम्बी टोपीदार बन्दूक और कमर-बन्ध में कुल्हाड़ी लिये था। फ्रेजर के इस क्षेत्र के सम्बन्ध में बनाये रेखा चित्रकला कला जगत की मूल्यवान निधि है। बुशैहरी सैनिकों के तीरों की नोक लोहे के स्थान पर हड्डी की बनी होती थी।

कुमारसैन और ठियोग—

गोरखा शासन के समय कुमारसेन के राणा को पद-च्युत करके नेपालियों ने उसको जेल में डाल दिया था। युद्ध के समय किसी तरह भाग कर वह असतरलोनी के पास चला गया और एक मास तक वहीं रहा। फ्रेजर एक दिन कुमारसेन में रहा। उसका कहना है कि राजा का पहनावा मुसलमानों जैसा था—फूलदार रेशम के कपड़े और कशीदा की हुई जूती पहने था। गोरखा कुमारसेन से ७५० रुपये वार्षिक आय वसूल करते थे। इनकी सेना की शक्ति २१० सिपाही और सौ टोपीदार बन्दूकें थीं। कुमारसेन से नीचे सतलुज तक कई सौ सीढ़ियां थी जिन पर चढ़ते

हुये नौजवान भी थक जाता था। उन्होंने सतलुज के किनारे कुछ लोगों को रेत धोकर सोना निकालते हुये देखा। परन्तु इससे उनकी दैनिक आय चार-पाँच आने से अधिक नहीं थी। नारकण्डा से आगे ठियोग की ओर गोरखाओं ने ६ से ८ फुट चौड़ी सड़क बनाई हुई थी। परन्तु यह सड़क आधुनिक हिन्दोस्तान-तिब्बत राजमार्ग से बहुत नीचे थी। नारकण्डा से यह सड़क नीचे उतरती थी और मत्तो गांव होती हुई ठियोग मे किशनोग गाँव में निकलती थी। फ्रेजर के अनुसार यह सड़क हाटू के किले को राजगढ़ और नाहन से मिलाती थी। यह नेपालियो ने सेना के उपयोग के लिये बनाई थी। वे २४ व २५ मई १८१५ को ठियोग के किशनोग गांव म ठहरे। वहा उनकी ठियोग के राणा से मुलाकात हुई। नेपाल सरकार को ठियोग-राज्य से ३४०० रुपये वार्षिक आय थी। राणा ने फ्रेजर को अपने पुत्र के विरुद्ध अभियोग लगाया कि वह मुझे मार कर राज्य पर अधिकार करना चाहता है। फ्रेजर उसकी दयनीय स्थिति पर सहानुभूति ही प्रकट कर सकता था। ठियोग से आगे फागू की पृष्ठभूमि में ऊंचा पहाड़ है। इसको आज भी 'देवी की धार' कहते है। यहां कदाचित् एक किला था और यहीं से रास्ता पूर्वोत्तर दिशा को उतरता था। रतेश परगाने के घलें गाव मे उन्होने एक सुन्दर नवनिर्मित देवी का मंदिर देखा। इस मंदिर का जीर्णोद्धार १६५ वर्ष बाद १६८० में हुआ। इसके निकट ही गरजड़ी नाम का किला था जिसका अब कोई पत्थर भी शेष नहीं रहा। यहा से पाच हजार फुट नीचे उतर कर गिरी नदी के किनारे रतेश की रानी अपने दो बच्चो को लेकर फ्रेजर को मिली और उसने शिकायत की कि उसकी प्रजा ने ही उसके पति की हत्या करदी है। उसने अपने बच्चों के रक्षार्थ प्रार्थना की। पर फ्रेजर क्या कर सकता था* ?

उत्तरी पथ की ओर—

दूसरी बार फ्रेजर बन्धु इस क्षेत्र स गुजरे, परन्तु अबकी बार उनका रास्ता भिन्न था। वे बुगेलु नाला से बलसन राज्य के साई गाव म निकले। दूसरे दिन २ जून को बलसन का ठाकुर उनको मिलने आया। वह पहाड़ी लिबास में था, पर उसका पाजामा धारीदार सूती कपड़े का था। सिर पर मुनाल की कलगी और

* कोट रतेश एक छोटी सी ठकुराई था। पुराने ज़माने में यह ठकुराई सिरमौर राज्य का उत्तरी भाग का केंद्र था। १२५० ई० में राजा समर प्रकाश ने रतेश को जीता और उसको अपनी राजधानी बनाया। उसके उत्तराधिकारियों ने मोरी और गरजड़ी के किलो का निर्माण किया। राजा कर्मप्रकाश ने (१६१६-३०) रतेश क्षेत्र को अपने छोटे भाई रायसिंह को दिया। रायसिंह के वंशधर रतेश के ठाकुर हुये। नेपाल-युद्ध के समय रतेश के ठाकुर जीतसिंह ने टिपाली के देवी मंदिर में नौहल गांव के एक नवयुवक की एक साधारण सी धृष्टता के लिये हत्या करदी। उसके ग्राम वासियो ने राणा जीतसिंह को कत्ल कर दिया। गोरखा युद्ध के बाद रतेश की कोई पैरवी अंग्रेज़ लोगों के पास नहीं हुई। परिणाम यह हुआ कि इसका इलाका बलसन और क्योंथल ने हड़प कर लिया। १८३६ ई० में बालिग होने पर रतेश के ठाकुर किशनसिंह ने क्यों थल से लेकर चार गांव प्राप्त किये।

सोने का सुन्दर मुकुट था एवं हाथों में चान्दी के कड़े थे और कानों में सोने के कुण्डल थे। कड़े और कुण्डल धारण करने का तब आम रिवाज था। राणा के साथ उसके अंग रक्षक धनुष बाण और तलवार आदि से सुसज्जित थे। अगले दिन वे चूहेल टिबा (महासू की धार) होते हुये कोटखाई पहुंचे। कोटखाई का ठाकुर डण्डी में बैठ कर उनसे मिलने आया। उसके साथ पचास अंग रक्षक भी थे।* उसने शिकायत की कि पुन्नरनिवासी प्रायः उसके इलाके को लूटते हैं, पर वास्तविकता यह थी कि अवसर पड़ने पर कोटखाई के लोग भी उनको लूटते थे। उस युग में प्रायः ऐसा होता था। कोई भी क्षेत्र अपने आपको निर्दोष नहीं कह सकता था। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय कोटखाई से खड़ापत्थर जाने का मार्ग उस क्षेत्र से जाता था जहां अब मोटर की सड़क बनी है, तब दरकोटी का प्रचलित नाम शिली था, कदाचित् इसलिये कि यहां धूप कम आती थी। यह सारा पर्वत पार्श्व उत्तराभिमुख है। दरकोटी ठाकुर का वर्तमान निवास स्थान तब तक नहीं बना था। फ्रेजर का कथन है कि ठाकुर का महल नीचे नाले में था।

ऊपर धार पर खड़ा पत्थर नाम से ऊंची पत्थर की शिला तब विद्यमान थी। फ्रेजर के अनुसार यह शिला ६ से १० फुट ऊंची और २ फुट चौड़ी होगी और चार से पांच इंच मोटी। इस पर लोग कुल्हाड़ी आदि औजार तेज करते थे और तब भी इस शिला पर तेज औजार से कटने के निशान थे। स्थानीय लोगों का विश्वास है कि नेपालिया ने अपनी विजय के उपलक्ष्य में इस शिला को स्थापित किया हो। परन्तु यह सत्य नहीं है। तब लोगों ने फ्रेजर को बताया कि सिखों ने इस शिला को स्थापित किया था। परन्तु इस क्षेत्र में सिख विजेता कभी नहीं आये। इस स्थान का लोक-प्रचलित नाम 'ओडी' है। ओडी या ओडा पहाड़ी भाषा में खेतों के मध्य दो हकदारों के बीच की सीमा-रेखा होती है। खेत के बीच सीमान्त-रेखा को व्यक्त करने वाला पत्थर या सीमा चिन्ह 'ओडा' कहलाता है, यह पत्थर की शिला शिली (दरकोटी) और जुब्बल राज्य की सीमा पर गाड़ा गया है। अतः उक्त दो राज्यों का 'ओडा' प्रतीत होता है। ओडी नाम से यही ध्वनि निकली है।

---

* कोटखाई ठकुराई में कोटगढ़ क्षेत्र भी सम्मिलित था। पर कोटखाई से दूर होने से ठाकुर उस क्षेत्र का ठीक प्रबन्ध नहीं कर पा रहा था। अतः सन १७६० के लगभग कोटखाई के ठाकुर ने कोटगढ़ क्षेत्र को कुल्लू को इस शर्त पर दे दिया था कि वह ठाकुर की ओर से उस इलाके का प्रबन्ध चलाये। परन्तु कुल्लू ने कुछ वर्षों में उस क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लिया। सन् १७७१ के आस पास बुशैहर और कुमार सेन ने मिलकर कोटगढ़ क्षेत्र पर आक्रमण किया और लड़ाई में कुल्लू का राजा मारा गया। बुशैहरियों को इस शर्त पर राजा के शव को अन्तिम संस्कार के लिये देना स्वीकार किया कि कोटगढ़ का इलाका बुशैहर को दे दिया जाय। कुल्लू को यह शर्त माननी पड़ी। तब से सन् १८११ तक यह क्षेत्र बुशैहर के पास रहा। सन् १८१५ में अंग्रेजों ने कोटगढ़ में छावनी कायम की और इलाका अपने अधीन रखा। कोटखाई की शेष ठकुराई १८२८ ई० में अंग्रेजों के शासन में आई क्योंकि तत्कालीन ठाकुर भवानीसिंह झगड़ालू और निर्दयी स्वभाव का था। उसके अत्याचारों के कारण लोग उसके विरुद्ध हो गये। विवश होकर १८२८ में उसने अपनी ठकुराई अंग्रेजों के हवाले कर दी। इसके बदले उसको १२०० रुपये वार्षिक पेंशन मिली।

बड़ा पत्थर से आगे ८ मील पर वे सनेटी के जादाला गाव मे गये।
उन्होंने लोहे के पिघलाने की भट्टिया देखी। यहा पानी के स्त्रोतो से कीचड के
लोहा निकलता था जिसको लोग लकडी के तसलो मे पानी से साफ करते थे।
गाव मे सनेटी और दरकोटी के ठाकुर शिष्टाचार के नाते फ्रेजर को मिलने आ
सनेटी के ठाकुर ने हसते हसते विनोद भाव से कहा 'मुझे तो सब लूटते हैं,
क्या किया जाय ?' दरकोटी का ठाकुर बडी निरसता से अपने दुख सुनाता रह
कोटखाई क्षेत्र मे कई स्थानो पर लोहा पिघलाने की भट्टिया थी।* इन से लोहे
स्थानीय आवश्यकता तो पूरी होती थी, कुछ लोहा बाहर भी जाता था।

वहा फ्रेजर बन्धु बहाली होते हुये नोगडी मे सतलुज के किनारे ३०००
तक उतर आये। जून की भीषण गर्मी मे वे इस मार्ग से रामपुर जा रहे थे।
समय रामपुर नगर में प्रवेश करने का आधुनिक सीधा रास्ता नही था। जहां
सार्वजनिक विश्राम गृह है वहां से ऊपर चढना पडता था और फिर वर्तमान स्
के मैदान मे उतरना पडना था। स्कूल ने इस मार्ग को बन्द करने का भरसक प्रय
किया, परन्तु सदियो पुराना सार्वजनिक मार्ग कैसे बन्द हो जाता ?

गोरखा नमक का प्रतिकार—

ठियोग के निकट बिशनोग गाव का एक प्रसग उल्लेखनीय है। फ्रेजर ब
जब इस गाव मे ठहरे थे तो अपने शिविर से नीचे सडक पर उन्होंने गोरखा सैनि
की एक पंक्ति देखी। बुशैहर के सैनिक कीर्ति राणा और अन्य गोरखा सरदारो अ
सैनिकों को अख्तरलोनी के शिविर को ले जा रहे थे। फ्रेजर बन्धुओ ने कीर्तिरा
और अन्य सरदारों को अपने शिविर मे बुलाया। कीर्तिराणा नेपाल मे
पलपा के राजवश का सरदार था। उसकी आयु ७५ वर्ष की थी और वह लगड
हुए चल रहा था। वह १३ वर्षो से पश्चिमी हिमालय क्षेत्र मे सेना-नायक था।
पूछने पर कि क्यो ऐसी वृद्धावस्था म उसने अपन देश को छोडा, कीर्ति राणा ने ब
प्रभावशाली ढग से उत्तर दिया, हमारे राजा ने मुझको यहा भेजा है। वह मे
स्वामी है। वह किसी को आज्ञा देता है, गढवाल जाओ, किसी को काश्मीर ज
को कहता है या किसी अन्य स्थान को। हम तो राजा के गुलाम हैं और उसकी आ
का पालन करना ही हमारा धर्म है।" फ्रेजर का कहना है कि जिस प्रभाव औ
जिस ओजस्विता से उसने ये शब्द कहे उसस गोरखा जाति की राज भक्ति
अद्वितीय मिसाल स्पष्ट होती है। सरदारो में एक और प्रभावशाली व्यक्ति था

* कर्नेल बस की १८८१ ८२ की जगमात की रिपोर्ट के अनुसार उस समय कोटखाई
लोहा साफ करने की २१ भट्टियां थी। इनमें कैल की लकड़ी जलाई जाती थी। इससे वनों
बहुत हानि हो रही थी। कर्नल बेस ने प्रत्येक भट्टी के लिये पेड़ो की सख्या निश्चित करदी
नई भट्टिया खोलने पर पाबन्दी लगा दी। उन्नीसवी सदी के अन्त तक सब भट्टिया बन्द हो ग
क्योंकि इगलण्ड से आयातित लोहा सस्ता और सुलभ था।

असाधारण रूप से ऊंचा, काला चोगा पहने और ढाल और खुखरी धारण किये था। उसने अपने आपको काजी अमरसिंह थापा का चाचा बताया। जब उसको पूछा गया कि क्या वह अपने देश वापिस जावेगा, तो उसने जोर देकर उत्तर दिया, नहीं कदापि नहीं। हम राजा को अपना मुंह दिखाने योग्य नहीं हैं। मैंने नेपाल के राजा का नमक खाया है, मुझे राजा ने विश्वास करके यहां भेजा था, परन्तु मैंने उस नमक की लाज नहीं रखी और नाही उस विश्वास को निभाया। मुझे लड़ते-लड़ते अपने प्राण देने थे। पर मैं ऐसा न कर सका। अब किस मुंह से राजा के पास जाऊं? मुझे अन्यत्र नौकरी की तलाश करनी होगी।" अन्य सरदारों ने भी उसकी स्वीकारोक्ति में अपने-अपने सिर हिलाये। राज-भक्ति और कर्तव्य निष्ठा का भाव गोरखा सरदारों और सैनिकों में कूट कूट कर भरा हुआ था। लड़ते-लड़ते मर जाना वे अपना परम धर्म और कर्तव्य समझते थे। यह बात कुछ पत्रों से जो गोरखा सैनिकों ने इस सम्बन्ध में लिखे और जिनको अंग्रेजों के जासूसों ने हस्तगत किया और भी स्पष्ट होती है। कुछ गोरखा सैनिक अखतरलोनी के शिविर में चले गये थे। उन्होंने अपने साथियों को अंग्रेजों के पक्ष में मिलाने को पत्र लिखे। ऐसे पत्र के उत्तर में गोरीशाह नाम के सरदार ने लिखा'—'तुमने जो लिखा उसको मैंने समझ लिया × × × मैंने गोरखा राज का नमक खाया है। यदि इस नमक का ऋण नहीं चुकाया गया तो अगले जन्म में मैं कहीं का नहीं रहूंगा। मुझे एक राजपूत महिला ने जन्म दिया है और उसकी भुजाओं में मैं पला हूं। धोखा देकर लम्बा जीवन निरर्थक है। तुम लिखते हो कि २५०० रुपये के लिये मैं किले को सम्भाले हूं। धन का कोई मूल्य नहीं। मैंने गोरखाओं का नमक खाया है और पानी पिया है। यदि इस ऋण को चुका सकूं तो मरने पर मुझे प्रसन्नता होगी। × × ×" दूसरी बार उसने जब गोरीशाह को लिखा तो गोरीशाह ने इन शब्दों में उसको उत्तर भेजा :—"मैं पहले उत्तर दे चुका हूं और सौ बार यही उत्तर दूंगा। अब जब तक जैथक और राजगढ़ का पतन नहीं हो जाता तब तक मैं गोला बारूद से तुमको उत्तर दूंगा। वे मेरे पास पर्याप्त मात्रा में हैं × ×" लालशाही और कृष्ण नाम के सिपाही अखतरलोनी के शिविर में थे। उनको एक गोरखा सैनिक ने लिखा —"तुम लिखते हो कि मैं राजा का

लड़का हूं जिसके परिवार को गोरखाओं ने नष्ट किया। मुझे किले की रक्षा करना शोभा नहीं देता। तुमको मेरा उत्तर यह है, मैं राजपूत की सन्तान हूं। मैंने उनका नमक खाया है। मैं अपने परिवार और अपने नाम को कलंकित नहीं करूंगा। तुम सोचते हो कि तुम मुझ को जिन्दा पाओगे। तुम्हारी भूल है। तुम मेरा मृत शरीर पाओगे। मैंने राजपूत कुल में जन्म लिया है। अत: मैं युद्ध में मरने को तैयार हूं और इससे मुझे अगला सुखी जीवन मिलेगा × ×" ये उद्गार साधारणतः सभी गोरखा सरदारों और सैनिकों के भावों का प्रतिनिधित्व करते हैं। सभी बड़े-बड़े गोरखा सरदारों को जैसे ब्रह्मशाह, अमरसिंह थापा, परोक्ष रूप से अंग्रेजों ने प्रलोभन देने का प्रयास किया, परन्तु उनकी दृष्टि में राज-भक्ति और देश-भक्ति के सामने में प्रलोभन हेय थे और वे अपने कर्तव्य पथ पर आडिग रहे।

बुशहर मे गोरखा आतंक—

रामपुर समेत सभी उत्तरी क्षेत्र में गोरखे सन् १८११ मे आये। उस समय से एक वर्ष पूर्व सन् १८१० में बुशहर के शासक राजा उग्रसिंह का निधन हुआ था। इसकी स्थिति डांवाडोल थी। सन् १८११ में अचानक नेपाली रामपुर में पहुंचे और अपनी युद्ध-नीति के अनुरूप उन्होने आतङ्क फैलाने के लिये लूट-मार की। कई लोग आत्म रक्षा के लिये नदी पार कुल्लू क्षेत्र में चले गये और कुछ इधर-उधर भाग गये। राजा महेन्द्रसिंह तब केवल चार-पाच साल का बालक था। उसके अभिभावक उसको लेकर कनौर चले गये। रामपुर नगर प्राय अरक्षित था। गोरखा सैनिकों ने नगर को बुरी तरह तहस नहस किया। महलो में राज्य का पूरा रिकार्ड भी जला दिया। ऐसा विवरण अग्रेजो ने गोरखा आक्रमण के बारे लिखा है। इसकी सच्चाई को प्रमाणित करने का और कोई भी साधन नही है। जब फ्रेजर बन्धु जून, १८१५ में रामपुर गये तो रामपुर लगभग निर्जन और उजाड था। दुकानें उजडी और जली हुई थी। कुछ निर्धन वणिये अपनी दुकानो को सम्भाले हुये थे। रामपुर नगर में महादेव, नृसिंह गणेश, हनुमान आदि कई देवताओ के मन्दिर थे। उनमे कई वैरागी, साधु सन्यासी और गुसाईं थे। गोरखा धर्म भीरु लोग थे। अत. साधु-सन्यासियो और मन्दिरो के प्रति उनका व्यवहार श्रद्धापूर्ण होता था। मन्दिरो के भरण-पोषण के लिये कई गावो का वे दान देते थे। गढवाल में मदिरो के नाम पर कई गोरखा सरदारो ने ताम्र-पत्र प्रदान किये। रामपुर में आरम्भ में गोरखाओ ने प्रबल आतङ्क फैलाया। एक विवरण के अनुसार सघर्ष के अन्त में बुशहर के वजीरो और गोरखा अधिकारियो के मध्य एक समझौता हुआ जिसके अनुसार सतलुज पार का क्षेत्र बुशहर के अल्पवयस्क राजा के लिये छोड दिया गया और शेष भाग गोरखाओं के शासन मे रहा। इस बटवारे मे राजा को मुख्यत कनौर का क्षेत्र मिला—सम्भवत बागत् से आगे सतलुज के आर-पार का सारा क्षेत्र। इस समझौते के बाद ही बुशहर के वजीर टिक्मदास और बदरीदास अमरसिंह थापा के प्रमुख सेना नायक बने। १८१५ के अप्रैल मास मे इन वजीरों ने गोरखाओं का साथ छोडा और अग्रेजो के पक्ष मे आ गये। गोरखा सेना का बागत् से आगे जाने और चौगाव (ठीलङ्ग) के निकट मुठभेड होने की बात भी मनघडत प्रतीत होती है। भावी राजा महेन्द्रसिंह सन् १८१५ के आरम्भिक महीनो तक कामरु के किले मे रहा और कनौर की आय पर उसको पूरा अधिकार था। यदि ऐसा समझौता न होता तो बुशहर के वजीरो का अमरसिंह थापा के सेना मे विश्वास पात्र सेना नायको के रूप मे रहना सम्भव नहीं था और नाही कनौर क्षेत्र पर अधिकार करना गोरखाओं के लिये कठिन था।

बुशहर राज्य मे कनौरों का प्रभुत्व—

फ्रेजर के अनुसार बुशहर राज्य मे कनौरों का प्रभुत्व था। वे राज्य के विश्वासपात्र अधिकारी और सैनिक एव व्यापारी थे। लोगो का कनौरे व्यापारियो

पर बहुत विश्वास था। वे कनौरे व्यापारियों को धन देते और तिब्बत से अभीष्ट वस्तुएं मंगाते। व्यापारी बिना लाभ लिये लोगों के लिये इन वस्तुओं को लाते। कनौरे इमानदारी के लिये प्रसिद्ध थे। बुशहर का राजवंश मूलतः कनौरा था जैसा कि पहले उल्लेख किया गया; उनका राज व्यवस्था में प्रभुत्व होना स्वाभाविक था। तत्कालीन नाना प्रकार के राज्य के कर (करदाहा) के नाम भी कनौरी मूल के प्रतीत होते हैं जैसे 'खोर' चुली के तेल का कर, कटलोही एक प्रकार की शराब, 'सरख'—घोडों के लिये कर, चोलम—राजा के कपडों के लिये कर, हत नग—हाथी के लिये कर - आदि-आदि, ये सभी नाम कनौरी मूल अथवा कनौरी प्रभाव के शब्द हैं। बुशहर राज्य में चार वजीर परिवार थे और वे चारों कनौर निवासी थे। गोरखा शासक बुशहर राज्य से ८०,००० रुपये का कर वसूल करते थे। इसके अधीनस्थ राज्य जैसे देलट, कुरागुलु, कोटगढ, भरोली, बलसन, ठियोग और और डोडराक्वार इसके अतिरिक्त थे, बुशहर की सैन्य शक्ति तीन हजार सैनिक थे। इनमें से एक हजार के पास तत्कालीन टोपीदार बन्दूकें थी और शेष धनुषवाण, खड्ग, तलवार आदि से लडते थे। परन्तु ये पेशेवर सिपाही नही थे। आम जमींदार समय पडने पर सिपाही का काम करते थे। पहाड के सभी राज्यों में यही स्थिति थी।

लकडी के प्याले और मृतकों की समाधियां—

फ्रेजर बन्धु सरहान तब गये। सरहान जाने का मार्ग तब हिन्दोस्तान-तिब्बत रोड नहीं था। ऐसा प्रतीत होता है सरहान जाने का प्रचलित मार्ग सुगरी बहाली होते हुये था। रामपुर से सीधे ऊपर पहाड पर चढना पडता था और ऊपर पहुंचना पडता था। फ्रेजर बन्धु इसी मार्ग से सरहान गये। बहाली के किले के सम्बन्ध में उसने लिखा है कि इस किले में दो चार दीवारियां हैं। अन्दर के भाग में गोला बारूद रखा जाता है और बाहर के भाग में सिपाही रहते हैं। पानी का संग्रह करने के लिये बडे बडे पेडों के तनों को खोद कर गहरा किया हुआ है। उनमें पानी रखा जाता है। किले के निकट पानी का कोई स्रोत नहीं है। सुगरी पर्वत श्रृंखला से उतरने पर कुन्नू नाला में फ्रेजर ने बुरास की लकडी के प्याले खराद पर बनते हुये देखे। खराद पानी से चलता था। बुशहर में इस प्रकार के प्याले बनाने का उल्लेख मूरक्रॉफ्ट ने भी किया है। उसके अनुसार ये प्याले चीन भेजे जाते थे। वहां इन प्यालों को चान्दी या पीतल की परत का किनारा लगाकर सजाया जाता था और इनकी वहां बहुत कदर थी। बुशहर से प्रति वर्ष कई हजार प्याले *तिब्बत और चीन को भेजे जाते थे। पहाडों पर चढते हुये इस मार्ग में उसने मृतकों* के जलाने का उल्लेख भी किया है। फ्रेजर का कथन है कि उस क्षेत्र में लोग मृतकों को पहाडों के ऊपर ले जा कर जलाते थे। और उस स्थान पर मृतकों की स्मृति में पत्थरों का चबूतरा सा बनाते हैं। उस पर चीथडों की झण्डियां खडी करते हैं। अभी भी कई स्थानों पर पहाडों के ऊपर ऐसे चबूतरे मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि फ्रेजर की यात्रा के समय तक शवों को पहाडों के ऊपर जलाने की प्रथा प्रचलित थी

मृतकों के नाम पर पत्थरों की स्थापना समस्त पश्चिमी हिमालय क्षेत्र एवं गढ़वाल में व्यापक रूप से प्रचलित थी और अभी तक कई स्थानों में प्रचलित है। कांगड़ा क्षेत्र में ऐसे स्थान जहां पितरों के नाम पर पत्थर स्थापित किये जाते हैं, उनको 'देव कुल' कहते हैं और गढ़वाल में 'पितृ कुल' या पितर कुडा(घर) कहते हैं। राजा और सामन्तों के नाम पर उत्कीर्ण पत्थर स्थापित किये जाते थे जैसे कुल्लू और मंडी के 'वरसेले' या सती स्तम्भ। लेकिन अब पहाड़ों के ऊपर मृतकों को जलाने का रिवाज समाप्त प्राय हो चुका है। अब मुर्दघाट गाव के आस पास नदी के किनारे अथवा जल-स्रोत के पास होते हैं।

नेपालियों की शकल से भी भय—

फ्रेजर बन्धुओं का सरहान आने का ध्येय टीका महेन्द्रसिंह को देखने का था। उस समय स्वर्गीय राजा उग्रसिंह की दो विधवा रानियां और बालक महेन्द्रसिंह सरहान में ठहरे थे। महेन्द्रसिंह की आयु उस समय आठ वर्ष से अधिक न थी। ये दोनों रानियां राजा उग्रसिंह की चिता पर सती नहीं हुईं। सम्भव है कि बालक महेन्द्रसिंह के पालन-पोषण के लिये इन का जीवन बचाया गया हो। वैसे राजा की चिता पर २२ व्यक्तियों ने जल कर अपना बलिदान दिया था। जिन में १२ स्त्रियां १० पुरुष थे। महेन्द्रसिंह की मां धामी राजवंश की थी और दूसरी सिरमौर के राजवंश की। जब फ्रेजर बन्धुओं ने बालक महेन्द्रसिंह को अपने शिविर में बुलाया तो रानियों ने आग्रह किया कि बालक के वहां आने पर गोरखा सिपाही वहां नहीं होने चाहिये। इससे पता चलता है कि बुशैहर के लोग और राजवंश के सदस्य गोरखाओं से कितने आतंकित थे। फ्रेजर बन्धुओं के साथ कुछ गोरखा सैनिक उनके अंगरक्षक के रूप में थे।

दास प्रथा

फ्रेजर का कहना है कि अंगूर से कनौरे दो प्रकार की शराब बनाते हैं। प्रथम श्रेणी के पेय को सीही (सम्भवत शुदग) कहते हैं। इसको उच्च वर्ग के लोग पीते हैं। दूसरी प्रकार का पेय गले हुये शेष खमीर में गर्म पानी डाल कर बनाया जाता है। इसको आम लोग पीते हैं। यह एक प्रकार की बीयर होती थी। भाप से मदिरा बनाने की प्रक्रिया से वहां के लोग परिचित थे या नहीं, इसका फ्रेजर को सुनिश्चित ज्ञान नहीं था। यद्यपि मदिरा कशीदने की कला भारत में बहुत प्राचीन थी, इन दूरस्थ क्षेत्रों के लोग सम्भवत उस समय तक परिचित न हो।

अपने यात्रा विवरण में फ्रेजर ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि पहाड़ी क्षेत्रों में दास प्रथा प्रचलित थी, विशेषत इस रूप में कि लोग धन प्राप्ति के लिये अपने बच्चों को, लड़के और लड़कियों को दास क्रेताओं के हाथ बचते थे। परन्तु उसकी यह मिथ्या धारणा थी। उसने यहां तक लिखा कि लोग एक से अधिक पत्नियां इसलिये रखते हैं कि उनकी अधिक सन्तान हो और जैसे पशुओं की वृद्धि से,

गाय, बकरी भेड आदि से आय होती है वैसे ही सन्तान को बेचने से धनोपर्जन होता है। परन्तु यह सर्वथा निराधार और असत्य है। उसकी यह धारणा कि पहाड के लोग मैदान-वासियो के हाथ पहाड की लडकियो और लडकों को उनकी आयु, शारीरिक सौन्दर्य और स्वास्थ्य के अनुसार सौ से दो ढाई सौ रुपये तक बेचते थे मिथ्या है। पहाड मे कहीं कोई ऐसा व्यापारिक केन्द्र और मडी नही थी। यह ठीक है कि पुराने सामन्तशाही समाज मे ऋण और उसके ब्याज के बदले ऋणी व्यक्ति को स्वय अथवा अपनी सन्तान को ऋण-दाता का बन्धवा सेवक बनना पडता था। यह प्रथा नेपाल से काश्मीर तक समस्त पर्वतीय क्षेत्र मे प्रचलित थी। बुशैहर मे भी यह प्रथा थी। राज्य के बडे-बडे अधिकारी, वजीर और अन्य सम्पन्न लोग लेन-देन का कारोबार करते थे और इसमे ऋणी का सर्वस्व तक हर लेते थे। गढवाल मे गोरखाओ ने लोगो पर बहुत अन्याय और अत्याचार किये। उन पर भारी कर लगाया और जो नही दे सकता था, उसके परिवार या सन्तान को गुलाम बना कर बेचा। सन् १८०३ से १८१४ ग्यारह-बारह वर्षों में फ्रेजर के अनुमान के अनुसार दो लाख के लगभग गढवालियो को दास और दासियो के रूप मे हरिद्वार मे हरि की पौडियों पर जहां इस काम के लिये एक गोरखा चौकी थी, बेचे गये। गढवाल विशेषरूप से गोरखा सैनिक शासको का कोपभाजन रहा क्योकि उन्होने इनका निरन्तर विरोध किया। परिणामत गोरखा सैनिको ने बर्बरता के साथ गढवाल पर शासन किया। गढवाल मे अभी भी अन्याय, अनाचार व अत्याचार के लिये 'गोरखाणी' शब्द प्रयुक्त होता है, वहां गोरखा शासन अन्याय और क्रूरता का पर्याय माना जाता है। यमुना से इस पार के क्षेत्र मे, विशेषत: शिमला क्षेत्र में गोरखा शासन १८११ से १८१४ तक ही रहा। इस अल्प अवधि मे वे अपनी स्थिति सम्भालने में ही व्यस्त रहे। छोटे छोटे अपराधो के लिये गोरखा शासको ने गढवाल मे 'नाना प्रकार के दाण्ड' (दण्ड) का आविष्कार किया हुआ था। 'दण्ड' न देने पर दासता मे बन्धना पडता था। दुर्भाग्य से सन् १७९१-९२ के गोरखा आक्रमण के बाद गढवाल मे १७९४-९५ में एक भयङ्कर अन्न-काल पडा। इससे हजारो लोग भूख से मर गये। जैसा कि उस जमाने में अन्नकाल के समय प्राय होता था। ऐसे सकट के समय बच्चो तक को बेच दिया जाता था-- बिके हुये बच्चो और परिवार मे रहे अन्य बच्चो और बाकी लोगो की प्राण-रक्षा होती थी। यह कार्य अस्वाभाविक होते हुये भी प्राण रक्षा के लिये अनिवार्य जैसा था। ऐसा इतिहास में कई बार हुआ। शाहजहा के राज्यारोहण के तीसरे चौथे वर्ष १६३१-३२ में दक्षिण और गुजरात में भीषण अकाल पडा जिसमे लोगो ने अपने बच्चे तक बेच डाले। शाहजहा ने एक फरमान के द्वारा शाही खजाने से ऐसे बच्चो का मूल्य चुकाया था। मुसलमान बच्चों को उनके माता पिता को वापिस दे दिया और हिन्दू बालकों को मुसलमान बनाकर अनाथालयों में रखा गया। शाहजहा अकबर और जहांगीर की भान्ति उदार नही था। गढवाल में फ्रेजर ने बच्चो को बेचने बात सुनी होगी। ऐसी घटनाए सन्

१७९४-९५ के अन्नकाल के समय हुई होंगी ; परन्तु साधारण स्थिति में बच्चों का क्रय-विक्रय कभी नहीं होता था। बुशहर और अन्य राज्यों में इस प्रकार के व्यापार की कोई परम्परा कभी नहीं रही, अन्नकाल का समय अपवाद रूप था। संकट-काल में कष्ट-प्रद होते हुये भी प्राणरक्षा के लिये बच्चों को बेच दिया जाता था। यह अमानवीय व्यापार, चरम सीमा के संकट के समय पहाड़, मैदान, सर्वत्र और सभी युगों में होता रहा।

खाई के अनपढ़ मार्कसवादी—

रामपुर और सरहान की यात्रा के पश्चात् फ्रेजर बन्धु रयूणी होते हुये उत्तर काशी और अन्ततः देहरादून गये। राजनैतिक अधिकारी विलियम फ्रेजर को देहरादून से गढ़वाल के राजा सुदर्शन शाह को गढ़वाल ले जाना था। वह पहले देहरादून पहुँचा और उसका भाई जे० बी० फ्रेजर कुछ दिनों के पश्चात्। उसने गंगोत्री की तीर्थ यात्रा भी की। हॉपिल से आगे खाई क्षेत्र के बारे में फ्रेजर ने एक रोचक घटना का उल्लेख किया है, २३ जुलाई १८१५ को जे०बी० फ्रेजर का दल धुराली नाम के गांव में गया। परन्तु उस दिन उस गांव में कोई भी पुरुष नहीं था। पूछने पर पता चला कि सब पुरुष वहां से कुछ दूर कठूर पट्टी में लूट-पाट करने गये हुये हैं। दूसरे दिन सुबह के समय उसके दल को ये लोग चार-पाँच सौ भेड़-बकरियों को लूट कर लाते हुये मार्ग में मिले। वहाँ से कुछ आगे जाने पर उनको लगभग सशस्त्र सौ आदमियों का एक और दल मिला। इनके पास तलवारें, धनुष-बाण और कुल्हाड़ियां थीं। मालूम हुआ कि ये लोग रैथल नामक गांव से आये थे और इनका लक्ष्य धुराली गांव के लुटेरों को लूटना था—इनको कदाचित यह सूचना मिली थी कि धुराली निवासी कठूर पट्टी को लूटने गये हुये हैं। ये घात लगाकर उनको लूटना चाहते थे, परन्तु फ्रेजर के दल ने उनको बताया कि धुराली के लोग लूट का माल लेकर अपने स्थान को चले गये हैं। अतः अब उनका प्रयास विफल था। फ्रेजर ने उनसे पूछा कि तुम को सरकार का भय नहीं है ? ऐसा अपराध करने पर उनको फांसी की सजा मिल सकती है। तो उनमें से एक वाचाल ने उत्तर दिया, सरकार जैसा चाहे वैसा करे, पर हम क्या करें ? हमारे पास खाने को कुछ नहीं है। हम उन से छीन कर खाते हैं जिनके पास खाने को है। हम भूखे नहीं मर सकते हैं। फ्रेजर उनके इस उत्तर को पुरातन पर्म्या-विचार-धारा मानता है। परन्तु वह यह नहीं जानता था कि इस घटना के तीस-चालीस वर्ष बाद योरुप में मार्कसवादी विचार धारा ने खाई के अनपढ़ लुटेरों के ही तर्क जैसा एक विश्व जनीन दर्शन को जन्म दिया था। धनी (हैव) और गरीब (हैव नोटस्) के अन्तर के मूल की विशद व्याख्या इस नये दर्शन ने की। पर प्रसंग से यहां इतना कह देना पर्याप्त होगा कि यह युग लूट-मार का था। जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा तब सर्वत्र ही दाव पर लगी होती थी और लोग इस प्रकार के जीवन के अभ्यस्त थे।[1]

१४. संघर्ष विदेशी पर्यटकों की दृष्टि में तत्कालीन जीवन की झलक

(iii) बैरन चार्लस ह्यूगल

ह्यूगल की बिलासपुर के राजा महाचन्द से मुलाकात :—

बैरन ह्यूगल जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट होता है, जर्मनी के एक सामन्ती परिवार से सम्बद्ध था। यह नवयुवक पर्यटन के ध्येय से भारत में आया था। सन्



बैरन चार्लस ह्यूगल

१८३५ में वह पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में पहुंचा। इसने पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में शिमला से अपनी यात्रा आरम्भ की और जम्मू होता हुआ वह श्रीनगर, काश्मीर गया। इसके यात्रा विवरण में मुख्यतः काश्मीर और पंजाब के जीवन का दिग्दर्शन होता है। वर्तमान हिमाचल प्रदेश के जिस भाग से वह गुजरा उसका भी ह्यूगल ने थोड़ा उल्लेख किया है. वह, शिमला से बिलासपुर आया। उस समय शिमला की तीस छोटी-छोटी रियासतों का राजनैतिक अधिकारी मेजर कनेडी था। उसने ह्यूगल के आने की सूचना बिलासपुर राज्य के अधिकारियों को भेज दी थी

और यह आदेश भेजा था कि वैरन ह्यूगल को यात्रा की सब सुविधाएं प्रदान की जाएं। फलत बिलासपुर पहुचने पर उसने देखा कि राज महल के बागीचे में उसके ठहरने के लिये एक सुन्दर तम्बू लगा है। उस समय बिलासपुर का शासक राजा महाचन्द था जो नाना प्रकार के व्यसनो का शिकार होने से शारीरिक और मानसिक दृष्टि से सर्वथा पगु और आयोग्य था। १८२० मे विलियम मूरकॉफ्ट बिलासपुर आया था। उसने भी अपने यात्रा विवरण म महाचन्द के मन्द बुद्धि और व्यसनो होने के सम्बन्ध मे लिखा है। ह्यूगल का कहना है कि बिलासपुर पहुचने के थोडी देर बाद राजा महाचन्द अपने दरबारियो समेत उसके तम्बू मे शिष्टाचार प्रदर्शित करने आया। ह्यूगल ने इस साक्षात्कार का रोचक वर्णन किया है। उसके कथन के अनुसार इस क्षेत्र के राजाओ म महाचन्द अत्यन्त अज्ञानी और शिष्टाचार-हीन राजा था। उसके दरबारियों में दो बगाली थे जो थोडी अग्रेजी जानते थे। परन्तु वे भी राजा की भान्ति असस्कृत थे। शराब और अफीम के अत्यधिक प्रयोग ने उसकी सूझ-बूझ और बुद्धि को नष्ट कर दिया था। राजा महाचन्द की आयु चालीस वर्ष के लगभग थी। जब मनुष्य की बुद्धि और समझ परिपक्व हो जाती है, परन्तु रात-दिन मदिरा और अफीम के निरन्तर प्रयोग ने उसके स्वास्थ्य और बुद्धि का ह्रास कर दिया था—उसके नेत्र अभिव्यक्ति-हीन थे और आधा मुह हर समय खुला रहता था राजा ने दरबारियों की सहायता से इस प्रकार कुछ प्रश्न ह्यूगल से किये :—

"आप क्षेम कुशल तो हैं ?"

"आप को मिलकर मैं बहुत प्रसन्न हू।"

"आपकी क्या आयु है ?"

आयु की जानकारी प्राप्त करने के पश्चात् अगला प्रश्न यूं था,

"आपकी कितनी पत्नियां हैं ?"

"मैं अभी अविवाहित हू ?"

इस के उपरान्त बात-चीत समाप्त प्राय हो जाती है। यदि विदेशी कोई प्रश्न पूछता था तो राजा उत्तर के लिये अपने दरबारियो का मुह देखता था। और काफी देर परामर्श करने के बाद वह कोई उत्तर देने मे समर्थ होता था। यह ठीक है कि पाश्चात्य शिष्टाचार के अनुसार किसी व्यक्ति को उसकी आयु और पत्नी के बारे में पूछना अशिष्टता मानी जाती है, परन्तु भारत मे ऐसे प्रश्न पूछना इतना बुरा नहीं समझा जाता था। ह्यूगल की भर्त्सना भारतीय शिष्टाचार के नियमो से अनभिज्ञ होने से उचित नही है। पर राजा महाचन्द की शिक्षा दीक्षा नहीं के बराबर थी और छोटी आयु से ही वह व्यसनों मे फस गया था। फलत उसकी बुद्धि और मानसिक विकास कुठित हो चुका था और वह राजाओ जैसा व्यवहार और शिष्टाचार प्रदर्शित करने मे असमर्थ था। शिष्टाचार के अनुसार ह्यूगल को राजा को मिलने महल मे जाना था, परन्तु पहली मुलाकात से ही ह्यूगल इतना क्षुब्ध हो गया था कि उसने शिष्टाचार का ही परित्याग कर दिया। सतलुज नदी के पार

त्यूणी नामक किले मे १२ वर्ष से राजा महाचन्द के चाचा के रणजीतसिंह का बन्दी होने का उल्लेख ह्यू गल ने किया है। सन १८०९ मे कागडा क्षेत्र पर रणजीत सिंह का अधिकार हो गया था और उसी वर्ष सतलुज नदी सिख-राज्य और अग्रेजी राज्य के मध्य की सीमा बनी थी। सम्भवत गोरखा युद्ध के बाद बिलासपुर के सामन्त ने सतलुज के पार के क्षेत्र पर लूट-मार की हो। परिणामत रणजीतसिंह के सैनिकों ने राजा के चाचा को कैद करके उक्त किले में रखा हो और ह्यू गल के बिलासपुर में आने के समय तक वह उस किले में कैद हो। अब सतलुज के आर-पार के क्षेत्र में अराजकता की कोई गुजायश नहीं थी। नदी के बाये किनारे के समस्त क्षेत्र में अग्रेजो का प्रभुत्व था और दाहिनी ओर पर महाराजा रणजीतसिंह का।

शिमला जम्मू मार्ग .—

ह्यू गल ने शिमला से जम्मू तक के पडावो का उल्लेख किया है। वह उन पडावो से होता हुआ गया था। तब स्थानो का फासला कोसो में आका जाता था। मीलो के द्वारा फासला नापने का रिवाज अग्रेजी राज्य स्थापित होने पर चला। तब बिलासपुर जाने का मार्ग कुनिहार होता हुआ गम्भर और गमरोला नदियो को पार करके जाता था। बिलासपुर से आगे जम्मू तक पुराना व्यापारिक मार्ग था। अट्ठारहवी सदी में काश्मीर के पशम के दुशालो और अन्य मूल्यवान ऊनी गलीचो और वस्त्रो का व्यापार इसी मार्ग से होता था। ये वस्तुएं सहारनपुर और नजीबाबाद की मण्डियो में जाती थी। ज्वालामुखी के गुसाई प्रमुख रूप से इस व्यापार को करते थे। इस मार्ग में ये मुख्य पडाव थ और कोसो में यह दूरी थी -

शिमला से सारी ७ कोस, कुनिहार ७, सही कोटी ८, वयूण ८, बिलासपुर ७, कूगरहट्टी ५ मेरी हट्टी ६, हमीरपुर ६, रेली ५, नदौण ५, ज्वालामुखी ५, हवली कटूवा ८, जसरोह ८, साम्भा ८, इस्लामपुर ६ और जम्मू ७ कोस आधुनिक बस की सडकें भी प्राय इन्ही स्थानो से होती हुई जाती हैं।

देवदासिया —

ज्वालामुखी मन्दिर के बारे मे ह्यू गल ने लिखा है कि इस मन्दिर म कई देव दासिया हैं और वे आम स्त्रियो से अधिक सुन्दर और आकर्षक है। बीस के लगभग देवदासिया कमल के फूलो से सजी धजी उसके तम्बू के द्वार पर गई थी। उसका कहना है कि वे मधुर गीत गा रही थी और उनके पैरो की अगुलियो से नूपुरो की कर्ण मधुर ध्वनि आ रही थी, परन्तु मैं इतना अरसिक था कि मैंने बिना किसी पारितोषिक के उनको वापिस भेज दिया। मन्दिर के सम्बन्ध म उसने लिखा कि छोटे और बडे मन्दिर-भवन की छतें सोने के सु दर कलशो से सजी थी। ये कलश महाराजा रणजीतसिंह की ओर से उपहार थे। तब से बारह वर्ष पहले महाराजा भयानक बीमारी मे ग्रस्त हुआ था और उसने देवी को कलश चढाने की मनोती की थी। ये कलश ज्वालामुखी मे ही ढाले गये थे और अब ये देवी के मन्दिर की शोभा

चढा रहे थे। नूरपुर में भी देवदासियो की विद्यमानता का उसने उल्लेख किया है। उसका कहना है कि वहा भी बीस के लगभग देवदासियाँ उसके तम्बू के निकट आईं जिनमे से चार को उसने नृत्य और गायन के रूप मे अपनी कला प्रदर्शित करने का अवसर दिया। उनके बाये नाक के छिद्र में बालू थी और मुख के ऊपर लटकती बुलाक थी। वे सभी सुन्दर और गाने में निपुण थी, ह्यू गल को इस बात का खेद था कि वे फारसी में कोई गाना नही गा सकती थी। उसका आशय कदाचित् फारसी की गजल से हो जिसका उस जमाने में अधिक रिवाज था।

जादूगरी —

हरिपुर गुलेर में ह्यू गल न जादूगरी का अचमा देखा। जादूगर ने आम की गुठली जमीन में गाड कर आधे घटे में तीन फुट ऊँचाई का पौधा उगाकर दिखा दिया। अकुरण से लेकर तीन फुट की ऊचाई तक पौधे की विभिन्न अवस्थाओ के विकास को जादूगर ने दिखाया। प्रत्येक अवस्था में पौधे की जडो का विकास भी उसकी ऊँचाई के अनुरूप था। अन्त में जादूगर ने पौधे की टहनिया काट कर भी दिखाई जो खेल समाप्त होने पर भी वही जमीन पर पडी रही। उसका कहना है कि विचित्र बात यह थी कि दो स्त्रिया और दो बच्चे मुझे बडे प्रयत्न से यह विश्वास दिला रहे थे कि पौधे का उगना आदि सर्वथा सत्य है जिस पर मुझे हँसी आई। जैसे आज भी आजीविका कमाने के लिए जादूगरो के समूह गावो और शहरो में घुमन्तू जीवन में रहते हैं और जन साधारण का मन बहलाते हैं, आज से एक दो शताब्दी पहले इनके समुदाय आम थे और आज की अपेक्षा तब इनकी व्यापकता अधिक थी और इनके चमत्कार भी विविध और चकित करने वाले होते थे। अब मनोविनोद के माध्यम और विधाएँ बदल रही है। फलत ये परम्परा गत रूप धीरे धीरे समाप्त हो रहे हैं।

परिधान —

कागडा क्षेत्र के परिधान के बारे में, विशेषत हरिपुर गुलेर के सम्बन्ध में, उसका कहना है कि पुरुष खुले पाजामें पहनते हैं। कदाचित् पजाब में प्रचलित सलवार की किस्म के होते होगे। सन् १७५० के पश्चात् समस्त पजाब, काश्मीर और कागडा क्षेत्र पर अफगानो का राज्य हो गया। अफगान लोग खुली सलवार पहनते थे। इस प्रकार की अफगान सलवार का पहनावा पजाब में स्त्री और पुरुष दोनो का था। यह परिधान पाकिस्तान में अभी भी है, परन्तु भारतीय पजाब में यह अब समाप्त प्राय हो गया है। सम्भवत तब कागडा क्षेत्र मे भी ऐसी सलवार पहनने का रिवाज चला हो। थैलेदार पाजामा के साथ पुरुष काली पगडी धारण करते थे। वे प्राय मूछ दाढी रखते थे। काली दाढी पुरुष का अलकरण माना जाता था। स्त्रियाँ प्राय नीले रग की घघरिया जिनका बोर्डर प्राय लाल होता था, पहनती थी। दुपट्टा गुलाबी रग का होता था जिसको सिर स पीठ

की ओर स्त्रिया ओढ़ती थी, ह्यूगल के विवरण के अनुसार आम स्त्रियाँ घूँघट नही रखती थीं, खुले मुह अपने काम मे व्यस्त रहती थी, व्यापारिक मार्गों पर प्रत्येक पडाव पर मुसाफिरों के ठहरने की अच्छी व्यवस्था रहती थी। इन पडावो को हट्टी कहते थे, ठहरने के लिये साफ-सुथरे कमरे या खुले बरामदे होते थे। फर्श पर चटाइयाँ बिछी होती थी। खाद्य सामग्री के अलावा बर्तन-भाण्डे और लकडी भी इन दुकानों पर मिल जाती थी, यात्री स्वय अपना भोजन पकाते और खाने के उपरान्त अपनी यात्रा पर चल पडते। रात्रि के समय वहीं सो जाते। इन हट्टियो के सामने नाना प्रकार के फूलो की क्यारियाँ होती थी, इनके आगन और आस-पास सफाई का विशेष ध्यान रखा जाता था।

नर्तकियाँ :—

ह्यूगल के विवरण के अनुसार नर्तकिया मन्दिरो के अतिरिक्त सभी केन्द्रों और नगरो मे पाई जाती थी। इनको 'कचनी' भी कहते थे, लेकिन उसका कहना है कि यह नाम शिष्टाचार के अनुरूप नही है, 'कचनी' से अधिक उपयुक्त नाम 'नाचने वाली' या नर्तकी है। सारे देश मे उन पर सरकारी अधिकारियो की नजर रहती है—वे उनका शोषण करते हैं, उनकी आज्ञा के बिना वे कही प्रदर्शन नही कर सकती थी और जो धन ये कमाती थी उसमे इन पुलिस अधिकारियो का हिस्सा भी होता था। उनका जीवन वस्तुत नारकीय जीवन था। उस युग में छोटे-बड़े सभी राज दरबारो मे नर्तकियां होती थी। सायकाल के समय वे अपने नृत्य और सगीत से राजा और दरबारियो का मनोविनोद करती थी।

पगड़ी उतारना :—

जम्मू और राजौरी के मध्य वेथियान नामक स्थान पर चार्लस ह्यूगल का दल रास्ते से भटक गया। वहा एक जमीदार दो मजदूरो के साथ अपने खेत मे काम कर रहा था। ह्यूगल के साथियो ने उससे ठीक रास्ता पूछा तो वह बताने वाला ही था कि उनमें से एक ने कहा कि जल्दी बताओ, हमें देरी हो रही है, इस पर उसने बताने से इनकार कर दिया। उस जमाने में शायद किसी को अपमानित करने का यह विधान था कि उसकी पगडी उतार देते थे—इस आधार पर अब भी मुहावरे की भाषा मे पगडी उतारना, अपमान के लिये प्रयुक्त होता है, दल में से एक व्यक्ति ने उसकी पगडी उतार कर अपने कब्जे में ले ली। परिणाम यह हुआ कि उनकी आपस में हाथापाई हो गई। उसके साथ काम करने वाले मजदूरों में से एक ने ह्यूगल के मुन्शी मिर्जा की छडी छीन ली। इस छडी का ऊपरी भाग चान्दी के पतरे से मढ़ा हुआ था और दूसरे मजदूर ने पगडी अपने अधिकार में ले ली। इतने मे गाव का कोतवाल और अन्य लोग भी वहाँ पहुँच गये और मामला सुलह सफाई में समाप्त हो गया। ऐसी ही और घटना उसके साथ आगे जाकर हुई, पर

जिसकी पगड़ी उन्होंने छीन ली थी, उसने यह कह कर सन्तोष कर लिया कि मेरे पास और पगड़ी है और पगड़ी को छुड़ाने का प्रयास नहीं किया। ऐसा प्रतीत होता है कि उस अराजकता के युग मे दुर्बलों के प्रति ऐसा व्यवहार होता था, आक्रोश प्रकट करने के लिये पगड़ी छीनने का आम रिवाज था।

परवाना या पासपोर्ट :—

ह्यूगल के पास काश्मीर और पंजाब मे यात्रा करने के लिये महाराजा रणजीतसिंह का 'परवाना' अधिकार-पत्र था। उसका कहना है कि भारतवर्ष मे शाही 'परवाना' योरुप के पासपोर्ट से अधिक महत्वपूर्ण, है, पासपोर्ट से विदेशी उस देश म यात्रा करने का अधिकारी होता है, परन्तु 'परवाना' सभी सुविधाओं, कुली सवारी के साधन घोड़े, खच्चर आदि और भोजन व वास की सुविधाओं का हुकुमनामा है। 'परवाना स्थानीय अधिकारियो को इन सुविधाओं को उपलब्ध कराने का आदेश जैसा होता था। इसके अनुसार परवानाधारी को आधुनिक भाषा मे स्टेट गेस्ट माना जाता था। यह भारत की अतिथि सेवा की परम्परा थी जिसके अनुसार ये सुविधाएं राज्य की ओर से मान्य अतिथि को दी जाती थी शिमला क्षेत्र के पहाड़ी राज्यों म भी यह प्रथा थी। झेलम नगर का उल्लेख करते हुये ह्यूगल ने लिखा है कि वहा पहुँचने पर नगर के बहुत से व्यापारी नगर के बाहर उसके सम्मुख आये और उन्होंने आग्रह किया कि जितने दिन भी आप का दल यहां रहे, हमारी ओर से आपका सब खाना खर्चा होगा, आप इसको स्वीकार करें।

हरिसिंह नलवा का आतिथ्य —

काश्मीर से वापस आते हुये ह्यूगल गूजरावाला के मार्ग से लाहौर आया था। उस नगर म वह रणजीतसिंह के ख्यातिप्राप्त सेनानी हरिसिंह नलवा का अतिथि रहा था। नलवा ने अपनी विलायत से मगाई हुई घोड़ा गाड़ी ह्यूगल को लेने कुछ दूर तक भेजी। उसने लिखा है कि नलवा जब उसको मिलने आया तो उसने मुझे २५ थालियों मिठाइयों की और एक दर्जन फलों की टोकरियां भेंट में दी, फिर अपने महल के बहुत से कमरे उसने ह्यूगल को दिखाये जिन मे काश्मीर और काबुल के मूल्यवान गालीचे बिछे थे। उसका कहना है कि नलवा अधेड़ उम्र का था। वह स्पष्टवक्ता और अत्यन्त मिलनसार था।

ज्वालामुखी मंदिर मे महासिंह द्वारा छत्र चढ़ाना —

ह्यूगल ने रणजीत सिंह के पिता महासिंह द्वारा ज्वालामुखी मन्दिर को छत्र चढ़ाने का उल्लेख भी किया है। रणजीतसिंह का जन्म २ नवम्बर १७८० को हुआ परन्तु जन्म के थोड़े दिनो बाद रणजीतसिंह को चेचक हो गया, महासिंह ने ऐसे सकट के समय ज्वालामुखी मन्दिर को छत्र चढ़ाने की मनोती की। ह्यूगल का कथन है कि इससे कदाचित रणजीतसिंह की बीमारी तो कट गई, परन्तु उसकी एक आंख जाती रही। ह्यूगल का अधिकांश यात्रा विवरण काश्मीर और पंजाब, [illegible]षत रणजीतसिंह के दरबार के बारे में है। उसका यहां उल्लेख करना [illegible] न होगा।

१५. बेगार प्रथा

राज्य का संरक्षण —

बहुचर्चित कुख्यात बेगार प्रथा पुराने छोटे-बड़े सभी राज्यों में तत्कालीन राजस्व और कर व्यवस्था का एक अनिवार्य अंग था। आज की अर्थ व्यवस्था में लेन-देन का एक मात्र माध्यम नाना प्रकार के सिक्के हैं। परन्तु पुरानी व्यवस्था में इस माध्यम का कम महत्व था। किसान या पशु-पालक अपनी उपज; अन्न, तेल, घी, मदिरा, ऊन चमड़ा आदि सभी पदार्थों का उपयोग लेन देन के लिये करता था। इसके साथ ही अपने शरीर श्रम का भी अपने दायित्वों को निभाने के लिये प्रयोग करता था। राज्य से जो संरक्षण उसको मिलता था, उसके बदले उसको किसी न किसी रूप में कर देना पड़ता था। अराजकता के युग में जैसे कि अठारहवीं सदी में पंजाब और पहाड़ी क्षेत्रों में था, तब इस संरक्षण की बहुत आवश्यकता थी। पंजाब में सिख मिसलों का उदय इसी प्रकार हुआ, कहा जाता है कि सिख सरदार अपने दल बल सहित कई गांवों में जाते और वहां कोई वस्तु छोड़ जाते। गांव वाले तब जितने गांवों में वे घूम आते वे सब उनकी "राखी"— या संरक्षित गांव समझे जाते, ये गांव उनके नवोदित राज्य के भाग बन जाते। पहाड़ी क्षेत्र में भी उस युग में या उससे भी पुराने समय से ऐसी ही स्थिति थी। किसी भी राज्य या ठकुराई की निश्चित व स्थायी सीमा नहीं होती थी। उसकी सीमाएं उसकी शक्ति के अनुसार घटती बढ़ती रहती थीं। पारस्परिक द्वन्द्व और कलह एक निरन्तर चलने वाली क्रिया जैसी थी। अतः समाज के सभी वर्गों और जातियों को राज्य के संरक्षण की सदा जरूरत रहती थी। उस संरक्षण के बदले उसको कर अन्न-धन आदि के रूप में चुकाना पड़ता था। बेगार भी उस कर-व्यवस्था का अभिन्न अंग था। जब बेगार प्रथा समाप्त हुई तो उसके साथ कर का बोझ बढ़ गया। आज तो प्रत्येक व्यक्ति कर के बोझ से दबा है और परोक्ष और अपरोक्ष करों के बोझ को सह रहा है। परन्तु बेगार प्रथा कर-व्यवस्था का अंग होते हुए भी बहु-निन्दित रही; इस प्रथा में अन्याय का तत्व इतना अधिक नहीं था जितनी कि यह प्रथा बदलती हुई सामाजिक परिस्थितियों के विपरीत होने से कुख्यात हुई।

राज्य का "भाग" :—

संरक्षण के अतिरिक्त पुरानी सामाजिक व्यवस्था में यह भी एक मान्य सिद्धान्त था कि राजा या ठाकुर अपने राज्य की समस्त भूमि का स्वामी है। उसकी भूमि पर उसकी प्रजा का इतना ही अधिकार है कि प्रजा उसका उपयोग कर

और उसके बदले उपज और भूमि व जंगल से प्राप्त होने वाले सभी पदार्थों का कुछ भाग राजा या ठाकुर को दे दे। राजा का भूमि के स्वामित्व का सिद्धान्त पुराने सामन्तशाही समाज में सर्वत्र था। पुरानी हिन्दू परम्परा के अनुसार राजा का खेती की उपज में 'भाग' छटा अंश होता था। राज्य के इस छटे हिस्से को भाग या 'वाली' कहते थे। 'वाली' शब्द बहुत प्राचीन है। छटे भाग का अधिकारी होने से राजा को "षट् भागिन्" भी कहते थे। पुराने हिन्दू राज्यों में उपज का छठा भाग ही कर के रूप में खेतीहर लोगों से लिया जाता था। पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के राज्यों के प्रसंग में नालागढ राज्य के सम्बन्ध में ऐसा उल्लेख मिलता है कि खेतीहर की उपज खलियान में छः बराबर भागों में विभक्त की जाती थी। यह बात आधुनिक ढंग की पैमायश और लगान निश्चित करने से पहले की है। छः भागों में से एक भाग बीज के लिये खेतीहर को दे दिया जाता था, एक भाग गांव में प्रथानुसार कामगारों को जैसे लोहार, मोची, जुलाहा आदि, एक भाग राज्य को और तीन शेष भाग जमीदार के अपने लिये होते थे। यह विभाजन रबी की फसल के लिये होता था। खरीफ की फसल के पांच भाग किये जाते थे, एक राज्य के लिये, एक ग्रामीण कारीगरों के लिये, और तीन भाग जमीदार के लिये जिसमें बीज का भाग भी सम्मिलित माना जाता था। राज्य के 'भाग' का निर्धारण सभी राज्यों में एक जैसा नहीं था। कहीं उपज का चौथा भाग लिया जाता था तो कहीं तीसरा।

शरीर श्रम कर के रूप में —

खेती, पशु धन और वनों से प्राप्त उपज के 'भाग' दे देने से ही राज्य के प्रति लोगों का दायित्व समाप्त नहीं हो जाता था। इसकी पूर्ति के लिये शरीर-श्रम राज्य को देना पड़ता था। यह शरीर-श्रम बेठ बेगार कहलाती थी। पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के राज्यों में बेगार दो प्रकार की थी, 'अठवाड़ा बेगार' और दूसरी 'हेला बेगार' थी। अठवाड़ा बेगार निरन्तर चलने वाली निश्चित अवधि की सेवा होती थी। प्रत्येक जमीदार परिवार के एक सदस्य को निश्चित अवधि के लिये राज्य या राजा की सेवा के लिये जाना पड़ता था। यह अवधि राज्य की जन-संख्या अथवा जमीदार परिवारों की संख्या के अनुसार छः महीने से एक महीने तक की होती थी, किसी राज्य में यह अवधि जमीदार की भूमि के अनुपात पर निर्भर करती थी – अधिक भूमिदार को लम्बी अवधि तक बेगार सेवा करनी पड़ती थी और छोटे भूमिदार को कम अवधि तक। "हेला बेगार" आकस्मिक सेवा के रूप में ली जाती थी। राजा के महल का निर्माण, सड़क और पुल का निर्माण, किसी स्थान पर राज्य के उपयोग के लिये गोदाम या अन्य प्रकार का घर बनाना, ये सभी कार्य हेला बेगार से सम्पन्न होते थे। इन कामों के लिये उसी क्षेत्र या अन्य गांवों से प्रत्येक परिवार से एक-एक व्यक्ति इस आकस्मिक सेवा के लिये बुलाया जाता था और कार्य की समाप्ति तक वहां रहना पड़ता था।

दोनों प्रकार की बेगार-सेवा में जमींदार को खाना प्राय अपने पास से खाना पड़ता था। परन्तु यह सार्वभौमिक नियम नहीं था। कहीं-कहीं और कभी-कभी बेगार सेवा करने वालों को राजा या ठाकुर की ओर से पका भोजन या सूखा राशन भी दिया जाता था। राज महल के अन्दर काम करने वाले बेगारी को प्राय पका भोजन मिलता था। पर यह नियम नहीं था। राज महल मे हर्ष और शोक के समय जो सेवा लोगो को करनी पड़ती थी, वह भी हेला बेगार के अन्तर्गत आती थी। प्रथम राजकुमार के जन्म पर विशेष उत्सव मनाया जाता था, उसमें प्रजा को सम्मिलित होना पड़ता था, नाना प्रकार के भेंट चढावे के साथ, जिनको 'फाट' कहते थे, महल मे काम करना पड़ता था। राजा की मृत्यु पर भी इसी प्रकार 'फाट' देनी पड़ती थी और बेगार सेवा करनी पड़ती थी। देवोत्सव के अवसर पर, जैसे बुशेहर राज्य में भीमाकाली के वार्षिक पूजन के समय और कुमारसेन राज्य मे कोटेश्वर महादेव के विशेष पूजन के समय प्रजा को विशेष चढावा और 'फाट' के साथ हेला बेगार म सेवारत रहना पड़ता था।

सन् १८१५ मे गोरखाओ को इस क्षेत्र से खदेड़ने पर अग्रेजो ने इन राज्यों को अधिकारो की जो सनद दी थी उनम एक शर्त यह भी थी कि अग्रेज अधिकारी जब कभी उस राज्य का दौरा करें या वहां से गुजरें तो राज्य को उनको बेगारी देने पड़ेंगे। ऐसे अवसर पर इन अग्रेज अधिकारियों को बेगारियो से ही नही, अपितु राज्य की ओर से उदार भेंट उपहार और उत्तम भोजन आदि से उनको सन्तुष्ट किया जाता था। सन् १८५७ के सैनिक विद्रोह के समय बुशेहर ने अग्रेज अधिकारियो की *उपेक्षा की*, उनको यात्रा के समय बेगारी और अन्य सुविधाएँ नही दीं। अत शिमला क्षेत्र का पोलिटिकल एजेण्ट बुशेहर के राजा को दबाने के लिये सैनिक टुकड़ी रामपुर भेजना चाहता था, परन्तु जतोग छावनी मे गोरखा सिपाहियो के विद्रोह के कारण सैनिक उपलब्ध नही थे। इस विप्लव के शान्त होने पर राजनैतिक अधिकारी लॉर्ड ने वाइसराय को बुशेहर के राजा शमशेरसिंह को पदच्युत करके राज्य को अपने सरक्षण मे लेने की सिफारिश की थी, परन्तु तत्कालीन वाइसराय लॉर्ड लॉरेंस ने यह उचित न समझा। फलत बुशेहर के विरुद्ध कुछ नही किया गया। अग्रेजो ने वास्तव मे बेगार प्रथा को अपने साम्राज्यवादी स्वार्थो के लिये प्रोत्साहित ही नही बल्कि उसका दुरुपयोग भी किया। अग्रेज अधिकारियो की सेवा के लिये ब्रिटिश इलाके में भी लोगो को बेगार मे घसीटा जाता था, उनके तम्बू छोलदारियों और अन्य साज समान को ढोने के लिये ग्रामीण लोगों को बेगार करनी पड़ती थी। सन् १९२० के पश्चात महात्मा गाधी के सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन के परिणाम स्वरूप ब्रिटिश इलाके मे भी बेगार के विरुद्ध एक लहर चली और लोगो ने बेगार करने से इनकार किया। विवश होकर अग्रेज अधिकारियों ने बेगार प्रथा का लाभ उठाना छोड़ा और मजदूरी देकर फिर उनका समान एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाया जाने लगा।

अलग अलग राज्यों मे अलग प्रकार की बेगार और कर व्यवस्था थी। यह उचित होगा कि कुछ राज्यो की बेगार और कर व्यवस्था का संक्षेप में उल्लेख किया जायें। पुराने रिवाज के अनुसार बुशैहर राज्य में, आधुनिक ढग की पैमायश से पहले, प्रत्येक जमीदार को छ महीने तक की बेगार करनी पडती थी। परन्तु पैमायश के बाद बेगार की अवधि घटाकर एक महीना कर दी गई, रामपुर मे प्रति दिन २२५८ बेगारी तैनात रहते थे। ६७८ बेगारी फसल के मौके पर राजा के खेतों मे काम करते थे। बडे अहलकारो के घरो और खेतो मे भी बेगारी काम करते थे। राजवश के लोग और उच्च ब्राह्मण बेगार से मुक्त थे। हेला बेगार इसके अतिरिक्त थी। नालागढ राज्य में बेगार की दूसरे प्रकार की व्यवस्था थी। वहाँ जमींदार चमारो को अपने गावो मे बेगार के लिये बसाते थे। अव्वल किस्म की जमीन के छ हल पर एक चमार परिवार बसाया जाता था। दोयम किस्म की जमीन के सात हलो पर इसी प्रकार एक चमार परिवार बेगार के लिये बसाया जाता था। ये चमार परिवार जमीदारो की बेगार करते थे और उसके बदले उनको १०० मन अन्न की उपज पर ४ १/२ मन अनाज दिया जाता था। राज्य इन चमारों से सवा दो रुपया नकद, एक गाय का चमडा और एक रुपया आठ आना एक जोडा जूते की कीमत के रूप मे वार्षिक कर लेता था। दोला और झीवरों से घराट का कर और महीने मे आठ दिन की बेगार-सेवा ली जाती थी। इस प्रथा में समाज के दलित वर्ग का दोहरा शोषण था। जमीदार और राज्य दोनों इनका शोषण करते थे। क्योंथल राज्य मे लोगो पर बेगार का अत्याधिक बोझ था। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्नीसवी सदी के अन्तिम चरण मे इस राज्य में लोगो ने बेगार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। पुराने समय में जुणगा में ३७६ बेगारी हर समय तैनात रहते थे। उनको खाना या मजदूरी कुछ नही दिया जाता था। सन १८६८ में आधुनिक ढग की तहसीलें स्थापित की गईं और बेगार को इस ढग से नियमित किया गया —

(i) राज्य के दूरस्थ परगने, रावी और पुन्नर निवासियो को राज्य की राजधानी जुणगा में १२४ मन लकडी फाल्गुन मास में जुटानी पडती थी।

(ii) फागू तहसील के निवासियो को फागू और मतियाना चौकियो पर बारी बारी से बेगार के लिये हाजिर होना पडता था। इसके अतिरिक्त प्रत्येक परिवार को [illegible] मन लकड़ी जुणगा गोदाम में देनी पडती थी।

(iii) झजोट परगने के प्रत्येक जमीदार परिवार को वर्ष भर में २५ मन घास कुसुमटी और छलीनी गोदामो में देना पडता था।

(iv) सारे राज्य के लोगो को अपने अपने क्षेत्र से पडने वाली सडकों की मरम्मत समय-समय पर करनी पडती थी।

गई। इसके स्थान पर लगान की रकम पर अधिभार लगाया गया; परन्तु आवस्मिक बेगार बीसवीं सदी तक अधिकांश राज्यों में प्रचलित रही। इसका अन्त इन राज्यों और ठकुराइयों के १९४८ में भारत के गण-राज्य में विलय होने पर हुआ।

राज्य के अधिकारियों के द्वारा प्रजा का शोषण :—

बिलासपुर राज्य में पुराने जमाने में फसल का मूल्यांकन करने के लिये सयोई नाम का पदाधिकारी मोहर्रिर और चपरासी के साथ प्रत्येक गाव में जाता और आने वाली फसल का अनुमान लगाता। इस अवसर पर प्रत्येक जमींदार उनको दो आना देता जिसको ये दोनों आपस में बाँट लेते। चपरासी को कई गांवों में जाने के बाद दो रुपये मासिक के मिलते। फसल एकत्र होने पर सयोई, मुहर्रिर और कई चपड़ासी गांव में जाकर सरकारी "भाग" को एकत्र करके कोठी वाले को सौंपते। कोठीवाला सरकारी गोदाम का अधीक्षक होता था। गाव वालों को इन सब की सेवा-सुश्रुषा करनी पड़ती। कोठीदार को प्रत्येक जमींदार से एक पथा अन्न मिलता था। ऐसे ही अन्य अधिकारियों को भी सन्तुष्ट करना पड़ता था। कुमारसेन राज्य में मुसत्यार, (गांव का नम्बरदार) पलसार, ममनेहर और ध्रदेहर पुरातन राज्यकर्मचारी थे। इनका काम विभिन्न स्तरों पर राज्य का कर, नकद और जिन्स के रूप में लोगों से वसूल करना था। सरकारी कर के साथ अपनी मजदूरी भी मन चाहे ढंग से ये लोगों से वसूल करते थे। पलसार सबसे महत्वपूर्ण अधिकारी होता था। प्रत्येक परगने में एक पलसार नियुक्त किया जाता था। यह अधिकारी परगने का मजिस्ट्रेट, जज और माल अफसर होता था। ये अधिकारी प्रत्येक जमींदार से एक रुपया प्राप्त करते थे। इसके अलावा मुकदमे की डिगरी के मूल्य में भी इनका हिस्सा होता था। राज्य की ओर से ११ मन अनाज और सारे वर्ष के लिये एक बेगारी इन को दिया जाता था। तीस-चालीस व्यक्तियों के दल-बल के साथ पलसार परगने का दौरा करता। ये सभी लोगों का मनचाहे ढंग से शोषण करते। पलसार के अधिकार व्यापक थे। ये लोगों को कई तरह से आतङ्कित कर सकते थे। इन अधिकारियों के शोषण और अत्याचारों के कारण राज्य में कई बार विद्रोह भी हुए। सन् १८८३ में राज्य में नये ढंग की पैमायश की गई और पुराने अधिकारियों के स्थान पर नये कर्मचारी नियुक्त किये गये।

बुशैहर के टिका रघुनाथ सिंह ने मियां दुर्गासिंह के साथ मिलकर सन् १८८३ में जमीन की पैमायश की। इस पैमायश की रिपोर्ट में जमींदारों के ऋण में डूबे रहने का उल्लेख है, स्वयं राज्य जमींदारों को कर्जा देता था और प्रचलित प्रथा के अनुसार २५% ब्याज उनसे वसूल करता था। राज्य के अलावा सरकारी अधिकारी और कर्मचारी भी लोगों को उधार देते थे और उनसे ऊंची दर का ब्याज लेते थे। रामपुर के सभी दुकानदार लेन-देन का कारोबार करते थे। ये बनिये पटियाला, होशियारपुर अम्बाला और कांगड़ा के थे। दीवाली पर

ये ऋण-दाता अपने हिसाब को बन्द करते। जिन आसामियों से ब्याज की रकम नहीं मिलती थी, उनके मूल धन में ब्याज जोड दिया जाता था। इस प्रकार चक्रवृद्धि ब्याज कर्जदारों से वसूल होता था। ऋण देते हुये साहूकार 1% वैसे ही कर्ज लेने वाले से वसूल करते थे। इसको "गाठ खुलाई" नाम दिया जाता था। इस ऋण-प्रथा से कई जमीदार नष्ट हो गये; प्रतिवर्ष उनका कर्जा बढता गया। अन्त में अपनी चल और अचल सम्पत्ति को साहूकार के हवाले कर उनको अपना घर और गाव तक छोड़ना पड़ा। फसल के मौके पर ब्याज की देनदारी मे सारी फसल साहूकार के घर पहुँच जाती। बेचारे जमीदार को अगले वर्ष के निर्वाह के लिये फिर कर्ज लेना पड़ता। यह क्रम कई बार एक पुश्त के बाद दूसरी पुश्त तक भी चलता रहता था, समय के साथ ऋण भी वृद्धि पर रहता। फिर साहूकार के गुमश्ते सात-आठ के दल मे ब्याज और कर्जे की वसूली पर जाते। जमीदार को उनकी आव भगत तो करनी ही पडती, साथ मे उनकी मुट्ठी मे भी कुछ न कुछ रखना पड़ता। कर्जदार का शोषण अबाध गति से नाना रूपो मे होता रहता था। सन् १८६० मे पोलिटिकल एजेन्ट बारनेस् ने एक आदेश के द्वारा १२ वर्ष से पुराने ऋण की वसूली पर प्रतिबन्ध लगाया, परन्तु राज्य के सिवाय किसी ने भी पालन नहीं किया। मुख्य ऋण दाता तो राज्य के वजीर और बड़े एहलकार ही थे; वे इन आदेशों की सर्वथा उपेक्षा कर देते।

शिवालिक क्षेत्र मे एक छोटा-सा राज्य था, बेजा नाम का। इसके शासक दो-तीन पुश्त से लेन-देन का व्यवसाय करते थे। उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध म ठाकुर प्रतापचन्द्र और उसके बाद उदयचन्द्र आस-पास के राज्य के निवासियो को कर्जे पर रुपया देते और २५% ब्याज दर से चक्रवृद्धि ब्याज वसूल करते। कुठाड, महलोग, कुनिहार और पटियाला राज्य के जमीदार इन ठाकुरो के ऋणी थे। उदयचन्द के मरने पर लगभग एक लाख रुपये पुराने ऋण के लोगों पर थे। कई जमीदारो की जमीन इनके पास रहन थी। उस जमाने मे रुपये के लेन-देन का व्यवसाय प्रायः सम्पन्न लोग करते थे। इनमे छोटे-छोटे ठाकुर भी सम्मिलित थे; गरीबों के शोषण मे ये प्रथम श्रेणी में आते थे।

तोल और माप के माप-दण्ड तक लोगोंको ठगने के लिये दुकानदारो ने बनाये हुये थे। बुशैहर की राजधानी रामपुर में दुकानदार बेचने और खरीदने के अलग-अलग बट्टे रखते थे। बेचने के लिये चार सेर का बट्टा पांच सेर माना जाता था परन्तु जमीदारो से चीजें खरीदते हुये पांच सेर का बट्टा प्रयोग मे लाया जाता था। इस प्रकार जमीदारो को बेचते हुयें २५% कम तोल दिया जाता था; परन्तु उनसे खरीदते हुए सही तोल का प्रयोग दुकानदार करते थे। राज्य का इन दुकानदारो को न तो भय था और न ही राज्य इस धोखा-धडी मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप करता था। कपड़ा नापने के गज मे भी ऐसा ही अन्तर था। बेचने का

गज १३ गिरह का होता था और जमीदारों से खरीदने का गज १६ गिरह का हो
था। टीका रघुनाथ सिंह की १८९३ की पैमायश रिपोर्ट में इन तथ्यों का उल्ले
है। नालागढ़ राज्य में सरकारी गोदाम के लिये जब अनाज खरीदा जाता था त
एक मन के लिये ४४ सेर लिया जाता था और गोदाम से अन्न देते हुए एक मन के
लिये केवल ३६ सेर दिया, जाता था। यह अन्याय और अनीति राज्य की ओर से
होती थी। ऐसी स्थिति में दूसरे समर्थ शोषकों को कौन रोक सकता था!

१६. शिमला नगर की स्थापना

पहाड़ी स्थानों पर नगरों की स्थापना अंग्रेजी राज की विशिष्ट देन है। वैसे गर्मियां पहाड़ी क्षेत्र में बिताने की प्रथा मुगल बादशाहों ने आरम्भ की थी। वे गर्मियों का समय प्रायः काश्मीर में बिताते थे, वहां उन्होंने अपने आराम के लिये प्रासाद और शालीमार जैसे मनोहर उद्यानों की स्थापना की थी, पर इन सुविधाओं का उपयोग शाही परिवार तक ही सीमित था। जन साधारण इन से कभी आकृष्ट नहीं हुआ। अंग्रेज भी मुगलों की भांति ठण्डे देश के रहने वाले थे। जलवायु की दृष्टि से भारत का मैदानी भाग जहां मुख्यतः उनका साम्राज्य था, कभी उनके अनुकूल नहीं था। भारत के मैदानी भाग की भीषण गर्मी उनको असह्य थी। फिर नाना प्रकार की रोग बीमारी जो प्रायः महामारी के रूप में आती थी, उनके स्वास्थ्य और जीवन के लिये घातक थी। उस जमाने की कब्रगाहों में पाषाण शिलाओं पर उत्कीर्ण लेखों से पता चलता है कि बच्चे अपने बाल्यकाल में और युवा अपने यौवन में ही काल कवलित होते थे। पूरी आयु भोगकर मरने वालों की संख्या प्रायः कम होती थी। गोरखा युद्ध का रण-क्षेत्र पहाड़ी इलाका रहा, पूर्व में नेपाल, कुमाऊं का पर्वतीय क्षेत्र और पश्चिम में शिवालिक की पहाड़ियां। युद्ध भूमि यद्यपि निचली पहाड़ियों में रही, पर तब भी इस अवधि में उनका हिमालय क्षेत्र की शीतल जल वायु से परिचय हुआ। मलौण युद्ध क्षेत्र के निकट स्पाटू, कसौली और शिमला थे और नालापानी के निकट मसूरी की पहाड़ियां थीं। सन् १८१५ में यमुना और सतलुज नदियों का मध्यवर्ती क्षेत्र अंग्रेजों के अधीन हुआ। इन पहाड़ी राज्यों के साथ अंग्रेजों को राजनैतिक सम्बन्ध और सम्पर्क स्थापित करना था। तदर्थ सबसे पहल स्पाटू में केन्द्र स्थापित हुआ। उस समय स्पाटू अरकी, बिलासपुर, कुनिहार आदि राज्यों से अम्बाला, सहारनपुर, रोपड़ आदि नगरों के मार्ग पर प्रमुख पड़ाव था। तब घोड़े खच्चर और ऊंट पर माल आता-जाता था। सभी व्यापारिक मार्गों पर कुछ फासले पर पड़ाव होते थे, जहां पशुओं के लिये घास चारे की व्यवस्था होती थी और राहगीरों के रहने और खाना पकाने की सुविधा होती थी। तब होटलों का रिवाज नहीं था। स्पाटू ऐसा पड़ाव था। कालका नगर तब तक अस्तित्व में नहीं आया था। नेपाल-युद्ध के बाद सन् १८१५ में स्पाटू में सहायक राजनैतिक अधिकारी ले० रौस का कार्यालय स्थापित हुआ। और इसके साथ ही गोरखा सैनिकों की, जो अंग्रेजों की सैनिक सेवा में प्रविष्ट हो गये थे, छावनी भी कायम हुई। पहाड़ी स्थानों पर नगरों की स्थापना का सूत्रपात इस प्रकार स्पाटू से हुआ। सर एडवर्ड बर्क के अनुसार सन् १८१९ में ले० रौस ने ही सबसे पहले

शिमला में एक लकड़ी की बनी और घास-फूस से छाई झोंपड़ी बनाई और वह उसमें रहने लगा। शिमला से दक्षिण-पश्चिम दिशा में भरौली नाम का राज्य था। अंग्रेजों के आने से पहले यह राज्य समाप्त हो गया था। उस लूट मार के युग में अन्य राज्यों ने इसके क्षेत्र पर अधिकार कर लिया था। बलसन राज्य का इसमें प्रमुख हाथ था। भरौली राज्य का कुछ भाग शिमला के निकट अंग्रेजों के अधिकार में था। सम्भवतः इस कारण ले० रास ने यहां अपना घर बनाया हो। यह स्थान स्पाटू की अपेक्षा अधिक शीतल और आकर्षक था।

रौस के बाद मेजर कनेडी इस क्षेत्र का राजनैतिक अधिकारी हुआ। उसने सबसे पहले शिमला में १८२२ में लकड़ी और पत्थर का पक्का मकान बनाया। कनेडी हाउस नाम से यह मकान अभी तक विद्यमान है। इसके बाद कई गोरे सैनिक और असैनिक अधिकारी, विशेषतः लुधियाना और अम्बाला से, यहां मकान बनाकर रहने लगे। यह क्षेत्र पटियाला और क्योंथल राज्यों में स्थित था। यहां बसने के लिये इन राजाओं की स्वीकृति लेनी पड़ती थी। स्वीकृति आसानी से मिल जाती थी। केवल दो प्रतिबन्ध थे, पहला यहां कोई गौ वध नहीं करेगा और दूसरा जमींदारों की अनुमति के बिना कोई पेड़ नहीं काट सकेगा। १८२४ के बाद कई गोरों ने यहां अपने मकान बनाये। और छः वर्षों के अन्दर लगभग तीस मकान यहां बन गये। सन् १८२६ में लॉर्ड एहमर्स्ट ने ग्रीष्मकाल के कुछ महीने शिमला में कनेडी हाउस में बिताये। वह कलकत्ता से चलकर यहां आया था। लॉर्ड एहमर्स्ट का शिमला आना एक प्रकार से इस नगर का भारतवर्ष की ग्रीष्मकालीन राजधानी बनने का श्रीगणेश था।

मुख्य शिमला नगर जाखू की चोटी के नीचे विस्तृत पर्वत-पार्श्व पर बसा है। यह पर्वत-पार्श्व दक्षिण पश्चिमाभिमुख है। फलतः शीतकाल में जब सूर्य दक्षिणायन पर होता है तब यह सारा पर्वत-पार्श्व सुबह से शाम तक सूर्य की किरणों से तपता रहता है। शीतकाल में सारे दिन की धूप वरदान रूप है। अब तो शिमला नगर गहरी घाटियों और सूर्य की किरणों से रहित पर्वत के पृष्ठ भागों तक फैल गया है और जो लोग ऐसे स्थलों पर रहते हैं, वे सूर्य के दर्शन के लिये लालायित रहते हैं, परन्तु मुख्य शिमला नगर में शीतकाल में सूर्य की उष्णता विपुल मात्रा में सुलभ है, नगर की यह स्थिति एक भद्र विशिष्टता है। शिमला नगर बसने से पहले यहां एक साधारण सा गाँव था। यह गाँव उस स्थान पर था जहाँ अब पश्चिमी कमाण्ड का कार्यालय है। रिपन अस्पताल से पश्चिमी कमाण्ड के कार्यालय तक यह गाँव फैला था। सम्भवतः गंज बाजार भी गाँव के क्षेत्र में हो। यह मूल शिमला ग्राम था और इसी क्षेत्र में ग्राम-वासियों के खेत खलियान थे। शेष पर्वत पार्श्व देवदार और बान के घने जंगल से ढका था, जिसमें रीछ और सुअर स्वच्छन्द विचरण करते थे। इस पर्वतीय क्षेत्र की जलवायु अंग्रेजों के लिये एक दैवीय वरदान था। सन् १८१७ में जिरार्ड बन्धु शिमला-जाखू मार्ग से सतलुज

टी के भू-गर्भ सम्बन्धी सर्वेक्षण के लिये कनौर गये थे। ऐलेक्जडर जिराल्ड ने
अगस्त १८१७ को अपनी डायरी मे लिखा था, "हम जाखू टिब्बा के इस ओर
त को रहे। यहा एक फकीर राहगीरो को पानी पिलाता है। जाखू में हनुमान
एक मन्दिर है। यह एक सुहावना स्थान है। यहाँ से दूर तक एक भव्य दृश्य
खाई देता है। शिमला गाँव से जाखू तक का मार्ग ऊबड-खाबड है। यह मार्ग
घने जगल से होता हुआ जाता है।"

परन्तु यह स्मरण रहे कि उत्तरी पर्वतीय क्षेत्र मे जाने का यह आम रास्ता
ही था। तब प्रमुख मार्ग नदियो की घाटी के साथ-साथ जाते थे, जैसे सतलुज
घाटी के साथ बिलासपुर से कनौर तक रास्ता जाता था और उसी प्रकार
ाहन से गिरी नदी के साथ जुब्बल तक मार्ग जाता था। कही-कही पर ऊचे
वतों को लाँघना पडता था। तत्कालीन विवरण से यह भी पता चलता है कि
न् १८१५ मे गोरखा सेना की एक टुकडी जाखू मार्ग से कोटगढ क्षेत्र मे गई थी।
ब कदाचित् अग्रेजों का पहला परिचय इस क्षेत्र से हुआ हो। गोरखा युद्ध के बाद
ग्रेजो ने दो छावनियाँ उत्तरी क्षेत्र म स्थापित की थी। पहली कोटगढ म थी और
दूसरी रावीगढ़ कोटगढ की छावनी १८४२ तक रही और रावीगढ की १८३० तक।
रावीगढ़ का क्षेत्र अग्रेजो न अपन अधिकार म रखा था। उस समय के सामरिक
महत्व की दृष्टि से यह स्थान उपयोगी था और उसी प्रकार कोटगढ क्षेत्र म हाटू
आदि किलो का तत्कालीन रक्षा-नीति के आधार पर अपना महत्व था। इन दोनो
छावनियो का सम्बन्ध स्पाटू केन्द्र से था और यह सम्पर्क शिमला जाखू मार्ग से
होता था।

शिमला और मसूरी जैसे पहाडी स्टेशन रोगी अस्वस्थ और गर्मी से क्लान्त
व्यक्तियो के लिये विश्राम केन्द्र थे। सैनिक और असैनिक कर्मचारी छुट्टियाँ बिताने
प्राय ऐसे केन्द्रो पर जाते। स्वास्थ्य लाभ और विश्राम इन स्टेशनो का मुख्य आकर्षण
था। सन् १८३० म सरकार ने मेजर कनेडी का राजा पटियाला और राणा क्योंथल
से शिमला के आस-पास के क्षेत्रो को प्राप्त करन के लिये बातचीत करने का आदेश
दिया। फलत क्योंथल के राणा से १२ गाँव प्राप्त किय। इनके नाम थे :- पाँजर,
सरएँन, धारमा, फागली, दिलेन, कयार, बमनोई, पगावग, धार, कनलोग, खलीनी
और विलीयान। इन गाँवों के बदले क्योंथल को राँवीगढ का परगना दिया गया।
जो गाँव क्योंथल ने दिय उनका लगान ६३७ रुपये था और राँवी परगने से १३००
रुपये की आय थी। राँवी क्षेत्र अग्रेजो ने छावनी के लिये १८१५ म अपने पास
रखा था। इसके अतिरिक्त पटियाला ने चार गाव जिनके नाम थे, कैथू, बगहोग,
चयोग और अनाडल, अग्रेजों न इन चार गाँवो के बदले तीन गाव जिनके नाम घनोटी,
कालावन और थरोई थे, पटियाला को हस्तान्तरित किए। इसके बाद शिमला का
विकास बहुत द्रुतगति से हुआ। १८३० म शिमला म मकानो की सख्या केवल तीस

थी। उसके दस वर्ष बाद इनकी सख्या सौ हो गई। १८६० मे यह संख्या दो सौ तक पहुँच गई। १८८१ की जनगणना के अनुसार शिमला के मकानो की सख्या ११४१ थी। इसी प्रकार जनसंख्या मे भी बहुत वृद्धि हुई। सन् १८६८ मे जनसंख्या सात हजार थी। तेरह वर्ष बाद १८८१ मे यह बढ़कर बारह हजार से अधिक हो गई।

एक फ्रांसीसी पर्यटक विक्टर जैक्मौंट के पत्र का उद्धरण जो उसने १८३० मे शिमला से लिखा था, अत्यन्त तथ्यपूर्ण और रोचक होगा। जैक्मौंट कुछ दिन तक मेजर कनेडी का अतिथि रहा था। उसके पत्र से अंग्रेजी साम्राज्य के तत्कालीन शासको के विलासमय, अकर्मण्य और उद्दण्ड जीवन का कुछ आभास मिलता है। उसने अपने पत्र मे लिखा "मेजर कनेडी का काम बड़े-बड़े सैनिक अधिकारियो और न्यायाधीशो का स्वागत करना है। वह आस-पास के राजाओं पर जो हिन्दू, तुर्क और तिब्बती हैं, स्वच्छन्द शासन करता है। गलतकाम होने पर यह उनको जेल मे डालता है। उन पर जुर्माना करता है और यहाँ तक कि यदि उसको ठीक लगे तो उनको फासी भी दे सकता है। उसको एक लाख फ्रंक वार्षिक वेतन मिलता है। वह अविवाहित मनमौजी प्रकार का व्यक्ति है। × × × प्रात.काल एक घण्टे तक हम दोनो घुड़सवारी पर जाते हैं और उसके बाद पौष्टिक पदार्थों का नाश्ता करते हैं। तब वह एक घण्टे तक सरकारी काम-काज करता है। फिर सारा दिन गप्पो मे बीतता है। सायंकाल को नये घोडे दरवाजे पर आ जाते हैं और फिर उन सड़को पर निकल जाते हैं जो कनेडी ने स्वयं बनवाई है। × × × सायंकाल को साढे सात बजे रात को भोजन के लिये बैठ जाते हैं और यह क्रम रात के ग्यारह बजे तक चलता है। मुझे याद नही आता कि मैंने पिछले एक सप्ताह से मदिरा के सिवाय कभी पानी पिया हो। × × × ×"

इस पत्र मे राजाओ और तुर्कों को दण्ड और फासी देने की बात नि.सन्देह कनेडी की डीग पर आधारित प्रतीत होती है, सन् १८२८ मे कोटखाई के ठाकुर ने स्वेच्छा से अपनी ठकुराई छोडी थी। उसकी प्रजा अत्याचार के कारण उसके विरुद्ध हो गई थी। यह ठीक है कि कनेडी का प्रभुत्व तीस के लगभग राज्यो पर था; परन्तु अंग्रेजो के साथ इन ठाकुरो का सम्बन्ध उनके साथ किये गये अनुबन्धो पर आधारित था। राजनैतिक अधिकारी को मनमाने ढग से उनके साथ व्यवहार करने का अधिकार नही था। तब तक अंग्रेजो की छत्र-छाया मे आये इन राज्यो को पन्द्रह वर्ष हो चुके थे और आपसी सम्बन्धो और मर्यादाओ की परम्परा बन रही थी।

कालका और कोराली दो साधारण गाव पहाड़ के मूल मे थे। जब स्पाटू, कसौली और शिमला बसने लगे तो अंग्रेजो को कालका मे सैनिक गोदाम बनाने की आवश्यकता पड़ी। उक्त दोनो गाव पटियाला से अंग्रेजो को उपहार रूप मे मिले।

अंग्रेजो ने यहा वसन और दुकानें बनाने के लिये इच्छुक लोगो को नि.शुल्क जमीन दी। अंग्रेजो ने यहा गोला बारूद के गोदाम बनाये और उत्तरी क्षेत्र मे जाने वाले सैनिकों का यहा सामान रखा जाता था। पुराना पैदल का रास्ता कालका से आरम्भ होता था। पहला पडाव नो मील के अन्तर पर कसौली मे था और दूसरा ग्यारह मील पर ककडहट्टी मे था। तीसरा पडाव ग्यारह मील पर सैरी मे था। अन्तिम पडाव दस मील पर शिमला था। इस प्रकार कालका से शिमला तक ४१ मील का सफर था। यह सफर घोडे, खच्चर और झम्पाण पर या पैदल तय होता था। घोडो पर यह यात्रा आठ घण्टे मे पूरी हो जाती थी। तब कालका में घोडो के ठेकेदार होते थे। इनके प्रत्येक पडाव पर घोडे रहते थे जहा सवार घोडो को बदलते थे और सुविधापूर्वक थोडे समय मे सफर पूरा हो जाता था। सामान घोडे, खच्चर और कुलियो पर शिमला पहुचता था। स्त्रियो, बच्चो और बूढो के लिये झम्पाण और डण्डी की सवारी होती थी। झम्पाण कुर्सी जैसा बैठने का आसन होता था। दो लम्बे दण्डो के साथ यह जकडा होता था और इसको चार आदमी उठाते थे। धूप और वर्षा से बचाव के लिये इसके ऊपर मोटा कपडा लगा होता था। शिमला मे बीसवी सदी के प्रथम चरण मे इस प्रकार के वाहन का प्रयोग स्त्रियो, बच्चों, और बूढो के लिये होता था। १८७० के आस-पास वर्तमान कालका—शिमला मार्ग बन कर तैयार हो गया। यह पुराने पैदल मार्ग की अपेक्षा १७ मील लम्बा है। इस पर आरम्भ से ही बैलगाडी, एक्का, तागा आदि पहियों वाले वाहन चल सकते थे। सन् १८७४ से कालका-शिमला के बीच आना-जाना तागे से होने लगा और सामान के लिये बैलगाडी का प्रयोग आरम्भ हुआ। तागा आठ घण्टे मे कालका से शिमला पहुच जाता था। उन्नीसवी सदी के अन्तिम वर्षों म कालका शिमला रेल मार्ग का निर्माण आरम्भ हुआ और ९ नवम्बर १९०३ को पहली सवारी रेलगाडी कालका से शिमला पहुची। उस समय के मूल्यों के अनुसार इस रेल मार्ग के निर्माण पर १७१ लाख रुपये खर्च आया था। हिन्दोस्तान-तिब्बत राजमार्ग १८५० म बनना आरम्भ हुआ था, सन् १८८८ तक चीनी गाव से आगे करिण खड्ड तक बन चुका था और सदी के अन्त तक शिप्कीला तक पूरा हो गया था। १८५० से पहले मसूरी और शिमला के मध्य आना-जाना जुब्बल ल्यूणी और चकरोता मार्ग से होता था। रेल मार्ग बनने पर मैदानी मार्ग से आना-जाना आरम्भ हुआ। १८७० तक भी शिमला की सडको की स्थिति सन्तोषप्रद नही थी। आधुनिक माल रोड तब इतना तग था कि दो घुडसवार आमने-सामन कठिनाई से आर-पार होते थे। शिमला का अधिकाश पर्वतीय पार्श्व घने जगलो से ढका था। लोअर बाजार और अपर बाजार का विकास हो गया था, परन्तु तब तक ऊपर का बाजार रिज क्षेत्र म था। रिज के दोनो ओर लकड बाजार तक दुकानें थी जो अधिकाश अंग्रेज व्यापारियो की थी। सन् १८७५ मे हेमिल्टन एण्ड वेस्ट नाम के

व्यापारी की दुकान में आग लग गई। फलत सारी अपर बाजार जल कर राख हो गया। इसके बाद म्यूनिस्पल कमेटी ने इस स्थान पर दुकानें बनाने की आज्ञा नही दी। दुकानदारो को अन्यत्र स्थान उपलब्ध हो गये। उस अग्नि-काण्ड के बाद ही जमीन को समतल किया गया और वर्तमान रिज मैदान का पूर्व रूप बनना आरम्भ हुआ। १८७५ के बाद ही टाउन हॉल बना और माल रोड रिक्शा चलाने योग्य बन सका, झम्पाण और डण्डी के स्थान पर रिक्शा अधिक प्रचलित और लोक-प्रिय होने लगा। फलत मुख्य सडक से मकानो तक के मार्ग भी रिक्शा योग्य बनने लगे। सन् १८८० म और १८९० मे लोअर बाजार म भीषण आग लगी। पुराने पक्की दीवार वाले तीन मंजिले मकान जल कर राख हो गये। शिमला मे काष्ठ निर्मित पुराने मकानो के जलने का क्रम अभी तक चला हुआ है।

सजौली के निकट हिन्दोस्तान-तिब्बत मार्ग पर बनी सुरग भारत मे सबसे प्रथम बनी बताई जाती है यह एक ठोस पहाडी सडक को उत्तर से दक्षिण दिशा को काटती है। सुरग बनने से सडक सीधी दूसरी ओर निकल जाती है। मेजर ब्रिग ने १८५० म इसको बनाना आरम्भ किया था और एक वर्ष के लगभग समय मे यह बनकर तैयार हो गई। इस को बनाने म हजारो कैदियो और दूसरे मजदूरो ने काम किया। यह ५६० फुट लम्बी है। आरम्भ म इसकी चौडाई इतनी ही थी कि एक घुडसवार इसमे से गुजर सकता था। दिन के समय भी इसमे अन्धेरा रहता था। सायकाल को कुछ टिमटिमाती लालटेनें जलादी जाती थी। यह सुरग भारत के जगीलाट लॉर्ड किचनर (१९०२ १९०९) की टाग टूटने की स्मृति से सम्बद्ध है। लॉर्ड किचनर भारत का कमाण्डर इन चीफ था। स्नोडन और वाइल्ड फ्लावर हॉल उसके दो निवास स्थान थे। एक दिन सायकाल को वह घोडे पर शिमला से छराबडा म वाइल्ड फ्लावरहॉल जा रहा था। सुरग के अन्दर जाते हुए सामने की ओर से कोई पहाडी अपने देहाती भेष भूषा मे आ रहा था। सुरग म कुछ अन्धेरा था। घोडा उस व्यक्ति को देख कर बिदक गया और लॉर्ड किचनर नीचे गिर गया। उसकी टाग रकाब म फस गई। किसी तरह टाग तो छूट गई, पर लार्ड किचनर वही गिरा पडा रहा। आधे घटे के बाद कोई अग्रेज रिक्शा पर उधर आया। उसने लॉर्ड किचनर को स्नोडन पहुचाया। उस दुर्घटना के बाद सुरग को चौडा किया गया और १९१३ मे जब शिमला म बिजली आई तो इस सुरग म भी बिजली लगाई गई। उस दुर्घटना के बाद लॉर्ड किचनर की टाग लगभग अर्पग हो गई।

शिमला म्यूनिसिपैलिटी पजाब म सबसे पुरानी कमेटी है। इसकी स्थापना १८५१ मे हुई थी, परन्तु म्यूनिस्पल बोर्ड की स्थापना १८७६ मे हुई। इस कमेटी मे बोलवाला सदा अग्रेजो का ही रहा। शिमला नगर मुख्यत गोरे शासको का नगर था। शिमला का माल रोड तो गोरो की थाती थी। कुछ भारतीय अधिकारियों के अलावा जो प्राय उन्ही की भेषभूषा म रहते थे, साधारण लिबास म रहने वाले

तीयो के लिये शिमला का माल रोड वर्जित स्थान था। रंग-भेद और शासक शासित वर्ग के अन्तर का स्थूल प्रदर्शन शिमला म दिखाई देता था। सन् १९२० बाद भारतीयो के प्रति अंग्रेजो की रंग-भेद जन्य घृणा का प्रकट प्रदर्शन गांधी जी असहयोग आन्दोलन के कारण कुछ कम होने लगा। परन्तु तब भी शिमला का ल रोड अंग्रेजो के राज के अन्तिम दिन तक उनकी अपनी बपौती जैसा रहा।

आरम्भ मे शिमला में बसने और आने वाले अंग्रेज मैदानो की गर्मी से सन्तप्त, गी, धनिक, छुट्टी बिताने वाले सैनिक और असैनिक कर्मचारी व अपग लोग होते । एक समृद्ध साम्राज्य के कर्मचारी होने से धन की तो इनको कोई कमी नही ; बल्कि उस धन को खर्चने के आज जैसे साधन तब नही थे। शराब पीना और जुआ खेलना इनके मनोविनोद के मुख्य साधन थे। जब शिमला साम्राज्य की ग्रीष्मकालीन राजधानी बन गया और यहा जीवन की सुख-सुविधाओ की अच्छी व्यवस्था हो गई तो छुट्टियां बिताने और स्वास्थ्य लाभ के लिये अधिक गोरे यहां आने लगे। एडवर्ड बक का कथन है कि तब शिमला के समाज म दो प्रमुख वर्ग थे, पहला वह वर्ग जो साम्राज्य के काम सम्भाले थे और दूसरा गोरो का वह वर्ग था जो निठल्ले थे और शिमला केवल इसलिये आते थे कि वे विनोद पूर्ण और विलासिता [illegible] जीवन बिता सकें। इस वर्ग म गोरे अधिकारियो की पत्नियां व लडकियां भी थी जिनका काम बाहर से आय गोरो के साथ नृत्य और अठखेलियां करना था। इनका चित्रण किपलिङ्ग के लेखो म विस्तृत रूप से मिलता है। यह तो निर्विवाद बात है कि उस जमाने के गोरो का नैतिक स्तर अश्लीलता पूर्ण होता था। अधिकांश सैनिक और असैनिक कर्मचारी छोटी आयु म ही कम्पनी की सेवा म प्रविष्ट हो जाते थे। जो आयु उनकी शिक्षा-दीक्षा होनी थी, उसम वे साम्राज्य तन्त्र के अग बन जाते थे। उन अपरिपक्व नवयुवको को शासन का चस्का लग जाता था। वे अपने अधीनस्थ भारतीयो को मारने-पीटने और गाली देने और अपमानित करने मे रस लेते थे या आपस मे ही [illegible] युद्ध करते थे। गोरे समाज का जो निम्न स्तर और असस्कृत वर्ग था, वह भारत के भोले भाले लोगो का शासक बना हुआ था। आरम्भ मे शिमला के गोरे समाज का आपसी व्यवहार भी अश्लीलता पूर्ण होता था, उनके क्लब, नृत्य-गृह छुट्टी के दिन पिकनिक आदि म निर्लज्जता, अश्लीलतापन और आचरण हीनता का बोल बाला होता था। सर एडवर्ड बक शिमला के क्लब और सामाजिक जीवन का उल्लेख करते हुये लिखता है कि जब उच्च वर्ग के भारतीय गोरो के सामाजिक जीवन म सम्मिलित होने लगे तो एक नवीन शालीनता उसम आने लगी। बिहार का लॉर्ड सिन्हा और सर अली इमाम वाइसराय की कार्यकारिणी के सदस्य बने। इनके परिवार के सदस्य अंग्रेजों के सामाजिक जीवन मे प्रविष्ट होने लगे। इनके ध्यान से अभद्रता कम होने लगी और शालीनता बढ़ने लगी।

उन्नीसवी सदी के शिमला के माध्यम से आज के शिमला को पहचानना कठिन है। अब शिमला जतोग से मशोबरा तक लगभग पन्द्रह मील पर फैला है। कुछ लोग शिमला की वर्तमान अवस्था, इसकी गन्दगी, भीड़-भाड़, सडको, नालियो आदि की दयनीय अवस्था पर आसू बहाते हैं। पर वे भूल जाते हैं कि साम्राज्यवादी सत्ता ने मुट्ठी भर गोरो के आराम और सुख सुविधा के लिये यह नगर बनाया था। उन सुविधाओ का उस अनुपात से विस्तार नही हुआ जिस गति से इसका फैलाव हुआ है। स्वतत्रता के बाद अभी इस नगर का जैसा कि अन्य नगरो का है, सक्रमण काल है। धीरे धीरे पुराने धुधले, जीर्ण-शीर्ण मकानो के स्थान पर नये भवन बन रहे हैं और नगर की छटा निखर रही है। दूर किसी ऊचे स्थान से मुख्य शिमला नगर को देखकर किसका मन मत्र-मुग्ध नही होता ? कुछ पुराने मकान नवनिर्माण के मध्य खटकते हैं। पर समय के साथ इनका भी जीर्णोद्धार होगा। पुराने वैभव का मिथ्या गुण-गान करना निराशावादी दृष्टिकोण है।

१७. पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में सती-प्रथा

मध्यकालीन भारत में सती की अमानवीय प्रथा काश्मीर से कन्या कुमारी तक व्यापक रूप से फैली थी जहां राजाओं, महाराजाओं और सामन्तों की चिता पर सकड़ों की संख्या में रानियां और दासियां सती होती थीं वहाँ कुलीन ब्राह्मणों और क्षत्रियों की चिता पर जलने वाली स्त्रियों की संख्या कुछ कम नहीं होती थी। मध्यकालीन विजय नगर राज्य के रनिवास, हरम में सैकड़ों भारतीय और विदेशी सुन्दरियां होती थीं। सम्राट के मरने पर इन सुन्दरियों में से सैकड़ों को उसकी विशाल चिता पर जलना पड़ता था या उनको जलाया जाता था। लगभग ऐसी स्थिति अन्य हिंदू राज्यों में भी थी। अकबर के ख्याति प्राप्त मनसबदार राजा मानसिंह की सन् १६१४ में धुर दक्षिण में मृत्यु होने पर उसकी चिता पर ६० रानियां और दासियां सती हुई थी, हालांकि उसके स्वामी अकबर ने कुछ दशक पहले शाही फरमान से इस जघन्य कृत्य को रोकने का प्रयत्न किया था। इस फरमान के फलस्वरूप राज्य भय से औरंगजेब के समय तक जन साधारण में इस प्रथा पर अंकुश रहा, परन्तु मुगल सत्ता के ह्रास होने पर अठारहवीं सदी में इस प्रथा ने उग्ररूप धारण किया। रोती, चिल्लाती और बिलखती स्त्रियों को पशु बल से मृत पति की चिता पर धकेला जाता था। तब धर्मान्ध हिन्दू समाज की समवेदनशीलता इतनी कुंठित हो चुकी थी कि इन निरीह विधवाओं के प्रति कोई सामाजिक सहानुभूति नहीं थी। फलतः चिता की लपटों के सिवाय इनको अन्यत्र कहीं आश्रय नहीं था।

करेवा प्रथा —

पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में इस प्रथा का इतना भयावह रूप प्रतीत नहीं होता है। इस क्षेत्र में यह प्रथा प्रधानतः राजवंश, सामन्त वर्ग और सम्भ्रान्त परिवारों तक ही सीमित थी। ऐसा प्रतीत होता है कि आम जनता में यह प्रथा प्रचलित नहीं थी। यहाँ विधवा विवाह की बहुत पुरानी प्रथा थी और इसको बुरा नहीं समझा जाता था। विधवा स्त्री अपने मृत पति के भाइयों में से किसी को भी वरण कर सकती थी या किसी अन्य पुरुष के वरण करने का भी उसको अधिकार था। ऐसी स्थिति में नये पति को परिवार को दस्तूर' के अनुसार 'रीत' का धन देना पड़ता था। यदि उसके परिवार में कोई उत्तराधिकारी न हो तो यह 'दस्तूर' का धन राज्य के कोष में जमा करना पड़ता था। बुशेहर राज्य में इस धन को 'भरवतल' कहते थे और विधवा विवाह की इस प्रथा को 'करेवा' कहते थे। समाज इस प्रकार के सम्बन्ध को निष्पाप और निष्कलङ्क दृष्टि से देखता था। ऐसे समाज

मे विधवा के सती होने का प्रश्न ही नही उठता है। भावावेश मे जन साधारण मे भी सती होने के उदाहरण मिलते हैं, पर ये अपवाद रूप म है।

मण्डी और कुल्लू के सती स्तम्भ—

हिमाचल प्रदेश के मण्डी नगर मे कुछ सती-स्तम्भ थे जिनपर मृत राजाओ के नाम और उनकी चिता पर सती होने वाली रानियो और दासियो की सख्या दी होती थी। जनरल कनिघम ने सब से पहले इन सती स्तम्भो का अध्ययन किया। कनिघम भारतीय पुरातत्व विभाग के सस्थापक निदेशक थे। उन्नसीवी सदी के उत्तरार्द्ध मे उन्होने इन स्तम्भो का अध्ययन किया। स्थानीय बोली म इनको 'बरसेला' कहते हैं। ये स्तम्भ मण्डी सुकेत मार्ग पर स्थित थे। सम्भवत अभी भी कुछ स्तम्भ विद्यमान हो। प्रत्येक राजा के मरने पर एक स्तम्भ स्थापित किया जाता था। यह छ सात फुट ऊची पत्थर की शिला होती थी। उस मे मृत राजा का चित्र राजसी ठाट-बाट के साथ उत्कीर्ण किया जाता था। नीचे की पक्तियो मे राजा के साथ सती होने वाली रानियो, खवासो' और दासियो के चित्र उत्कीर्ण होते थे। राजा का नाम व उसकी निधन तिथि भी लिखी जाती थी। यह तिथि आरम्भ मे लोक काल सम्वत म होती थी। इस सम्वत का प्रयोग पश्चिमी हिमालय के सभी राज्यो म होता था। कल्हण की राज तरगिणी मे भी इस सम्वत का प्रयोग हुआ है, कनिघम को दस स्तम्भ मिले थे। उनमे सर्व प्रथम हरिसेण का था जिसकी मृत्यु सन् १६३७ मे हुई थी और अन्तिम स्तम्भ जालमसेन का था। उसकी निधन तिथि सन् १८३६ थी। इस प्रकार सन् १६३७ से १८३६ तक २०२ वर्षों मे कनिधम की गणना के अनुसार २५२ स्त्रिया मण्डी के दस राजाओ की चिता पर जली। प्रत्येक राजा की चिता पर औसत से २५ स्त्रिया भस्मीभूत हुई। कैप्टन हारकोर्ट ने कुल्लू की पुरानी राजधानी नगर मे स्थित वहा के राजाओ की समाधियों का उल्लेख करते हुये बताया कि कई राजाओ को चिता पर ४० से ५० तक स्त्रिया सती हुई थी। नगर मे भी सती स्तम्भो पर सती होने वाली स्त्रियो के चित्र उकेरे हुये थे।

सन् १६२८ मे पुर्तगाली मिशनरी फादर फ्रैंसिस अजोवेदो श्रीनगर गढ़वाल गया। उसके विवरण के अनुसार वहा के तत्कालीन राजा महीपति शाह के निधन पर ६० स्त्रियाँ उसकी चिता पर जली थी। महीपति शाह की मृत्यु कुमाऊ के राजा त्रिमलचन्द के साथ युद्ध मे हुई बताई जाती है। इस स्त्री सहार की तुलना मे मण्डी और कुल्लू मे होने वाली सतीक्रिया नगण्य प्रतीत होगी। इतनी बडी सख्या मे स्त्रियो को जलाने के लिये कितनी बडी चिता बनाई जाती होगी, इसकी कल्पना ही की जा सकती है, ऐसा विश्वास करना कि ये स्त्रिया स्वेच्छा से चिता मे प्रवेश करती होंगी तर्क-सगत प्रतीत नही होता। नि सन्देह इनको बलपूर्वक आग की लपटो में धकेला जाता होगा। वाद्य-वृदो के गगन भेदी स्वर और लोगो के कोलाहल में इनकी चीख पुकार को कौन सुन सकता होगा?

पर्यटक जी० विजने का वर्णन—

ऐसी एक आखो देखी घटना का वर्णन पर्यटक जी० विजने ने अपने यात्रा विवरण में किया है। वह १८३५ ई० में मण्डी में आया। उसके प्रवास के समय उस नगर में एक स्त्री अपने पति की चिता पर सती हुई। विजने का कहना है कि मृत पति की विधवा उसकी अर्थी के पीछे रंग बिरंगे परिधान पहने खूब सजी धजी लडखडाती हुई चल रही थी। उसकी लडखडाती चाल से प्रतीत होता था कि उसको अफीम या भांग जैसे मादक पदार्थों से चेतना शून्य करने का प्रयत्न किया गया था। अर्थी के साथ चलने वाला जन-समूह जोर जोर से भगवान जगन्नाथ के नाम का उच्चारण कर रहा था। एक ब्राह्मण बाहों से थामे उस स्त्री को सहारा दे रहा था। एक आदमी थाली में अक्षत और सिन्दूर लिये उस अभागिनी के आगे-आगे चल रहा था। वह बार बार थाली को उस स्त्री के सामने करता और वह अपनी दोनों हथेलियों को रगड़कर उस आदमी के कन्धों को थापती। लोग हाथ जोड कर उससे आशीर्वाद ले रहे थे। वह नशे में अर्ध चेतन होने हुये भी अपनी भयावह स्थिति से अनभिज्ञ नहीं थी। उसके मुख पर भय, आत्म नाश और शून्यता के चिन्ह स्पष्ट थे। व्यास नदी के किनारे चिता के ऊपर घास-फूस की एक झोंपडी सी बनाई गई और सबसे पहले उसको इसके अन्दर बिठाया गया और फिर उसके पति का शव रखा गया। उसका सिर उस स्त्री की गोद में रखा गया। उस घास और चिता पर आग लगा दी गई। धुएं और आग की लपटों से उस स्त्री का दम घुट गया होगा। विजेन का कहना है कि ऐसी स्थिति में उस निःसहाय स्त्री की चेतना क्षणिक रही होगा।

मूरकाफ्ट और फ्रेजर का साक्ष्य—

ईस्ट इण्डिया कम्पनी का एक अधिकारी और हिमालय क्षेत्र का प्रसिद्ध पर्यटक विलियम मूरक्रॉफ्ट सन् १८२० में सुजानपुर टीरा में राजा संसारचन्द का सम्मानित अतिथि रहा। वह रोहतांग और बारालाचा के मार्ग से लद्दाख जा रहा था। वर्षा काल के तीन महीने तक वह सुजानपुर टीरा में रहा। उस अवधि में दो स्त्रियों के सती होने का उसने उल्लेख किया है जिनमें से बड़ी की आयु केवल चौदह वर्ष की थी। उन्हीं दिनों कुल्लू की रानी की भी मृत्यु हुई थी। वह कदाचित् विक्रमसिंह की विधवा थी। मूरक्राफ्ट के अनुसार उसका दाह संस्कार कुल्लू के निकट बजोरा में हुआ था और उसकी चिता पर रानी की ग्यारह परिचारिकाएं जल कर सती हुई थी। उसी प्रकार जे० बी० फ्रेजर ने रामपुर बुशैहर में राजा उग्रसिंह के मरने पर कई स्त्रियों और पुरुषों का राजा की चिता पर जलने का उल्लेख किया है। फ्रेजर गोरखा युद्ध के समय जून १८१५ ई० में रामपुर और सराहन तक गया था। उसके अनुसार १८१० में राजा उग्रसिंह के मरने पर २२ व्यक्ति 'सती' हुये थे जिनमें तीन रानियाँ नौ अन्य स्त्रियां और शेष पुरुष थे।

पुरुषो में राजा का प्रथम चोवदार और एक या दो वजीर भी थे। फ्रेजर के रामपुर पहुचने के केवल पाँच वर्ष पहले की यह घटना थी। अत जिन तथ्यो का उसने उल्लेख किया है वे विश्वसनीय प्रतीत होते हैं, उन पर सन्देह करने का कोई आधार नही है।

गोरखा युद्ध के समय मृत गोरखा सरदार और सिपाहियो की पत्नियो के सती होने का उल्लेख उस युद्ध के अग्रेज इतिहासकारो ने किया है। बिलासपुर म मलौण के किले के बाहर गोरखा कमाण्डर भक्ति थापा के युद्ध मे मारे जाने पर उसकी विधवा को चिता पर जलते हुये अग्रेजों ने निकटस्थ स्थान तारागढ से देखा था। उसी प्रकार नाहन के सामने जैथक के किले के बाहर गोरखा मृत सेनाधिकारियो और सिपाहियो की पत्नियो का सती होने का वृतान्त मिलता है। अन्य सब सामन्तो की भान्ति गोरखाओ म भी यह प्रथा प्रचलित थी।

हिमालय क्षेत्र मे प्रचलित सती प्रथा की विचित्र बात यह थी कि राजा की चिता पर न केवल रानियाँ और दासिया ही सती होती थी, वरन् उच्च अधिकारी और अन्य पुरुष कर्मचारी भी आत्म दाह करते थे। कुल्लू की रानी की चिता पर दासियो का सती' होना और उग्रसिंह के साथ पुरुष अधिकारियो का जलना प्रचलित और मान्य सती प्रथा से मेल नहीं खाता है। अन्यत्र भी ऐसा हुआ हो, इसकी खोज की आवश्यकता है। पर इस विचित्र प्रथा को समझने के लिये हम इसके मूल स्रोत तक जाने की आवश्यकता है। यह तो जापान की 'हाराकिरी' जैसा लगता है

सती प्रथा का मूल स्रोत और उसका विवेचन—

इतिहासकारो की यह आम धारणा है कि सती प्रथा मूलत आर्य संस्कृति की देन नही है। यह प्रथा भारत म आनेवाली उन जातियो की देन है जो सन ईस्वी से चार पाच सौ वर्ष पूर्व से तीन चार सौ वर्ष ई० सन के बाद तक शक, कुषाण, पहलव, बैक्ट्रियन हुण आदि नामों से इस देश मे आई और क्षीर नीरे की भान्ति इस देश की संस्कृति मे घुल मिल गईं और अपनी संस्कृति की छाप यहा के जीवन पर प्रतिरोपित की। सती प्रथा इन तत्वो मे से एक है। विभिन्न नामो की ये जातियाँ मूलत. एक ही वृक्ष की अलग अलग शाखाएँ थी, महान शक जाति के ये कबीले कराकोरम और हिन्दुकुश के पार मध्य एशिया म विचरण करने वाले लोग थे। देशकाल से इनके अलग-अलग नाम पडे। इन लोगो म सती प्रथा प्रचलित थी पति की कब्र मे उसकी पत्नि के साथ दास-दासियो को गाडने का रिवाज इन मे प्रचलित था। रूसी पुरातत्व वेत्ताओ ने यूराल पर्वत क्षेत्र मे ऐसी कई कब्रो का पता लगाया है जिनमे शक सामन्तो के जीवन की सभी ऐश्वर्य सामग्री, स्त्रियां, दास दासियां, घोडे मूल्यवान कालीन, वस्त्र, शस्त्र आदि को इन शवों के साथ गाड़ा जाता था। इस प्रथा के मूल म सामन्त वर्ग के प्रभुत्व की भावना निहित

होती है। ऐसी मृतक क्रिया का विधान आम आदमियों के लिये नही था। सामन्त और शासक वर्ग ही इस का अधिकारी था। इस जीवन में तो इस वर्ग को सभी सुख सुविधाओं का अपरिमित अधिकार था ही, मरणोपरान्त भी उनको इसकी आवश्यकता थी—ऐसा विश्वास इस वर्ग को था। अत. उस जीवन के लिये सुख-सुविधाओं का प्रावधान उनकी कब्रो म ऐश्वर्य सामग्री, पत्नियां, दास-दासियां, नृत्य आदि को गाड कर किया जाता था। मिश्र और रोम सागर की पुरातन संस्कृतियों में भी यह सामन्ती रूप विद्यमान था।

राहुल सांकृत्यायन ने अपने मध्य एशिया के इतिहास म इस बात का संकेत दिया है कि रूसी लोगो म, जो इन्ही मध्य एशिया के घूमन्तू जातियों के वंशज थे, इसाई धर्म म दीक्षित होने से पहले नवी सदी तक सती प्रथा प्रचलित थी। शकों की भान्ति मगोलो म भी सामन्ती वर्ग के लिय ऐसी ही मृतक क्रिया का विधान था। तृतीय दलाई लामा सोनम ग्यात्सो ने सन १५७८ ई० में मगोल शासक अलताई खान को अन्य मगोल सरदारो के साथ बौद्ध धर्म म दीक्षित किया था। इस अवसर पर सोनम ग्यात्सो ने इस प्रथा के लिये मगोलो की भर्त्सना की थी। भरी सभा म अभिशाप के रूप में उसने कहा था, 'अतीत मे मगोल सामन्तो के मरने पर उनकी पत्नी, नौकर, घोडे और पशु उनकी चिता पर जला दिये जाते थे। अब आगे से तुम किसी के प्राण नही लोग, यदि ऐसा किया तो तुम्हारा शरीर निष्प्राण हो जायेगा। यदि पशु हत्या करोगे तो भौतिक सम्पत्ति से वंचित हो जाओगे। अब तक तुमने अपने पितर देवता 'अगकू' के नाम पर प्रतिमास कई पशुओ की हत्या की है, अब इस देवता को जला दो और इसके स्थान पर षड्भुज भगवान बुद्ध को दूध, दही, मक्खन फल आदि अर्पित कर पूजा करो।" इस उपदश के फलस्वरूप कई मगोल कबीलों म इस नृशस प्रथा का अन्त हुआ।

सती का सर्वप्रथम उल्लेख—

काश्मीर के इतिहासकार कल्हण के अनुसार सब से पहली सती अशोक के पुत्र जालौक की पत्नि वाकपुष्टा की थी। कल्हण ने राजतरगिणी म इसका उल्लेख इस प्रकार किया है —

वर्ष षट् त्रिंशता याते पत्यौ विहृतो ज्वर ।
तस्यजे ज्वलन ज्वाला नलिन प्रच्छेद तया ॥ ३५६ ॥
सा यत्र शुचि चरित्रा विपन्न पतिमन्वगात् ।
स्थान जनं, तद्वाक पुष्टा तवीत्यद्यापि गद्यते ॥ ६.५७ ॥

छत्तीस वर्ष व्यतीत होने पर पति के निधन पर उसन पति की ज्वाला पर अपने विरह ज्वर का अन्त किया। उस शुचि चरित्र न जहां पति की अनुगमन किया उस स्थान को आज भी वाकपुष्टाटवी कहते हैं। रानि वाकपुष्टा के सती होन की घटना लगभग ई० पूर्व १९६ वर्ष की होगी। अशोक का राज्यारोहण ई० पू० २६९

मे हुआ और उनके शासन का अन्त ई० पू० २३२ मे हुआ माना जाता है। इसके ३६-३७ वर्ष बाद ई० पू० १९६ मे अशोक-पुत्र जालौक का निधन हुआ होगा। जालौक काश्मीर का शासक था।

सिकन्दर के यूनानी इतिहासकारों ने भी कुछ जातियो म सती प्रथा के प्रचलित होने का सकेत दिया है। परन्तु पजाब म तब यह प्रथा नहीं थी। सम्भवत यूनानी इतिहासकारो का सकेत काश्मीर और उत्तर-पश्चिम मे बसे शकों की ओर हो। उनम तब यह रिवाज प्रचलित था।

सती का दूसरा ऐतिहासिक प्रमाण सातवी सदी मे हर्ष के समय का मिलता है। हर्ष की माता यशुमति प्रभाकरवर्धन के लड़ाई मे मारे जाने पर सरस्वती के तट पर सती हुई थी। इसी प्रकार हर्ष की बहिन राज्यश्री विन्ध्य क्षेत्र मे पति के लड़ाई में मारे जाने पर आग मे जल कर सती होने वाली थी कि हर्ष ने उसको बचा लिया था। उसके बाद राजपूत-काल मे तो सती का व्यापक प्रचार हुआ और सती होना प्रतिष्ठा का सूचक बन गया।

हिमालय क्षेत्र की विशेषता :—

हिमालय क्षेत्र के मूल निवासियो के सम्बन्ध में अभी तक कोई एक सर्व-सम्मत धारणा नही है, परन्तु अधिकांश इतिहासकारो की यह धारणा है कि सदियो पहले शक और उनसे सम्बद्ध मध्य एशिया के घूमन्तू कबीले काश्मीर से नेपाल तक फैले और आज अधिकांश जनसख्या उन्ही के वंशधरो की है। देश काल के अन्तर से इनके कई नाम, जातियां और वर्ग हुये। खश या खसिया, कुलिन्द या कनैत, मावी या मवाना, भोन या मोनपा एक ही जाति के नाम-रूपान्तर हैं। सदियो पुराने इतिहास क उलट-फेर, अनेक जातियो के रक्त-सम्मिश्रण, सांस्कृतिक सम्पर्क और निरन्तर जीवन-संघर्ष से इनका स्वरूप इतना बदल गया है कि पुरातन एक-रूपता पहचानना कठिन है। लद्दाख से कुमाऊ क्षेत्र तक पाई जाने वाली कब्रो की खुदाई में एक ही कब्र म कई स्त्रियो और पुरुषो के अस्थि-अवशेष मिलने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सदियो पहले यहाँ भी उक्त प्रकार की शव-क्रिया होती थी। अतः कोई आश्चर्य नही कि हिमालय के कुछ क्षेत्रो मे अपने पुरातन पूर्वजो की प्रथा के अनुरूप कुछ समय पहले तक शासक स्वामी या सामन्त की चिता पर स्त्रियो के साथ पुरुष

सती प्रथा का भारतीय रूप :—

भारतीय आचार्यों, मनीषियो और स्मृतकारों ने इस प्रथा को एक उदात्त रूप प्रदान किया। पुनर्जन्म की पृष्ट भूमि पर इस प्रथा को उन्होंने प्रतिष्ठित किया, पति-पत्नी का जन्म-जन्मान्तर का अटूट सम्बन्ध मानकर सती प्रथा को एक सम्मानित स्थान देने का प्रयत्न किया। महासतियो की सकल्पना करके इस

सम्बन्ध को अत्यन्त पुनीत और सम्वेदनशील बनाया। "पतिसतीनाम् हि परम् दैवतम्" की उन्नत भावना से जन्म-जन्मान्तर के अटूट सम्बन्ध को ऊंची प्रतिष्ठा मिली। इसके विपरीत यदि विधवा कुलटा और कलंकिनी हो जाय तो जन-मानस में यह भावना दृढ विश्वास के रूप में थी कि ऐसी कलंकिनी न केवल अपने आपको वरन् अपने दिवंगत पति और उसके परिवार को नरक गामी बनाती है। तुलसीदास ने भी नरक जाने की धमकी दी थी –"वृद्ध रोग बस घन होना, अन्ध बधिर क्रोधी अति दीना। ऐसे पतिकर किये अपमाना, नारि पाव जमपुर दुख नाना॥" सारे परिवार को नरकगामी बनाने से तो अच्छा यही है कि वह चिता में अपने पति की सहगामिनी बने और कुल मर्यादा को कायम रखे। सती, साध्वी और पति-परायणा स्त्री की पावन कल्पना से जहाँ दाम्पत्य जीवन की पवित्रता बढ़ी जो भारतीय संस्कृति का विशिष्ट देन है, वहा सती की कुत्सित प्रथा के प्रति समाज और स्मृतिकारों का दृष्टिकोण इसके समर्थन में उदार और सहिष्णु हो गया।

ऐसा प्रतीत होता है कि सातवी सदी से यह प्रथा उत्तरोत्तर भारत में फैलने लगी। उत्तर म काश्मीर से लेकर सुदूर दक्षिण तक यह प्रथा कुलीन परिवारों में व्यापक रूप से फैली। ग्यारहवी सदी के प्रथम चरण में अलबरूनी भारत में आया। उसने सती-प्रथा की व्यापकता उल्लेख किया। मार्कोपोलो तेरहवी सदी के अन्तिम वर्षों में दो बार सुदूरदक्षिण म पाण्ड्या राज्य में आया। उसने सती-प्रथा की व्यापकता की ओर संकेत किया। मध्यकालीन भारत में यह प्रथा सर्वत्र फैल गई; विशेष रूप से शास्त्र और स्मृति धर्म-पोषक ,कर्मकाण्डी समाज में। मुगल-सत्ता के चरमोत्कर्ष काल में (अकबर से औरंगजेब के शासनकाल म) इस प्रथा पर कुछ नियन्त्रण रहा। परन्तु तत्पश्चात् सती होना प्रतिष्ठा का विषय बन गया; अन्यथा सिख सम्प्रदाय के अनुयाई महाराज रणजीतसिंह के १८३९ में निधन होने पर छबीस स्त्रियों का उसकी चिता पर सती होना उस सम्प्रदाय की विचार-धारा के अनुरूप प्रतीत नही होता है। अट्ठारहवी सदी में जो मुगल-सत्ता के ह्रास और अंग्रेजी-सत्ता के उदय का सन्धि-काल था, राज्य-भय के क्रम व में इस प्रथा ने अत्यन्त उग्र रूप धारण किया। उन्नीसवी सदी के आरम्भ म दलित स्त्री-समाज के उद्धार के लिये मसीहा के रूप में बंगाल में राजा राममोहनराय का उदय हुआ। जिनकी प्रेरणा और प्रयास से सन् १८२९ में लॉर्ड विलियम बेंटिंक ने इस प्रथा को कानून-विरुद्ध घोषित किया। पर तब भी देसी राज्यों में यह प्रथा पूर्ववत चलती रही। चम्बा राज्य में अन्तिम सती राजा चतरसिंह के मरने पर १८४४ में हुई थी, इसमें दो रानियां और छः दासियां राजा की चिता पर जली थीं। मण्डी में १८३९ में राजा बलबीरसेन के मरने पर अन्तिम सती हुई थी। तब वे राज्य महाराजा रणजीत सिंह के अधीन थे। भारत म अन्तिम ज्ञात-सती सन् १८६१ में उदयपुर मेवाड़ के तत्कालीन महाराणा के निधन पर हुई बताई जाती है।

१८. बुशैहर और पश्चिमी तिब्बत की चिर मैत्री

हिमाचल प्रदेश मे विलय होने वाली शिमला पहाड़ की रियासतो मे बुशैहर क्षेत्र-फल की दृष्टि से सबसे बड़ा राज्य था। अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पर स्थित होने से पुराने समय से ही व्यापारिक और राजनैतिक दृष्टि से इस राज्य का सदा ही बड़ा महत्व रहा है। इसके सीमावर्ती इलाके को पुराने जमाने से 'कनौर' या कनावर कहते थे। यह भी सम्भव है कि इसको 'मौन' भी कहते हो - लद्दाख और इसके आस-पास के इलाके, लाहौल-स्पिति मे यह नाम प्रचलित था। तिब्बती लोग इस क्षेत्र को कुन्नु' कहते थे। पश्चिमी तिब्बत मे यह नाम प्रचलित था। आजकल इसका नाम किन्नौर जिला है। बुशैहर की मूल राजधानी सागला के निकट 'मौने' नाम के गांव मे थी जहाँ अब भी एक पुराना किला विद्यमान है।

जास्कर पर्वतमाला की एक शृंखला कनावर और पश्चिमी तिब्बत के बीच एक प्राकृतिक सीमा-रेखा है। इसके सम्बन्ध मे बुशैहर और पश्चिमी तिब्बत (गूगे) के मध्य कभी कोई विवाद नही रहा। शिपकी का दर्रा पुराना व्यापारिक राज-मार्ग रहा है।

जनश्रुति :—

प्राप्य ऐतिहासिक प्रमाणो से पता चलता है कि बुशैहर और पश्चिमी तिब्बत (गूगे) के अज्ञात अतीत से सम्बन्ध बहुत सौहार्द पूर्ण रहे हैं—राजकीय स्तर पर कभी कोई संघर्ष नहीं रहा जैसा कि पड़ोसी देश मे रहता रहा है। परन्तु अराजकता की स्थिति पुराने समय में सभी जगह रही। पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में उन्नीसवी सदी के प्रथम चरण तक यह स्थिति रही। बुशैहर और पश्चिमी तिब्बत इसके अपवाद नहीं हो सकते हैं।

पुराने समय से किन्नौर के जन-मानस में कुछ ऐतिहासिक घटनाओ की स्मृति कथा, गीत और किंवदन्ति के रूप में प्रचलित है; विशेषतः पश्चिमी तिब्बत के साथ कन्नौर के सम्बन्धो के बारे में जिनसे यह आभास मिलता है कि कनौर और पश्चिमी तिब्बत के पारस्परिक सीमा-क्षेत्र मे लूट-मार होती थी। कभी तिब्बती लुटेरे कनावर मे आते और लूटमार करके भाग जाते थे। कभी मिलने पर कन्नौरे भी पश्चिमी तिब्बत मे जाकर ऐसा ही करते थे। समय अनुसार पारस्परिक लूट-मार का यह क्रम सदियो तक चलता रहा। किंवदन्ति के कि जब ये लुटेरे कन्नौर मे आते तो लोग दूर-दूर तक दिखाई देने वाली पहाड़ की चोटियो पर रात के समय आग जलाते ताकि इलाके में दूर-दूर तक इन लुटेरों के आने की सूचना पहुँच जाय और लोग आत्म-रक्षा और लुटेरों का मुकाबला करने

के लिये तैयार हो जाय। एक ऐसा ऊंचा स्थान वर्षों पहले मुझे भी दिखाया गया। वहाँ एक मकान के भग्नावशेष और ढेर-सारी लकड़ी के कोयले थे। यह स्थान बस्पा और सतलुज घाटी के बीच स्थित हारङ्ग घाटी पर है। यह स्थान लगभग ग्यारह सौ फुट की ऊँचाई पर होगा। परम्परा यह बताती है कि इसके निकटस्थ गांव 'मेबर' के लोग इस आग को प्रज्वलित करते थे। यह स्थान इतना ऊंचा है कि उपरि सतलुज-उपत्यका के दूर-दूर तक के गांव यहाँ से दिखाई देते हैं। सम्भव है कि इस प्रकार से कई और स्थानों पर भी आग जलाई जाती हो।

प्रचलित लोक-परम्परा यह भी बताती है कि एक बार बशहर का राजा केहरी सिंह (१६३९-१६९६) अपने दल-बल के साथ शिप्की के पार तिब्बत में गया हुआ था। वहां उसकी तिब्बत के सेना-पति ग्यालदेन छेवान्ग से मुठभेड़ हुई। इस आकस्मिक मिलन का परिणाम यह हुआ कि दोनों में मित्रता हो गई और दोनों ने यह सङ्कल्प किया कि आगे से वे एक-दूसरे के प्रदेश को नहीं लूटेंगे। एक-दूसरे के क्षेत्र में बिना कर और बन्धनों के उन्मुक्त व्यापार की भी सुविधा होगी। इसमें यह बात भी शामिल थी कि मित्रता का यह संकल्प तब-तक कायम रहेगा जब तक कैलाश पर हिम रहेगा, मानसरोवर में पानी रहेगा और जब-तक काला कौवा सफेद नहीं हो जाता। ऐसा कहा जाता है कि इस घटना के पश्चात् पारस्परिक लूट-मार का पुराना क्रम समाप्त हुआ और मित्रता-पूर्ण सम्बन्ध बढ़े।

भ्रामक धारणा :—

लोगों में यह धारणा है कि उक्त घटना के समय दोनों देशों में एक सन्धि हुई थी जिसमें उपरोक्त बातों का उल्लेख था। तिब्बत ने अपने लम्बे संघर्ष-पूर्ण इतिहास में पड़ोसी देशों के साथ कई सन्धियां कीं। इन में चीन, भारत, नेपाल, भूटान आदि उल्लेखनीय हैं। इन देशों से जो सन्धियां हुईं, वे सभी उपलब्ध हैं। परन्तु बुशहर के साथ हुई तथा-कथित सन्धि का तिब्बत के इतिहास में कोई उल्लेख नहीं। एक सन्देहास्पद अभिलेख सन् १९३३ में डॉ० टूची को नामग्या में मिला था। नामग्या बशहर का अन्तिम गांव है, इस का सम्पादन इटली के ही डॉ० पीटक ने किया। इस अभिलेख की एक प्रति सन् १९०९ में ए० एच० फ्रैंक को नामग्या में मिली थी और एक प्रति उसने किसी व्यक्ति को पूह से पश्चिमी तिब्बत में स्परङ्ग भेजकर वहां के गुपुङ्ग (गवर्नर) से प्राप्त की थी। उसने अपनी पुस्तक Antiquity of Indian Tibet में संग्रहीत अभिलेखों में इस अभिलेख का नामग्या नाम से संकेत किया है; परन्तु उसने इसका सम्पादन नहीं किया और ना ही इसके तथ्यों के बारे में कुछ लिखा। सन् १९४७ में डॉ० एल० पीटक ने इस अभिलेख का सम्पादन भारतीय ऐतिहासिक जरनल Vol XX-III-१ में किया। डॉ० फ्रैंक १९०९ में रामपुर-बुशहर और लाहौल-स्पिती क्षेत्र में भारतीय पुरातत्त्व विभाग की ओर से सर्वेक्षण करने गया था। रामपुर के एक भित्ति-चित्र को देखकर, उसकी [illegible] ग्रन्थ में उसने लिखा :—

तिब्बत के नारीकोरसुम क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। पर लद्दाख इस क्षेत्र के के शासन व्यस्था को ठीक ढग से नही चला रहा था। व्यापारिक दृष्टि से यह प्रदेश महत्वपूर्ण था। ल्हासा-गढ़तोक-लेह-यारकन्द व्यापारिक राज-मार्ग इस क्षेत्र से गुजरता था। इसी प्रकार नारीकोरसुम से शिप्की के मार्ग बुशहर से, नीति-माणा के दर्रे से गढ़वाल के साथ, दार्मा से कुमाऊ के साथ और तकलाकोट के मार्ग से नेपाल के जुमला राज्य के साथ व्यापार होता था। परन्तु यहा अराजकता फैली थी। लूट-मार करने वाले दलो का बोल-बाला था। इस सन्दर्भ मे १८४०-४१ मे पश्चिमी तिब्बत पर जोरावर सिंह के आक्रमण के समय इसी प्रकार व्यापार की क्षति का उल्लेख अप्रासगिक न होगा। उस समय ईस्ट इडिया कम्पनी सरकार ने सिख दरबार को एक विरोध-पत्र भेजा था क्योकि जोरावरसिंह के अभियान से उक्त मार्गों से व्यापार को क्षति पहुच रही थी। ऊन, पशम, अबरक और नमक आदि का विपुल व्यापार इसी क्षेत्र से होता था।

जिस समय की यह घटना है उस समय पचम दलाई लामा नावाङ्गलोजङ्ग ग्यासो (१६१७-८२) कोसोट मगोलो के सरक्षण मे तिब्बत के शासन का पुनर्गठन कर रहा था। शासन दलाई लामा के हाथ मे था, पर प्रभु-सत्ता मगोल सरदार गुसेरी खान के हाथ मे थी। गुसेरीखान ने १६४२ ई० पचम दलाई लामा को तिब्बत का शासक नियुक्त किया। नारी कोरसुम पर आक्रमण का एक और भी कारण था। नारी कोरसुम के निवासी प्रधानतः दलाई लामा की धर्म परम्परा ग्यालुक्पा सम्प्रदाय के अनुयाई थे; परन्तु लद्दाख का राजवश और जनता डुक्पा धर्म-परम्परा को मानने वाले थे। इन दो सम्प्रदायो म आपस मे वैमनस्य था। लद्दाख के डुक्पा राज्याश्रय मे नारी कोरसुम के ग्यालुक्पा लोगों को तग कर रहे थे। अत दलाई लामा का ग्यालुक्पा का धर्माधिष्ठाता के नाते अपने सम्प्रदाय के लोगों की रक्षा करना कर्तव्य बन जाता था। प्रो० पीटक के अनुसार सन् १६८१वें ग्यालदेन छेवङ्ग के सेनापतित्व मे तिब्बत ने पश्चिमी तिब्बत और लद्दाख पर आक्रमण किया। ग्यालदेन छेवङ्ग सैनिक नही था। वह ताशीलम्पो विहार मे एक प्रसिद्ध भिक्षु और आचार्य था। वह बौद्ध धर्म और दर्शन-शास्त्र का प्रकाण्ड पण्डित था। उसकी विद्वता और शास्त्रार्थ करने की योग्यता की उस विशाल विहार मे धाक जमी थी। भिक्षु पद मे दीक्षित होने से युद्ध जैसे हिंसक कार्य म उसकी कदापि रुचि नही थी। परन्तु दलाई लामा के आग्रह पर एव धर्म रक्षा के नाम पर उसको यह कार्य-भार लेना पड़ा। राजवशीय होने से भी ग्यालदेनछेवङ्ग को इस पद के लिये उपयुक्त पात्र समझा गया। वह तिब्बत के तत्कालीन मगोल शासक डलस खान का सगा चचेरा भाई था और उत्तर-पूर्वी प्रदेश कोकोनोर में उसकी विस्तृत जागीर थी। इस अभियान मे ग्यालदेन छेवङ्ग के साथ चुने हुये मगोल सैनिक थे। मानसरोवर प्रदेश मे उसकी केहरीसिंह से मुलाकात हुई और ऐसा प्रतीत होता कि ग्यालदेन छेवङ्ग ने केहरीसिंह से इस अभियान के लिये सहायता मागी। नामग्या अभिलेख मे वर्णित

के अनुसार स्पिति की निचली घाटी जिसको हागरग क्षेत्र भी कहते हैं, बुशहर को मिली। तब तक लाहौल-स्पिति लद्दाख के अधीन थे। परन्तु इस पराजय के बाद कुल्लू के राजा विधिसिंह और बाद में मानसिंह ने सारे लाहौल स्पिति पर अधिकार कर लिया। होचिंसन और एचोसन ने अपने पंजाब के पहाड़ी राज्यों के इतिहास में ग्यालदेन छेवङ्ग की एक फौजी टुकड़ी का लाहौल पर आक्रमण का उल्लेख किया है। इस विवरण के अनुसार इस टुकड़ी ने कोलाङ्ग के किले पर अधिकार कर लिया। जब यह टुकड़ी गोंदला के पास से गुजर रही थी तो ऊपर से एक हिमानी आई और अधिकांश सिपाही उसमें दब कर मर गये। शेष वहां से वापिस चले गये। इस स्थान पर बाद तक उनकी हड्डियों का ढेर दिखाई देता था। ग्यालदेन छेवङ्ग एक विशाल सेना लेकर तिब्बत से चला था। बासगो के किले की घेराबन्दी शीतकाल में चलती रही। यह सम्भव है कि सेना की एक टुकड़ी ने शीतकाल से पहले बारालाचा दर्रे को पार करके शीतकाल में सैनिक लाहौल में लूट-पाट में व्यस्त हो गये हों। अतः गोंदला के निकट बर्फ में दबने की घटना सम्भव हो। लद्दाख की पराजय के बाद कुल्लू के राजाओं ने अवसर का लाभ उठाकर सारे लाहौल-स्पिति पर अपना अधिकार कर लिया और १८४६ में अंग्रेजी राज्य में विलय होने तक यही स्थिति रही।

रोचक बात यह है कि परिस्थितियों का ऐसा संयोग हुआ कि बुशहर को तिब्बतियों के साथ मिलकर मुगलों का मुकाबला करना पड़ा। सम्भवतः तब तक बुशहर की राजधानी सोने (कामरु) में हो और कनौर के दूरस्थ क्षेत्र में यह राज्य सीमित हो। इस कारण मुगल-सत्ता का आतङ्क यहां तक न पहुंचा हो। वैसे औरंगजेब से एक सदी पूर्व अकबर के समय में कांगड़ा और डुग्गर (जम्मू) समुदाय के; वाईस राजकुमार बन्धक के रूप में मुगल-दरबार में रह रहे थे। पर ये राज्य मुख्यतः सिन्ध और व्यास नदी के मध्यवर्ती क्षेत्र के थे। सुदूर सतलुज की उपत्यका का यह सीमावर्ती राज्य मुगलों के आतङ्क से अछूता रहा हो। औरंगजेब के बाद तो यह आतङ्क समाप्त ही हो गया। उपरोक्त पहाड़ी राज्य धीरे-धीरे सभी स्वतन्त्र हो गये। स्वयं लद्दाख के राजवंश ने इस्लाम धर्म को त्याग कर पुनः बौद्ध धर्म में दीक्षा ले ली और महाराजा रणजीत सिंह के उदय तक लगभग एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में रहा।

बुशहर और पश्चिमी तिब्बत —

संक्षेप में नामग्या अभिलेख से मुख्यतः तिब्बत-लद्दाख की लड़ाई, पश्चिमी तिब्बत की राजनैतिक स्थिति और बुशहर व पश्चिमी तिब्बत के सम्बन्धों को समझने में मदद मिलती है। यह अभिलेख किसी के द्वारा लिखी चिट्ठी या प्रतिवेदन की नकल प्रतीत होता है। कालान्तर में इसमें कई प्रकार की अशुद्धियां आ गई, पर

ये भाषा सम्बन्धी हैं; मूल तथ्य अपने पूर्व रूप में ही सुरक्षित हैं। युद्ध की समाप्ति के बाद ग्यालदेन छेवङ्ग नारीकोरसुम क्षेत्र को विधिवत् ल्हासा सरकार को सौंपने गया और उसने अपने निजी सचिव लोबसङ्गपचा को विजित प्रदेश का गवर्नर नियुक्त किया। सम्भव है कि यह लिखित सूचना उसी ने ल्हासा सरकार को भेजी हो जैसा कि इससे स्पष्ट होता है। इस पत्र का आरम्भ पुरानी भारतीय परम्परा के अनुरूप संस्कृत वाक्य से होता है :—

"ओं स्वस्ति श्री। श्रेष्ठ धर्मपालक परम भट्टारक धर्मानुशासित ल्हासा सरकार के कमल चरणों में निवेदन है।··· "

इस आरम्भिक औपचारिक शिष्टाचार के बाद उपरोक्त तथ्यों की चर्चा की गई है। नारीकोरसुम में लेह-सरकार की अव्यवस्था से लेकर ग्यालदेन छेवङ्ग का युद्ध के लिये तिब्बत से प्रयाण, मानसरोवर क्षेत्र में केहरीसिंह से मिलन, चिर मैत्री के सकल्प की घोषणा, लद्दाख पर अभियान, मुगलों का आना, उनको गुप्त रूप से घूस देना और नारीकोरसुम का ल्हासा व बुशैहर के रिकार्ड में दर्ज होना इसके मुख्य वर्णित तथ्य हैं। इस अभिलेख के अन्त में बुशैहर (कुनू) और तिब्बत के पुराने सम्बन्धों का बड़े सौहार्द और भाव पूर्ण ढंग से उल्लेख किया गया है। बुशैहर के राजवंश की सत्य-निष्ठा के लिये भूरि भूरि प्रशंसा की गई है। अन्तिम पैराग्राफ इस प्रकार है :—

'बहुत प्राचीन काल से अब तक बुशैहर की १३ राजवंशीय पीढ़ियां हो गई हैं। बुशैहर का धर्मात्मा राजा सदा ही विश्वास-योग्य रहा है। वह अपने वचन से कभी भी बाल-भर इधर-उधर नहीं हुआ है। यह बहुत पुरानी पुण्यमयी परम्परा है और आज भी जीवित है। हमारी कामना है कि यह इसी प्रकार अक्षुण्ण रहे।"

ग्यालदेन छेवङ्ग और केहरी सिंह ने मानसरोवर क्षेत्र में सौहार्दपूर्ण पुराने सम्बन्धों की मौखिक घोषणा की और पुरानी परम्परा के अनुरूप उन पर आचरण करने का संकल्प दुहराया। यह घटना १६८१ ई० की है। उसके अगले वर्ष पंचम दलाई लामा नावांङ्गलोबजङ्ग ग्यात्सो का निधन हो गया।

मित्रता के आचार-व्यवहार को निभाने के लिए हर तीसरे वर्ष बहुत पुराने समय से बुशैहर और गड़तोक गरपुन (गवर्नर) के बीच मूल्यवान उपहारों का आदान-प्रदान होता था। साम्यवादी चीन का तिब्बत पर अधिकार होने पर यह पुरानी परम्परा समाप्त हुई।

१९. शिमला क्षेत्र के देसी राज्यों में विरोध-प्रदर्शन की प्रथा

रूढ़िगत समाज —

आज के प्रजातान्त्रिक युग में में विरोध-प्रदर्शन के विविध रूप हैं — जलूस, सभाओं का आयोजन, असहयोग, समाचार-पत्र आदि-आदि। विरोध-प्रदर्शन प्रजातान्त्रिक अधिकार माना जाता है। जिसके द्वारा सत्ता के प्रति असहमति या अधिकारियों द्वारा सत्ता के दुरुपयोग व अतिक्रमण के प्रति रोष प्रकट किया जाता है। इसके आधुनिक रूप का श्रीगणेश औद्योगिक क्रान्ति के समय हुआ था। आज तो ये प्रदर्शन नित्य-प्रति आर्थिक और राजनैतिक जीवन के अभिन्न अंग बन गये हैं। सामंतवादी समाज में इस प्रकार से अधिकारों के प्रति जागरण और जागरूकता का प्रायः अभाव था। उस व्यवस्था में व्यक्ति और समाज के विभिन्न वर्गों का शोषण और उत्पीड़न साधारण-सी बात थी। शासक वर्ग स्वेच्छाचारी ढंग से लोगों का दमन करता था। विरोध और असहमति को ऐसे समाज में कोई स्थान नहीं था। रूढ़ियाँ और परम्पराओं से बंधा समाज उन्हीं के निर्देश और अनुशासन पर चलता था। ये रूढ़ियां और परम्पराएं काल की मधुर गति से निर्मित विधि-विधान का रूप धारण कर लेती थी। पर ये परम्पराएं मुख्यतः शासकवर्ग की सुविधा के अनुरूप होती थी। इसके प्रभाव से समाज स्वानुचालित जैसा हो जाता था। ऊंच-नीच का भाव, मान-प्रतिष्ठा के माप-दण्ड, स्वामी भक्ति और राज-भक्ति की भावना और संस्कार समाज की अन्तर्निहित शक्ति के रूप में उसको अनुप्रमाणित करते थे। उस परम्परागत समाज में व्यक्ति की निकृष्ट और दयनीय स्थिति भी उसके भाग्य और पूर्व जन्म-अर्जित कर्मों की परिणिति समझी जाती थी। किसी को दोष देने का प्रश्न नहीं उठता था। ऐसा समाज प्रशान्त जलाशय की भान्ति अविचालित और अपरिवर्तित ब्रह्माण्ड जैसा एक रूपता में स्थिर था। पुरातन समाज सदियों तक अबाध गति से रूढ़िगत अपरिवर्तन शील एकरूपता से चलता रहा। परन्तु जब कभी रूढ़ियों और परम्पराओं के विपरीत कोई परिवर्तन या सुधार हुआ तो समाज ने इसका वाचाल या मूक विरोध किया। परन्तु पहाड़ी समाज में इस विरोध-भावना में आत्म-पीड़न, आत्म-क्लेश का तत्व सदा विद्यमान रहा। हिंसा या पर-पीड़न के तत्व इस विरोध-भावना से सदा दूर रहे। साधु, सन्तों और मनीषियों ने तपस्या, दूसरे शब्दों में शारीरिक कष्ट और क्लेश के द्वारा ईश्वर को प्रसन्न करने, उसकी कृपा को प्राप्त करने की परम्परा को डाला। पुराने जमाने में राज सत्ता के प्रति भी कुछ इसी प्रकार का रुख अपनाया जाता था। अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध प्राय. ऐसा आग्रह व्यक्त किया जाता था जैसा कि इन उदाहरणों और घटनाओं से स्पष्ट होगा :—

डूम —

पुराने पहाड़ी राज्यों में सत्ता के प्रति विरोध-प्रदर्शन का एक विशिष्ट रूप था। जिसको डूम कहते थे। ऐसा प्रदर्शन प्राय कई जगह होता था और यह विफल नहीं रहता था। इस प्रदर्शन में आत्म-पीडन की भावना निहित होती थी। अपने आपको कष्ट और क्लेशों में डाल कर विरोध व्यक्त किया जाता था। जब कभी राज्य कोई ऐसा कर लगाता था जिसको लोग अनुचित समझते थे तो वे अपना रोष प्रकट करने के लिये गाव छोड़ कर पास के जंगल मे चले जाते थे। अपने परिवार और पशुओं को भी साथ ले जाते थे। परिणामत खेती बाड़ी का काम ठप्प पड़ जाता था। खेत बंजर पड जाते थे। डूम-आन्दोलनकारियों को तो इससे कष्ट होता ही था, पर राज्य को भी इससे भारी क्षति होती थी। तब राज्य की आय का मुख्य स्रोत लगान था जो खेती की उपज का चौथा या पाचवा भाग होता था। जब खेती ही न होती तो राज्य की आय कहाँ से होगी ? स्पष्ट है कि ऐसे आन्दोलन से राज्य-सत्ता विचलित हो जाती थी और आन्दोलनकारियों की माग पूरा करने का अविलम्ब प्रयत्न करती थी। डूम आन्दोलन प्रायः व्यवस्थित और शान्तिपूर्वक होता था। राज्य के अधिकारियों को इनके पास जाना पड़ता था। सुलह-समझौता होने पर लोग अपने घरों को वापिस आते और पुन अपने व्यवसाय, खेती-बाड़ी और दूसरे कामों को संभालते। बुशैहर राज्य में सन् १८५९ में डूम आन्दोलन हुआ। इसका मुख्य केन्द्र रोहडू का इलाका था। इस असन्तोष के कई कारण थे। परन्तु मुख्यत यह सन् १८५४ में सपन्न हुई जमीन की पैमायश के विरुद्ध था। नूरपुर निवासी तहसीलदार श्यामलाल ने उक्त समय जमीन का बन्दोबस्त किया और नकदी लगान निश्चित किया। उसके पूर्व जिन्स के रूप म, पैदावार का निश्चित भाग, अन्न, घी, तेल, ऊन, भेड़-बकरी आदि प्राचीन प्रथा के अनुसार राज्य को कर के रूप में देने पड़ते थे। कुछ कुछ इस असन्तोष का कारण तत्कालीन राज्य व्यवस्था से भी था। सन १८३० म राजा महेन्द्रसिंह की मृत्यु हुई। उस समय राज्य का उत्तराधिकारी राजा शमशेर सिंह केवल ११ वर्ष का था। राजा की अल्प वयस्क अवस्था म पहले पवारी का वजीर मनसुखदास व्यवस्थापक रहा और बाद मे श्यामलाल को भी सह-व्यवस्थापक नियुक्त किया गया। परसराम नाम के व्यक्ति को राज्य म अध्यक्ष नियुक्त किया गया। यह व्यवस्था तत्कालीन सुप्रिन्टेंन्डेन्ट बार्न्स के आदेश पर की गई। खानदानी वजीरों का प्रभाव प्राय समाप्त कर दिया गया। इस आन्दोलन के मूल म खानदानी वजीर थ जो खोई हुई सत्ता को पुन. प्राप्त करना चाहते थे। नकदी लगान के विरुद्ध लोगो का सबसे बडा तर्क यह था कि राज्य म सिक्कों का अभाव था। लोगों का विनिमय राज्य के साथ और आपस म जिन्स और अन्य वस्तुओं के माध्यम स होता था।

इस आन्दोलन को समाप्त करने के लिये सुपरिन्टेंन्डेंट को बुशैहर जाना पड़ा था। लोगों ने आन्दोलन समाप्त करने के लिये तीन मार्गें रखी। (१) खानदानी

(२) वजीरो को पुराने दस्तूर के अनुसार सत्ता सौपना। (३) तत्कालीन व्यवस्था को समाप्त करना। लगान की वसूली परम्परागत ढग से जिन्स और वस्तुओ के माध्यम से करना। बारन्स ने तीनो मागें स्वीकार की। तब यह आन्दोलन समाप्त हुआ। जन-श्रुति यह बताती है कि सत्ता के विरुद्ध इस प्रकार के आन्दोलनो की परम्परा बहुत पुरानी थी और पहाडी क्षेत्र म व्यापक रूप से प्रचलित थी।

गट्टो ओम चावल—

शासक या उसके अधिकारियो के अत्याचार और अन्याय के विरुद्ध आक्रोश और विरोध प्रकट करने का एक और भी ढग था। उसको गट्टी या चावल कहते थे। जिन लोगों को या समाज के जिस वर्ग को सत्ता के कारण कोई कष्ट होता था, उनमे से कुछ व्यक्ति मन्दिर अथवा किसी अन्य पवित्र स्थान पर एकत्र होते थे और मिलकर यह सकल्प या प्रतिज्ञा करते थे कि वे अन्यायपूर्ण राजाज्ञा का पालन नही करेंगे या अनुचित कर के नही देंगे अथवा सम्बन्धित अधिकारियो से कोई सम्बन्ध या सरोकार नही रखेंगे जब तक उनकी बात न मानी जाय। ऐसे अवसर पर इस सकल्प के प्रति वचन-बद्ध होने के लिये चावल के दाने बाटे जाते थे। इसके अभाव मे पत्थर के ककड या ऐसी ही कोई अन्य वस्तु सब मे बाटी जाती थी। इसको स्वीकार करने पर सब प्रतिज्ञा बद्ध हो जाते थे। ये लोग सस्कारो से धर्म-भीरु होते थे। अत दृढता से अपनी प्रतिज्ञा का पालन करते थे। जिस सत्ता के विरुद्ध यह प्रतिज्ञा होती थी, प्रथा के अनुसार उसको इनके पास आना पडता था। फलत समझौता प्राय हो ही जाता था। इसके उपरान्त मन्दिर मे भेंट-बलि चढानी पडती थी। दान-पान के बाद शान्ति और सद्भाव पुन स्थापित हो जाता था। इस प्रथा मे त्याग और आत्मपीडन की बात नही थी। पर विरोध प्रकट करने का यह निर्दोष विधान सौ वर्ष पूर्व शिमला क्षेत्र म आम प्रचलित था।

द्रोहो, बारण और घाल—

पारस्परिक असहमति और धन-सम्पत्ति के झगडो को निपटाने के भी लोगो ने सरल साधन अपनाए हुये थे। छोटी-छोटी बातो के लिये राजा या ठाकुर तक पहुचना प्रत्येक व्यक्ति के लिये इतना आसान नही था। पर झगडे और कलह तो जीवन के अभिन्न अग थे। सबल निर्बल को दबाने का प्रयत्न करता। बलपूर्वक दूसरे की सम्पत्ति पर किसी न किसी ढग से अधिकार करने की प्रवृति सब जगह और सब युगो मे रही है। इन साधारण से झगडो के समाधान के लिये राज-सत्ता की न्याय-सुविधा तत्काल और स्थानीय रूप से सुलभ नही रहती थी। पर लोगो ने युग-धर्म की सादगी और सच्चाई के अनुरूप राज-सत्ता की दुहाई देकर न्याय प्राप्त करने का तरीका ढूंढा हुआ था। यदि किसी सबल ने निर्बल को पीड़ित किया, उसके खेत, खलियान, घासनी, पेड अथवा किसी अन्य वस्तु पर अधिकार कर लिया हो और बहुत समझाने-बुझाने और विनम्र प्रार्थना करने पर न मानता हो तो ऐसी अवस्था मे पीडित व्यक्ति राज-सत्ता की दुहाई देकर पीडा देने वाले दमनकारी

यह कह कर प्रतिबन्धित करता था कि यदि तुमने अमुक अनुचित कार्य किया तो तो राजा की सौगन्ध है। देवता का नाम लेकर भी यह बन्धन लगाया जा ता था। यह पीड़ित व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करता था कि वह राजा की थ से अथवा देवता की शपथ से आततायी को प्रतिबन्धित करे। इस प्रकार के न को 'राजा की द्रोही' अथवा 'देवता की द्रोही' कहते थे। द्रोही का आशय थ से है। पर ऐसा लगता है कि इस वाक्यांश का वास्तविक अर्थ यह है कि द अन्यायी व्यक्ति ने अमुक काम किया तो वह राजा अथवा देवता के प्रति 'द्रोह', द्रोह समझा जायेगा ऐसी ध्वनि इसमें प्रतीत होती है। 'द्रोही' के स्थान पर दो य शब्द भी प्रयुक्त होते थे—राजा का 'वारण' या 'पाल' तुम्हारे ऊपर हो दि तुमने वर्जित कार्य किया। इन शब्दों से भी विरोधी को प्रतिबन्धित किया । सकता था। आशय और प्रभाव दोनों का एक जैसा था। वारण' का अर्थ शक्ति रोकना हो और 'पाल' देव शक्ति के आह्वान का साधन हो। यह प्रतिबंध द्रोही', 'पाल' और 'वारण' कहकर विरोधी पर लगाया जाता था। इसके उपरान्त ह बंध जैसा जाता था और अन्याय की स्थिति तत्काल समाप्त हो जाती थी।

इस प्रकार पुरातन समाज में राज-शक्ति और देव शक्ति आवश्यक रूप से दा उसमें विद्यमान रहती थी और उसके आह्वान मात्र से अन्याय को रोका जा सकता था। यह तत्कालीन समाज की सरलता और परम्पराओं के प्रति अगाध आस्था के कारण सम्भव था। राज तन्त्र तब इतना जटिल नहीं था, परन्तु समाज में सबल निर्बल को सताता था—मत्स्य न्याय की कमी नहीं थी। पर उनको नियन्त्रित करने के लिये ये सरल साधन सशक्त थे। यदि कोई निरर्थक किसी को इन शपथों से प्रतिबन्धित करता था, तो उस पर अभियोग चलता था और ऐसे व्यक्ति को दण्डित किया जाता था। इसमें जुर्माना के अलावा देवता को बलि देना भी शामिल था। कई राज्यों में इस प्रकार के बंधित व्यक्तियों को शपथ मुक्त करने का अधिकार ठाकुर या राजा को ही होता था। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में जुब्बल के राजा पदमचन्द ने जब अपने राज्य में आधुनिक अदालतों की स्थापना की तो किसी को 'वारण' 'द्रोही' और 'पाल' से मुक्त करने का अधिकार केवल राजा को था। इसके सम्बन्ध में याचिका किसी अन्य अदालत में नहीं दी जा सकती थी।

आत्म दाह द्वारा विरोध प्रदर्शन—

अन्याय से संतप्त व्यक्ति कई बार इससे छुटकारा पाने के लिए आत्म-दहन भी करते थे। कुल्लू के इतिहास में सोलहवीं सदी के राजा जगतसिंह के राज्य-काल की आत्म-दाह की प्रसिद्ध घटना है। उस समय कुल्लू की पार्वती घाटी में एक सम्पन्न ब्राह्मण रहता था। कहते हैं कि उसके पास कुछ मूल्यवान सुन्दर रत्न और हीरे थे। [illegible] महाराजा रणजीत सिंह ने भी तो [illegible] हीरा हस्तगत किया था। [illegible] एक बार राजा

मनिकर्ण तीर्थ मे स्नान करने के लिये पार्वती घाटी मे गया और ब्राह्मण से पुन रत्न मागे। ब्राह्मण ने जब छुटकारा पाने का कोई मार्ग न देखा तो राजा के तीर्थ-स्नान से वापिस आने के समय देने का वचन दिया। पर राजा जब ब्राह्मण के घर के पास वापिस पहुचा तो ब्राह्मण ने अपने घर को आग लगा दी और सपरिवार उसमे जल कर मर गया। यह अत्यन्त भयावह घटना थी, राजा पर ब्रह्म-हत्या का पाप लग गया था। शास्त्रो के अनुसार ब्रह्म-हत्या से बडा कोई पाप नही होता है। सब पापों का प्रायश्चित है, पर ब्रह्म-हत्या का कोई प्रायश्चित नही है। ऐसे पापी को घोर नरक की यातना सहना ही शेष रह जाती है। किंवदन्ति है कि उसके बाद राजा न खाना खा सका और नाही पानी पी सका क्योंकि ब्रह्म-हत्या के कारण उसका भोजन व पानी रक्त मय हो जाता था। किसी विद्वान ब्राह्मण ने बताया कि यदि अयोध्या से भगवान रघुनाथ की मूर्ति लाई जाय और कुल्लू का राज्य भगवान राम को समर्पित किया जाय तो राजा ब्रह्म-हत्या के पाप से मुक्त हो सकता है। ऐसा ही किया गया और तत्पश्चात् कुल्लू के राजा रघुनाथ जी के प्रतिनिधि के रूप मे शासन चलाते रहे। सन १८३९ में कुल्लू राज्य का पूर्णत रणजीत सिंह के राज्य में विलय कर दिया गया। सत्रहवी सदी से कुल्लू-दशहरे की परम्परा चली। कुल्लू क्षेत्र के सभी देवी-देवता दशहरे पर आकर रघुनाथ जी के प्रति सम्मान व्यक्त करते हैं। रघुनाथ जी केवल मनुष्यो के शासक नही हैं बल्कि देवी-देवता भी उनके अनुशासन और छत्र-छाया में रहते हैं। ये देवी-देवता कुछ तो पुराने बलशाली लोगो की प्रेतात्माए हैं और कुछ पहाडो, नदियो, कन्दराओ, जलाशयो आदि मे बसने वाली अदृश्य शक्तियो के प्रतीक हैं। वर्ष मे एक बार सब को प्रथा के अनुसार रघुनाथ जी के दरबार मे अनिवार्यत आना पडता था और कुछ-कुछ अभी तक आते हैं।

विरोध-प्रदर्शन के लिये आत्मदाह करना एक असाधारण घटना थी। पीडित व्यक्ति का सन्ताप जब चरम सीमा म पहुच जाता होगा, तभी वह यह भयावह पग उठाता होगा। पर इसमे सन्देह नही कि ऐसी परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आई थी। इस विरोध-प्रदर्शन मे आत्म-क्लेश, आत्मवेदना और आत्म-पीडा का तत्व अधिक होता था और प्रतिशोध, पर-पीडा और हिंसा की भावना कम होती थी। यह भारत की पुरानी सास्कृतिक परम्परा की देन थी जिसमे आत्म वेदना मे पर-वेदना को मिटाने की भावना निहित होती थी। गाधी जी ने इसी परम्परा को आधुनिक युग में अहिंसा और सत्याग्रह के द्वारा पुनः प्रतिपादित किया।

विरोध-प्रदर्शन के लिये आत्म-दाह की प्रथा का सकेत बिलासपुर राज्य मे भी मिलता है। राजा अमरचन्द के राज्य काल मे गेहडवी के ब्राह्मणो मे असन्तोष इसलिये फैला था कि राज्य के कुछ नि सन्तान मरने वाले ब्राह्मण परिवारो की जमीन राजा अपने अधिकार मे ले रहा था। कदाचित् ऐसे परिवारो के निकटतम उत्तराधिकारी राजा के इस कार्य को अनुचित समझते हो। इस असतोष को भडकाने मे राज परिवार के मिया काहनसिंह का भी हाथ था। गेहडवी के अतिरिक्त पन्तेडा और लुहाणा गाव के ब्राह्मणो ने भी राज्य द्वारा ऐसे अधिग्रहण के विरुद्ध अपना

रोष प्रकट किया। विरोध का ढंग इस प्रकार होता था। ब्राह्मण परिवार का एक व्यक्ति गाँव के बाहर घास-फूस की एक झोपडी बनाता और उसमें अपनी एक गाय, एक कुत्ता और एक बिल्ली के साथ नौ महीने तक वास करता। इसको 'जुग्गा' वास कहते थे। यदि इस अवधि में राजा उसकी माग पूरी कर लेता तो वह जुग्गा छोड़ कर अपने घर चला जाता अन्यथा नौ महीने की समाप्ति पर वह झोपडी को आग लगाकर तीनों पशुओं के साथ आत्म-दाह कर लेता। इन चार प्राणियों की हत्या का पाप राजा को लगता—ऐसी धारणा होगी। गो-हत्या, ब्रह्म-हत्या से बढ कर और क्या जघन्य पाप हो सकता था? इसी में समाप्ति नही थी। एक ब्राह्मण के आत्म-दाह के बाद दूसरा उसका स्थान ग्रहण करता और यह क्रम तथा-कथित अन्याय की समाप्ति तक चलता। पर जब ऐसा नही हुआ, उस समय तक बिलासपुर राज्य में आधुनिक व्यवस्था कायम हो चुकी थी। उसको समझाने-बुझाने अधिकारी गये और न मानने पर उसको गिरफ्तार कर लिया गया। मियाँ काहनसिंह भी पकडा गया और उस पर दस हजार रुपये का भारी जुर्माना लगा।

दिल्ली में सुलतानों के राज्य-काल में भी ब्राह्मणों के द्वारा जजिया कर के विरुद्ध सुलतान के महल के सामने आमरण अन्न-जल व्रत की धमकी का उल्लेख मिलता है। हिन्दुओं पर सुलतानों के राज्य के आरम्भ में ही जजिया कर लग गया था। पर ब्राह्मण इससे मुक्त थे। फिरोजशाह ने ब्राह्मणों पर भी यह कर लगा दिया। फलत. दिल्ली के ब्राह्मणों ने सुलतान को उक्त धमकी दी। सुलतान को यह धमकी नि सदेह हास्यापद और स्वागत योग्य लगी होगी। उसके महल की ड्योढी पर एक विशाल चबूतरे पर जल्लाद नगी तलवार लिये सदा तैनात रहते थे और प्रति दिन कुछ न कुछ विद्रोहियों और अपराधियों के सिर राजाज्ञा से काटे जाते थे और वे तीन दिन तक आम जनता को आतङ्कित करने के लिये वहीं पर प्रदर्शित किये जाते थे। ऐसे वातावरण में ब्राह्मणों के आत्म-पीडन का क्या प्रभाव पडता?

मध्य कालीन युग में और उसके परवर्ती समय में पिछली शताब्दी तक व्यक्तिगत-स्तर पर कुछ साधु और ढोंगी ब्राह्मण भोली-भाली, धर्म-भीरु और अन्ध-विश्वासी जनता से धन ऐंठने के लिये उनको अपना कोप-भाजन बनाते थे। ये तथाकथित साधु और ब्राह्मण वाञ्छित दान-दक्षिणा न मिलने पर शाप देने का दम भरते थे। वे अपना रोष प्रकट करने के लिये कई बार अपना रक्त कोप-भाजक के मकान पर छिडकते थे। यह अनिष्ट कारक अपशकुन समझा जाता था। धर्म-भीरु और अन्ध-विश्वासी लोग इससे भय-भीत हो जाते थे। इस प्रकार के अभिशाप और अपशकुन से मुक्त होने के लिये पूजा-उपचार और प्रायश्चित करना पडता था। जुब्बल राज्य में ऐसे लोगों को दण्डित करने का अधिकार केवल राजा को था और इन ढोंगियों को कड़ी सजा दी जाती थी। ×××

समाप्त

सन्दर्भ–ग्रन्थ

1 Hutchison And Vogel History of Punjab Hill States
2 ndia (1971-79)
3
4
5
6 Simla Hill state Gazetteer
7 Chamba Gazetteer
8 Sirmur Gazetteer
9 Tehri Garhwal Gazetteer
10 J B Fraser Himala Mountain (1840)
11 Travels of W Moorcrofit
12 E T Atkinson : Gazetteer of North Western Districts
13 M S Randhawa Travels in Western Himalayas
14 Bakshish Singh Nazzar Punjab Under Great Mughals
15 Bikaramjet Hasrat . Anglo Sikh Relations
16 R D Regmi . Modern Nepal
17 Ludwing Fisher : Rise of the House of Gorkha
18 Margaret Fisher Himalayan Battle Ground
19 B D Senwal Nepal And East India Company
20 John Pemble Invasion of Nepal
21 Marco Palis Peaks And Lamas
22 Ema Robert Hindustan
23 Baron Chales Hegal Kashmir And Punjab
34 Indian Council of cultural Relations Studies in Asian History
25
26 In Kashmir
27
28
29 H E Richardson Tibet And its History
30 Gueseppe Tucci Tibet Land of snow
31 Sir Charles Bell Tibet Past And Present
32 राहुल सांकृत्यायन मध्य एशिया का इतिहास
33 रघुनाथ सिंह कल्हण कृत राजतरंगिणी की टीका
34 विशाखादत्त . मुद्राराक्षस
35 भक्तदर्शन . गढवाल की दिवंगत विभूतियाँ
36 डा० बन्सीराम किन्नर लोक साहित्य
37 V A Smith Oxford History of India
38 R C Majumdar An Advanced History of India Part I
39 Bharatiya Vidya Bhawan History And Culture of Indian People Vol I
40 L Petech Tibetan Ladakhi war Indian Historical Journal Vol X X III 3 (1947)
41 गोपाल शास्त्री हिमाचल प्रशस्ति राजा ससारचन्द

शुद्धि-पत्र

	पृष्ट संख्या	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
चित्र के नीचे	२६	रोहड़ के	रोहड़ की
१वीं पक्ति	४७	सम्वेदनशीलता	समवेदनशीलता
तीसरी पक्ति	४६	धामो	धामी
अन्त से दसवी पक्ति	५१	वृद्धकाय	वृहद्काय
अन्त से दूसरी पंक्ति	५१.	आधीनता	अधीनता
अंतिम पक्ति	५१.	आधीनता	अधीनता
१६वी पक्ति	५६.	फोटा	पाटा
पैरा २, चौथी पक्ति	६३.	पारवर्ती	पार्वती
१३वी पक्ति	६४.	विम्यूर क्राफ्ट	मूरक्राफ्ट
१०वी पक्ति	६५	रणजीतसिंह	अजीतसिंह
१३वी पक्ति	६५.	पारवर्ती	पार्वती
पैरा २, ८वी पक्ति	८१.	काणा	फाड़ा
पैरा २, ६ठी पक्ति	१००.	समक्ष	समक्ष
अन्त से ५वी पक्ति	११६.	बी भीभत्स	बीभत्स
अन्त से १३वी पक्ति	१२८.	रेशम	पशम
८वी पक्ति	१३२.	कपण्ड	कमोड
पैरा २, पहली पक्ति	१३७.	१८८५	१८१५
पैरा २, दूसरी पक्ति	१४२.	रेशम	पशम
१८वी पक्ति	१५२.	संघा	से धार
दूसरी पक्ति	१५५.	पट्ट	पट्ट
६ठी पक्ति	१५६	घुंघरियो को (Foot Note)	घुंघरिया न

	पृ० सं०	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
दूसरी पंक्ति		स्त्रो	स्त्रोत
५वीं पंक्ति	१६०.	१९२०	१८२०
दूसरा पैरा ११वीं पंक्ति	१६८	लॉर्ड ने	लार्डमेय ने
अन्त से ७वीं पंक्ति	१७५	अश्लीलतापन	अश्लीलता
पहली पंक्ति	१८७.	सम्वेदनशील	समवेदनशील
दूसरी पंक्ति	१९५.	क्षत्र-फल	क्षेत्रफल
तीसरी पंक्ति	१९६.	ग्यारह सौ	ग्यारह हजार
पैरा २, दूसरी पंक्ति	१९७.	१६६७-८२	१६१७-८२
पैरा २ १३वीं पंक्ति	२००.	अधिशित	प्रशिक्षित
पैरा २, १५ वीं पंक्ति	२०१	अधिकार	अधिकारी
२वीं पंक्ति	२०४	मधुर	मधर